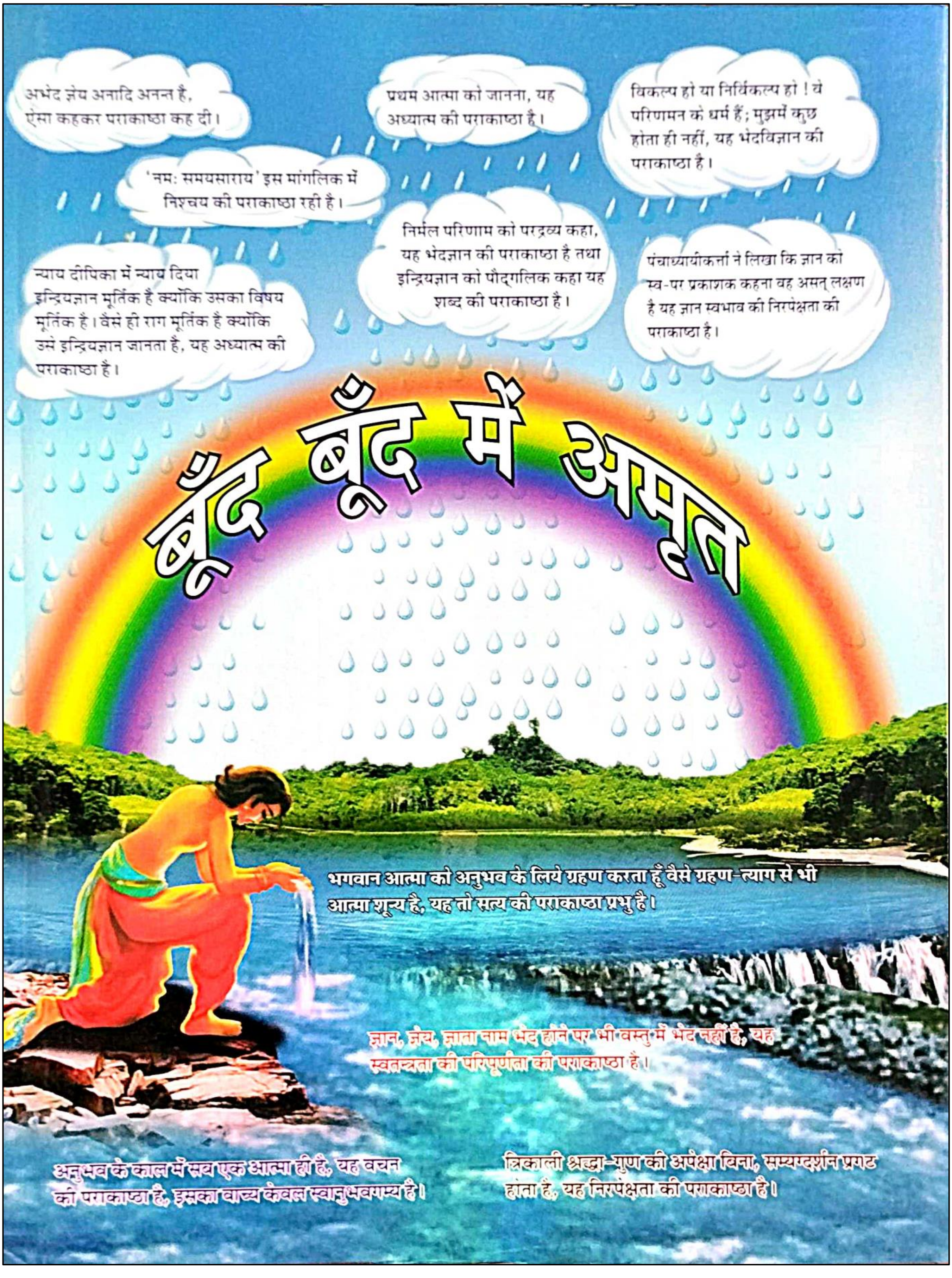

अभेद ज्ञेय अनादि अनन्त है, ऐसा कहकर पराकाष्ठा कह दी।
प्रथम आत्मा को जानना, यह अध्यात्म की पराकाष्ठा है।
विकल्प हो या निर्विकल्प हो ! ये परिणमन के धर्म हैं; मुझमें कुछ होता ही नहीं, यह भेदविज्ञान की पराकाष्ठा है।
'नमः समयसाराय' इस मांगलिक में निश्चय की पराकाष्ठा रही है।
निर्मल परिणाम को परद्रव्य कहा, यह भेदज्ञान की पराकाष्ठा है तथा इन्द्रियज्ञान को पौद्गलिक कहा यह शब्द की पराकाष्ठा है।
न्याय दीपिका में न्याय दिया इन्द्रियज्ञान मूर्तिक है क्योंकि उसका विषय मूर्तिक है। वैसे ही राग मूर्तिक है क्योंकि उसे इन्द्रियज्ञान जानता है, यह अध्यात्म की पराकाष्ठा है।
पंचाध्यायीकर्त्ता ने लिखा कि ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक कहना वह असत् लक्षण है यह ज्ञान स्वभाव की निरपेक्षता की पराकाष्ठा है।
बूँद बूँद में अमृत
भगवान आत्मा को अनुभव के लिये ग्रहण करता हूँ वैसे ग्रहण-त्याग से भी आत्मा शून्य है, यह तो सत्य की पराकाष्ठा प्रभु है।
ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता नाम भेद होने पर भी वस्तु में भेद नहीं है, यह स्वतन्त्रता की परिपूर्णता की पराकाष्ठा है।
अनुभव के काल में सब एक आत्मा ही है, यह वचन की पराकाष्ठा है, इसका वाच्य केवल स्वानुभवगम्य है।
त्रिकाली श्रद्धा-गुण की अपेक्षा बिना, सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, यह निरपेक्षता की पराकाष्ठा है।

श्री पंच परमेष्ठी नमः
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

कलश टीका, श्लोक ३९, अजीव अधिकार में भेदज्ञान की पराकाष्ठा कही है
प्रथम 'एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्' ऐसा मानो।
क्योंकि कथंचित् का जन्म सर्वथापूर्वक ही होता है।

बूँद बूँद में अमृत

अनन्त उपकारी अध्यात्ममूर्ति पूज्य कहान गुरुदेव के अनन्य शिष्य रत्न; शुद्धात्मभाव से परिणत, शुद्धात्मा का स्वरूप और शुद्धात्मा के अनुभव की विधि बतलानेवाले पूज्य 'भाईश्री' लालचन्दभाई के परमामृतमय तत्त्वबिन्दु

संकलन और सम्पादन :
बाल ब्रह्मचारिणी शोभनाबेन जे. शाह (छेड़ा), राजकोट

हिन्दी अनुवाद :
श्रीमती धनलक्ष्मी चन्द्रकान्त गाँधी, मुम्बई

प्रकाशक और प्राप्तिस्थान :
श्री कुन्दकुन्द कहानामृत प्रभावना मन्दिर ट्रस्ट
'स्वीट होम' जागनाथ प्लोट, शेरी नं. -६
जिमखाना रोड, राजकोट-३६०००१ (सौराष्ट्र)

कहान संवत ३०२ | वीर संवत ३०२ | विक्रम संवत २०५८ | ई.स. २०१२

प्रकाशन :
पू. 'भाईश्री' लालचन्दभाई मोदी के १०३ वें जन्मदिन के अवसर पर
तारीख : ३१.५.२०१२, जेठ सुद - ९

प्रथम आवृत्ति - १००० | लागत मूल्य - १२०/- | मूल्य - स्वाध्याय

'बूँद बूँद में अमृत' के प्राप्ति स्थान

राजकोट	:	श्री कुन्दकुन्द कहानामृत प्रभावना मन्दिर ट्रस्ट, 'स्वीट होम', जागनाथ प्लोट, शेरी नं. ६, जिमखाना रोड, राजकोट- ३६०००१
राजकोट	:	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, ५, पंचनाथ प्लोट, श्री कानजीस्वामी मार्ग, राजकोट- ३६०००१. फोन : २२३१०७३
मुम्बई	:	श्री शान्तिभाई सी. झवेरी ८१, निलाम्बर, ३७, पेडर रोड, मुम्बई - ४०००२६ फोन : २३५१६६३६/२३५२४२८२
थाणा	:	श्री चीनूभाई बालचन्दभाई शाह वर्षा सोसायटी, संगीता बिल्डिंग, बीजे माणे, वन्दना सोसायटी के सामने, हाई-वे ९ पाडा, थाणा (वेस्ट) फोन : २५४०७०७८, मोबा : ९३२३०४१९४४
कलकत्ता	:	श्री प्रकाशभाई शाह २३/१, बी. जस्टीस द्वारकानाथ रोड, खालसा स्कूल के सामने, भवानीपुर, कलकत्ता – २०, फोन : ०३३-२४८६८५१८
बोरीवली	:	श्री भरतभाई सी. शाह ९०५/९०६, योगी रेसीडेन्सी, ऐकसर रोड, योगीनगर, बोरीवली (वेस्ट) मुम्बई – ९२
सोनगढ़	:	डॉ. माधुरीबेन एस. नंदु 'ध्रुवधाम', राजकोट- भावनगर मुख्य रोड, मु. पो. - सोनगढ़, जिला - भावनगर। फोन : ०२८४६/२४४१३२
अहमदाबाद	:	श्री राजेश चन्द्रकान्त गाँधी कृष्णा अपार्टमेन्ट, ६० आजाद सोसाइटी, सहजानन्द कालेज के पीछे, अम्बावाडी, अहमदाबाद - ३८००१५; फोन : ९३२८०७०७१०

लेजर टाईप सैटिंग :
विवेक कम्प्यूटर्स
अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स,
जयपुर

प्रकाशकीय निवेदन

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

श्री वीरनाथ और श्री सीमन्धरनाथ का साक्षात्कार करानेवाले, जैनशासन के मूल स्तम्भ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए, जिन्होंने सदेह विदेहक्षेत्र की यात्रा करके केवली और श्रुतकेवली की दिव्यप्रसादी को ज्ञान मंजूषा में अवधारण करके, उसे भरतक्षेत्र में लाकर पंच परमागमों में प्रवाहित करके शुद्धात्मा को जयवन्त प्रवर्तमान किया।

उन अध्यात्म सम्राट शासन के सान्निध्य में अनेक धर्मात्मा हुए। पंचम काल में अध्यात्म की अलख जगानेवाले शासन स्थापक श्री कहान गुरुवर हुए। दिव्यध्वनि के नाद के साथ आत्मानुभव का सुर मिलाकर श्री कुन्दकुन्द प्रभु के शासन में गौरववन्त पद सुशोभित किया।

भरतखण्ड भाग्यहीन नहीं था; अत: इस कलिकाल में अनासक्त आत्मयोग की प्रभा प्रगट हुई। इस ज्ञानरश्मि की प्राचीरें देश-विदेश में धर्मध्वजा की पताका फहराती, सत्य को उद्घाटित करती, मिथ्या मान्यताओं पर विजय प्राप्त करती प्रगतिमान हुई। भव्य जीवों की भव्यता का परिपाक हुआ। दशो दिशाओं से सातिशय पुण्य के मेरु प्रस्फुटित हुए और भावश्रुतज्ञान गंगा में प्रक्षालित होने के लिये झुण्ड के झुण्ड जीव, सत्यमार्ग पर गतिमान हुए।

चैतन्य की चमत्कृति कहो या अमी रस की मधुरता कहो...! उस वीतरागी धारा ने आसन्न भव्यजीवों के हृदय में अविचल स्थिरता प्राप्त करके उन्हें आनन्दरस का आचमन कराया। उस आनन्दरस के रसिया, धर्म की धधकती पेढ़ी के उत्तराधिकारी पूज्य 'भाईश्री' लालचन्दभाई हुए, जो पुरुषार्थ की प्रेरणा का पीयूष पिलाते हुए मार्ग की प्रभावना करते रहे। उनकी विलक्षणता मूल में प्रहार करने की थी। पूज्य गुरुदेवश्री के विशाल प्रवचन समुद्र को संक्षेपने की आपश्री में पराकाष्ठा थी। आपश्री की प्रतिपादन शैली अनोखी थी। एक घण्टे के प्रवचन में शुद्धात्मा का स्वरूप एवं उसका अनुभव - यह मूलभूत बात तो सदैव ऊर्ध्व रहती थी... और शेष अनुयोगों की सन्धि भी रहती थी। इसप्रकार प्रयोजनभूत तत्त्व की ऊर्ध्वता होने पर भी निरूपण सर्वांगी रहता था। पूज्य गुरुदेवश्री की प्रवचन गंगा में से अथवा वाङमयी जिनवाणी में से कोहीनूर के हीरे बतला- बतलाकर योग्य मुमुक्षु जीवों का ध्यान उन पर खींचते थे। जिनागम के आधार से ऐसे-ऐसे सूक्ष्मतर सिद्धांत कहते थे कि साधारण जीवों का तो कलेजा कम्पित हो उठता। सुपात्र जीवों के हृदय में आन्दोलन उठता। सर्वज्ञ की साक्षी और पूज्य गुरुदेव के मोहरछाप युक्त न्यायों के आधार से सुननेवालों का विश्वास दृढ़ कराते थे। पूज्य सोगानीजी की तरह आपकी पद्धति भी 'शीघ्रता से द्रव्यदृष्टि प्रगटे' - इस बात की प्रधानता रहती होने से प्रश्नों का उत्तर तदनुसार दिया जाता। सुननेवाले श्रोता को स्वभाव की परिधि में खड़े रखने और प्रमाण से बाहर उसके उपयोग

को न भ्रमाने देने की विशिष्ट और असाधारण प्रतिभा थी; जिसका स्मरण करते हुए आज भी हमारा मस्तक आपके चरणों में झुक जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री की तरह उनके लघुनन्दन पूज्य भाईश्री की शैली भी दृष्टिप्रधान ही रही। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव... ज्ञानी कैसे हो? - इसी बात की अग्रता रहती थी। आपश्री बारम्बार कहते कि श्रद्धापोषक ज्ञान की लाईन पर आगे बढ़ना। ज्ञान को भी जब उपादेय विषय मिलेगा, तब... ज्ञानपर्याय का निश्चय प्रगट होगा। द्रव्य का निश्चय और ज्ञानपरिणाम का निश्चय – दोनों एक समय में... प्रगटे तब सम्यग्दर्शन होता है। जिनवाणी में सर्वज्ञ भगवान कथित व्यवहार का निषेध करने का आपका स्वभाववीर्य प्रबल था। अस्ति-नास्ति अनेकान्त की मुख्यता प्रत्येक प्रवचन में खिल उठती थी।

आप कहते कि - दुर्लभ मनुष्य जीवन की सार्थकता सम्यग्दर्शन से है। समय की सरिता हाथ में से खिसक न जाए, इससे पूर्व कार्य कर लेना। इस कार्य का मंगलाचरण लक्ष्यवेध से होता है। इसलिए सर्व प्रथम जीवतत्त्व का स्वरूप समझना। पण्डित टोडरमलजी साहब ने चार वाक्य कहे हैं, वे अनुकरणीय हैं। (१) आयुष्य की अल्पता है (२) बुद्धि की मन्दता है (३) कषायों की तीव्रता है (४) विषयों की गृद्धि है... - ऐसे संयोग और उदय के मध्य उपयोग को तत्त्व चिन्तवन में लगाना चाहिए; ऐसा होने से मिथ्यात्व मन्द पड़ता है। जीव ने कषाय की मन्दता तो अनन्त बार की है, परन्तु मिथ्यात्व किस प्रकार गले - इस लाईन पर नहीं आया। मिथ्यात्व गले तो टले। इसलिए मिथ्यात्व का अभाव किस प्रकार हो! इस बात का प्रथम निर्णय करना।

पूज्य 'भाईश्री' की १०३वीं जन्मजयन्ती के सुअवसर पर 'बूँद-बूँद में अमृत' पुस्तक प्रकाशित करते हुए संस्था हर्ष का अनुभव करती है। इन अमृतमय वचनामृतों को बाल ब्रह्मचारिणी शोभनाबेन ने स्वयं के स्वाध्याय हेतु एकत्रित किया था। मुमुक्षु जीवों की यह भावना थी कि यदि ये वचनामृत, ग्रंथरूप में प्रकाशित हों तो अनेक जीवों को आत्म-कल्याण में निमित्त होंगे। इस पुस्तक का सम्पूर्ण कार्य **बाल ब्रह्मचारिणी शोभनाबेन जे. शाह** द्वारा पूर्ण हुआ है। बिखरे हुए मोतियों को पिरोकर ग्रन्थरूपी माला बनाने के लिए निस्पृहभाव से किये गये इस असाधारण सुंदर कार्य के लिये संस्था हर्षपूर्वक आभार व्यक्त करती है।

पुस्तक का हिन्दी अनुवाद कार्य श्रीमती धनलक्ष्मी चन्द्रकान्त गाँधी, मुम्बई द्वारा सम्पन्न हुआ है, तदर्थ अत्यन्त आभार व्यक्त करते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन में प्राप्त दानराशि का विवरण इसी पुस्तक में अन्यत्र साभार प्रदर्शित किया गया है।

लेजर टाईप सेटिंग के लिये विवेककुमार पाल, अलीगढ़ एवं मुद्रण कार्य के लिये दिनेश जैन, जयपुर धन्यवाद के पात्र हैं।

हमारे कुन्दकुन्द कहानामृत प्रभावना मन्दिर ट्रस्ट का यह बारहवाँ प्रकाशन है।

जिनमें प्रयोजनभूत सर्वांगी तत्त्व की स्पष्टता हुई है- ऐसे वचनामृतों का आत्मलक्षी स्वाध्याय करके, पाठकगण भेदज्ञान ज्योति को उदित करें - ऐसी मंगल भावना है।

श्री कुन्दकुन्द कहानामृत प्रभावना मन्दिर ट्रस्ट,
राजकोट

विषय सूची

(१) प्रकाशकीय निवेदन (२) अहो उपकार (३) पूज्य गुरुदेवश्री..... 'परिणाममात्र से सर्वथा भिन्न के बोल'	(४) पूज्य भाईश्री के हृदयोद्गार (५) मंगलाचरण (६) पूज्य भाईश्री के वचनामृतरूप अमृत बिन्दु

‘अहो उपकार’

"अहो उपकार जिनवरनो कुंदनो ध्वनि दिव्यनो;
जिन कुंद ध्वनि आप्यां अहो... आ गुरु कहाननो।"

स्वर्णपुरी के नील निरभ्र क्षितिज पर अध्यात्म का सूर्योदय हुआ, मोह के बादल बिखरने लगे... पैंतालीस-पैंतालीस वर्ष, तीन-तीन बार शुद्धनय की वर्षा से कण-कण में स्वतन्त्रता के मूल रोपे गये। मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? उसकी चर्चा सुनायी देने लगी। पूज्य गुरुदेवश्री की शीतल छाया में आने के लिये जीव लालायित बने। निष्कारण करुणामयी वाणी का स्पर्श होने पर सुपात्र जीव जागृत हुए। पूर्व के संस्कार और वर्तमान योग्यता का स्वकाल पकने से सम्यग्ज्ञान के दीपक प्रगट हुए। श्रीगुरु की वाणी बाँझ कैसे रहे! तीर्थंकरतुल्य कहान गुरुदेव के सान्निध्य में अनेक जीव आत्मदर्शन के मुक्ति पथ के पथिक हुए। जैनशासन के उत्तराधिकारी जागे... उपयोग को अन्तर्मुख करके; ‘आत्मा को मैंपने स्वीकार करके’ जिनशासन की ज्योति को अखण्डरूप से वर्तानेवाले पूज्य ‘भाईश्री’ लालचन्दभाई का पदार्पण हुआ। उन्होंने जीवनपर्यन्त जैनधर्म की ध्वजा लहरायी, मोक्षमार्ग को अत्यन्त शुद्ध रखा। निःशंकता और निर्भयता तो सम्यग्ज्ञानी का लक्षण है। तथा पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा कि लालचन्दभाई तो जैन समाज के मुकुट की मणि हैं।

श्री महावीरस्वामी के शासनकाल की परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव हुए। इन सन्तों के हृदय की गहरायी की थाह लेकर उसमें से रत्नावली निकालने के श्रेयाधिकारी पूज्य गुरुदेवश्री हैं। उनके स्वर्गवास के पश्चात् पूज्य ‘भाईश्री’, पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्पष्ट करके उनका सार बतलाते रहे। आत्मानुभव के लिये सरल में सरल प्रैक्टिकल समझाते थे कि- ‘यह टॉवेल ज्ञात होता है? या आत्मा ज्ञात होता है?’ पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में से उनका अर्क (सार) देना और उन पर दृष्टि को ले जाकर, सम्यक् एकान्त में कैसे आना, इत्यादि रहस्य उद्घाटित किये।

आपकी सातिशय वाणी में चमत्कार था, आपका वजन सदैव सिद्धांत बोध पर ही रहता। सम्यक् एकान्त सूचक कोहिनूर के हीरे ढूँढ़-ढूँढ़कर हमें प्रदान करते। परिणाममात्र से सर्वथा भिन्न के ऊपर जोर था। परिणाम से सहित द्रव्य को दृष्टि का उपादेय विषय माननेवाले पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति की व्यवहार श्रद्धा में भी नहीं आये हैं - ऐसा आपश्री बारम्बार कहते।

शास्त्रपाठी उघाड़रूप इंद्रियज्ञान को ही ज्ञान मान रहे थे... उस समय ‘इन्द्रियज्ञान...ज्ञान ही नहीं है’ - ऐसी घोषणा करके उसे ग्रन्थरूप से प्रकाशित किया। इन्द्रियज्ञान को मोह की उत्पत्ति का मूल बताया। आचार्यदेव के, ज्ञानियों के आधार से जीवों की श्रद्धा बलवन्त होती है, ऐसा आपश्री फरमाते थे।

स्वपरप्रकाशक विषय के सम्बन्ध में अलग-अलग अभिप्राय चलने लगे। स्व-परप्रकाशक स्वभाव का निषेध नहीं है, परन्तु उसके लक्ष का निषेध कराकर... उपादेय ज्ञेय एक ही है, उसके ऊपर ज्ञान का मण्डन कराया। तथा स्वपरप्रकाशक को चार प्रकार से निरूपण करके प्रत्येक विवक्षा को शास्त्राधार से सिद्ध किया। इसप्रकार स्वपरप्रकाशक शब्द एक, परन्तु उसके वाच्य की, उसके तल की थाह प्राप्त करायी। व्यवहार का प्रबल निषेध कराने की आपकी उग्र और तीक्ष्ण शैली थी। कोई जीव प्रथम से ही नय के पक्ष में, स्याद्वाद के पक्ष में न चढ़े इसके लिये खास लालबत्ती करते थे। पदार्थ में सामान्य विशेष, ध्येय-ज्ञेय के विभाग करके समझाते और श्रोताओं को शीघ्रता से मर्म ख्याल में आ जाता। श्रद्धा का और ज्ञान का संवाद करके दोनों का स्वभाव चरमसीमा तक स्पष्ट करते, और उसे सुनकर हमारी प्रज्ञा नाच उठती। द्रव्य-परिणाम का संवाद करके कहते कि- परिणाम, ध्रुव को प्रसिद्ध करते हुए व्यय होता है। पर्याय कहती है... मैं उत्पादरूप उठूँगी...और तुझे प्रसिद्ध करके ही व्यय होऊँगी। जिसे यह ख्याल आता है कि पर्याय, ध्रुव को प्रसिद्ध करती हुई ही व्यय होती है, उसकी दृष्टि ध्रुवदल पर चली जाएगी। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि, परिणाममात्र की उपेक्षा कराती है। उपयोग लक्षण की निरपेक्षता की व्याख्या भी आपने सर्वोत्कृष्ट की है। बहुत-बहुत गहन बातें ऐसी गूढ़ थी कि जिसके लिये आप कहते कि- आचार्यदेव के साथ-साथ चलना। हमारी पद्धति स्वतन्त्रपने विचारने की है। गाथा को स्पर्श करके भाव निकलने चाहिए। पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा कथित पराकाष्ठाओं को बारम्बार प्रतिपादित करके मुमुक्षु समाज का ध्यान उनकी ओर खींचते थे। अधिक क्या कहना...! पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन समुद्र को संक्षेपने की आपमें उत्कृष्ट पराकाष्ठा थी। पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित पराकाष्ठाओं को, साथ ही आपश्री ने भी अनेक पराकाष्ठायें प्रकाशित की हैं। परिणाम मेरे किये बिना हुआ करते हैं, परिणाम मेरे जाने बिना जनाया करते हैं; ये दोनों सूत्र, अकर्ता की पराकाष्ठा को पार कर गये हैं। ऐसी पराकाष्ठा के प्रकाश द्वारा पराकाष्ठास्वरूप भगवान आत्मा के प्रकाश में प्रकाशित होवें- ऐसी मंगल भावनापूर्वक.....

संकलन कर्ता

बालब्रह्मचारिणी शोभनाबेन जे. शाह (छेडा)

ब्लॉक नं. 203, गुरु प्रताप ब्रह्मचर्य आश्रम, सोनगढ़ -३६४२५०

मोबाईल : ९७२४७२९८३३

श्री समयसारजी - स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृतने पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस - भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छेनिश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

प्रथम तू आत्मा को जान

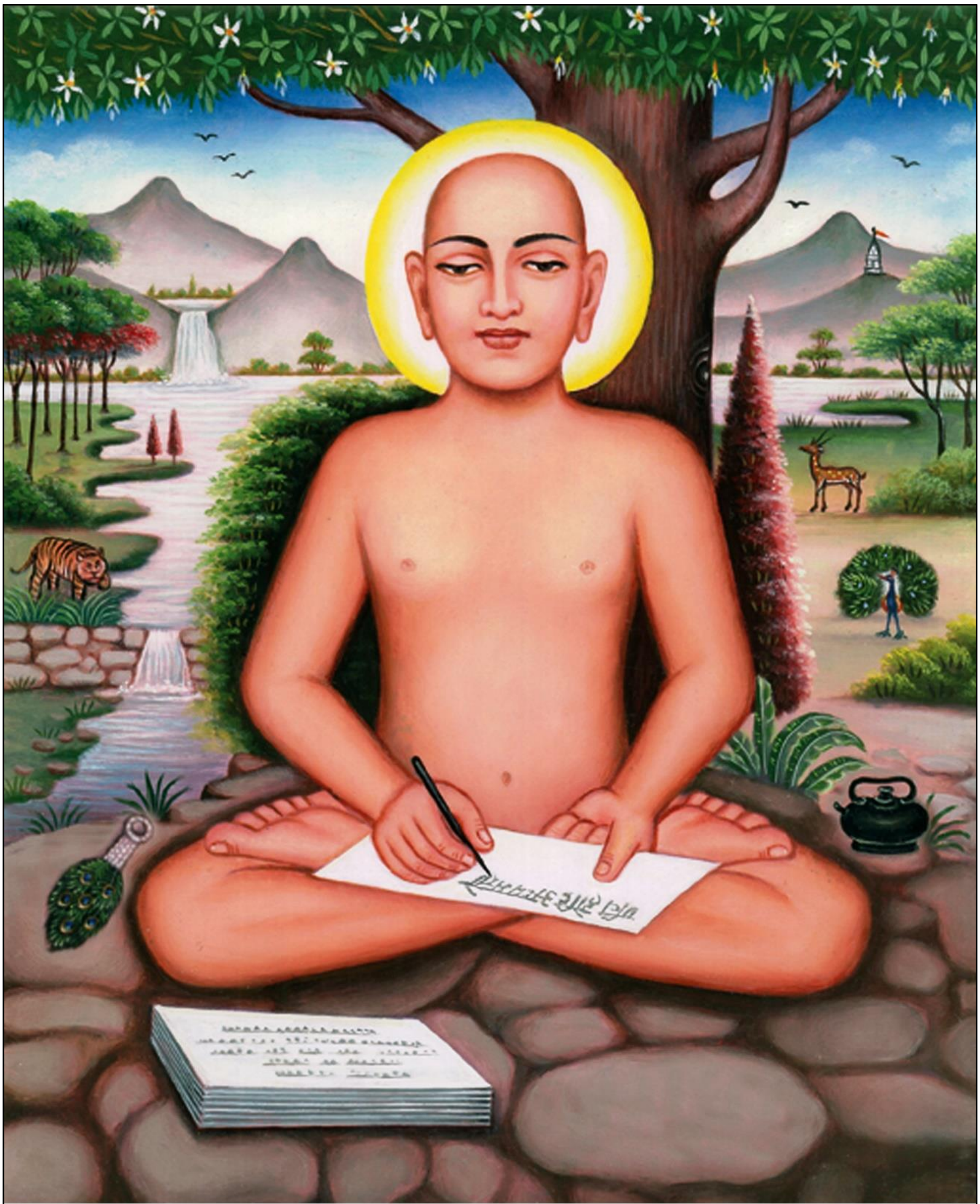

ભગવાનશ્રી કુંદકુંદાચાર્ય દેવ

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर - वीर कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा द्दष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्धन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत्, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
राग-द्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

क्रमबद्धपर्याय में महा-रहस्य है क्योंकि उसमें जैनदर्शन का रहस्य है
जैनदर्शन अकर्तावादी है और उसमें अकर्ता की पराकाष्ठा का स्वरूप है

आत्मा अकर्ता है, यह जैनदर्शन की पराकाष्ठा है - ऐसा दर्शानेवाले तथा परिणाम का कर्ता परिणाम है - ऐसी कर्ता-कर्म की पराकाष्ठा प्रकाशित करनेवाले अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अर्पण

अध्यात्म शिरोमणि कृपालु कहान गुरुदेव ने अनेक-अनेक पराकाष्ठायें बतलाकर वचन की लक्ष्मण रेखा खींची है। श्रुत की लब्धि द्वारा रत्नावली बरसाकर, भरतखण्ड को अनमोल भेंट प्रदान की है। उत्पाद सत्, व्यय सत्, ध्रुव सत्, वस्तु के सत्पने की पराकाष्ठा कहकर कर्ताबुद्धि का विध्वंस कराया है। पर्याय का कर्ता पर्याय है; इसमें परिणाम के कर्ता-कर्म की पराकाष्ठा बतलाकर, द्रव्यस्वभाव को अकर्ता सुरक्षित रखा है। ज्ञान तो ज्ञान को प्रसिद्ध करता ही है परन्तु ज्ञेय भी ज्ञान को ही प्रसिद्ध करता है। यह सत् की पराकाष्ठा पुकारकर ज्ञान की घोषणा की है। आपके धर्म सुपुत्र लालचन्दभाई के श्रीमुख से पराकाष्ठा के मोती खिरे हैं। जैसे दो द्रव्यों के बीच व्यवहार नहीं होता, वैसे ही स्वजाति और विजाति (परिणाम) के बीच व्यवहार नहीं होता। वे परिणाम, अभेद का भेद नहीं हैं- यह अध्यात्म की पराकाष्ठा है। द्रव्यदृष्टि की उग्र धारा कहती है कि दुःख से पुद्गल अनन्य है, उसे अध्यात्म की पराकाष्ठा कहकर परिणाम में स्वामित्वबुद्धि छुड़ा दी है। मैं जाननेवाला हूँ, करनेवाला नहीं; जाननेवाला जानने में आता है, वास्तव में पर जानने में नहीं आता - इस सूत्र में बारह अंग को संक्षेपित किया, यह संक्षेपन की (वचन) की पराकाष्ठा है।

हे कहानलाल! आपने पराकाष्ठा बताकर हम पर अनुपम उपकार किया है। आपके अमृतमय वचनामृतों को पुस्तकाकार प्रकाशित करके ग्रन्थरूप मौक्तिक माला को आपके हस्तयुगल में समर्पित करती हूँ।

- संकलनकर्ता

स्व को जानना छोड़कर,
पर को जानना, यह भावबन्ध की पराकाष्ठा है।

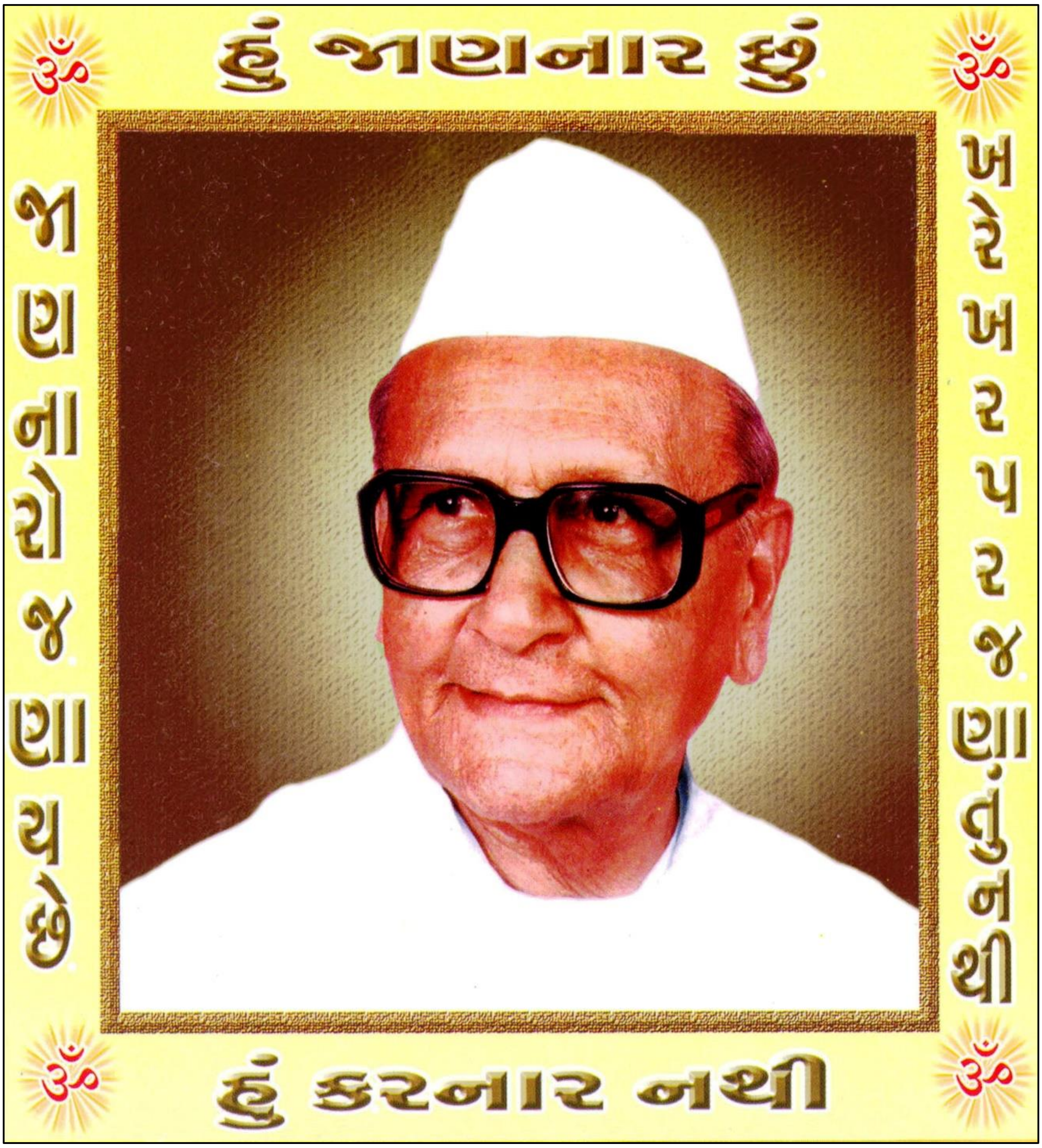

आत्मा अकर्ता है, यह जैनदर्शन की पराकाष्ठा है और वही जानने में आ रहा है, यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। विधि सम्बन्धी सरलता की पराकाष्ठा समयसार गाथा १७-१८ में बतायी है।

(श्री कहानगुरु के लघुनन्दन स्वानुभव विभूषित पूज्य भाईश्री लालचन्दभाई)

पूज्य भाईश्री की छत्रछाया में हुए प्रकाशन

१. इन्द्रियज्ञान, ज्ञान नहीं
२. द्रव्यस्वभाव - पर्यायस्वभाव
३. भेदज्ञान भजनावली

कुन्दकुन्द कहानामृत स्वाध्याय हॉल के प्रकाशन

१. ज्ञान से ज्ञान का भेदज्ञान	७. मंगलज्ञान दर्पण, भाग-१
२. द्रव्यस्वभाव पर्यायस्वभाव की चर्चा	८. ज्ञायकस्वरूप प्रकाशन
३. जाननेवाला जानने में आता है	९. अनेकान्त अमृत
४. चैतन्य विलास	१०. ज्ञान का ज्ञानत्व
५. आत्मज्योति	११. बूँद बूँद में अमृत (गुजराती)
६. शुद्ध अन्त:तत्त्व	१२. बूँद बूँद में अमृत (हिन्दी)

पूज्य गुरुदेवश्री के मुखारविंद से प्रवाहित परमामृत

(१) वस्तु, जो नित्यानन्द प्रभु है, वह केवलज्ञान के परिणाम को भी नहीं करता। उस परिणाम ने भले ही त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का कारणरूप ग्रहण किया हो, परन्तु द्रव्य उस परिणाम को करता नहीं; परिणाम, परिणाम को करता है। अरे...! ऐसी बातें! द्रव्य से परिणाम निश्चय से **सर्वथा भिन्न** है, इस कारण (द्रव्य, परिणाम को करता नहीं।) (जो) सर्वथा भिन्न है, उसे द्रव्य क्या करे? वीतराग त्रिलोक प्रभु का मार्ग कोई अलौकिक है।

(प्रवचनसुधा, भाग - २, पृष्ठ ३४६)

(२) **प्रश्न :** पर की पर्याय को तो परद्रव्य कहते हो, परन्तु स्व की निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य क्यों कहते हो?

उत्तर : परद्रव्य के लक्ष की तरह, निर्मल पर्याय के लक्ष से भी राग उठता होने से, वास्तव में वह भी परद्रव्य ही है। द्रव्य से वह (पर्याय) **सर्वथा भिन्न** है - ऐसा जोर दिये बिना, दृष्टि का जोर द्रव्य के ऊपर नहीं जाता; इसलिए निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य, परभाव और हेय कहा है। पर्याय के ऊपर जिसका प्रेम है, उसका लक्ष परद्रव्य के ऊपर जाता है; इसलिए उसे परद्रव्य का ही प्रेम है। परम सत् स्वभाव – ऐसे द्रव्यसामान्य के ऊपर लक्ष जाना, वह अलौकिक बात है।

(पूज्य गुरुदेवश्री की रात्रि चर्चा में से, आत्मधर्म १९७८ से १९८०)

(३) **प्रश्न :** पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न कहा है न?

उत्तर : प्रमाणज्ञान से पूरे द्रव्य को देखने से, पर्याय कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है - ऐसा कहा जाता है, तो भी शुद्धनय के विषय से - त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से देखने पर **वास्तव में द्रव्य** से पर्याय **भिन्न ही है।** पर्यायार्थिकनय से देखने से पर्याय, द्रव्य से अभिन्न है। प्रयोजन की सिद्धि के लिए तो पर्याय को गौण करके, अविद्यमान ही गिनकर, त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को मुख्य करके, भूतार्थ का आश्रय कराया है।

(ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ- ४३)

(४) एक समय की पर्याय जब त्रिकाली तत्त्व को मानती है, तब उसने द्रव्य को माना - ऐसा कहा जाता है। परद्रव्य, परद्रव्य में रहकर स्वरूप की श्रद्धा करता है। हेय तत्त्व से उपादेय तत्त्व जानने में आता है। **वास्तव में द्रव्य की सत्ता भिन्न है, पर्याय की सत्ता भिन्न है।** द्रव्य को रहने के लिए पर्याय की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य बिना पर्याय है।

(नाटक समयसार, मोक्ष अधिकार, पद्य - २१)

(५) **प्रश्न :** द्रव्य और पर्याय पृथक हैं?

उत्तर : पृथक हैं।

प्रश्न : पृथक.....?

उत्तर : पृथक है।

प्रश्न : प्रदेशभेद है?

उत्तर : प्रदेशभेद है। 'अगम प्याला पियो मतवाला, चिन्ही अध्यात्मवासा।'

प्रश्न : उससे (ऐसे लेने से) क्या होता है?

उत्तर : (ऐसे लेने से) भेद हुआ, उसे सम्यग्दर्शन का ज्ञान यथार्थ हुआ। जो जिस प्रकार से है, उसे उसी प्रकार माना। अन्य प्रकार से माने कि द्रव्य, पर्याय को करता है, तो वैसी वस्तुस्थिति नहीं है।

प्रश्न : द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता ऐसे...

उत्तर : स्पर्श नहीं करता, ऐसा वस्तु का स्वरूप (है)।

प्रश्न : ऐसा मानने से मिथ्या एकान्त तो नहीं है न?

उत्तर : यह... सम्यक् एकान्त ही है, आ...हा...हा.....!

प्रश्न : कथंचित्.....!

उत्तर : वहाँ द्रव्य की पर्याय कथंचित् (कहा है) परन्तु यहाँ कथंचित् नहीं है। समयसार, गाथा ३२० में कथंचित् लिया है परन्तु वह अपेक्षा से (है)। **वरना वास्तव में तो पर्याय, द्रव्य से सर्वथा भिन्न है, और द्रव्य भी पर्याय से सर्वथा नित्य और भिन्न है।**

प्रश्न : साहब! (तब तो) दो द्रव्य हो जायेंगे। एक द्रव्य का द्रव्य और एक पर्याय का द्रव्य?

उत्तर : द्रव्य का द्रव्य नहीं। **यह तो द्रव्य और पर्याय दोनों अत्यन्त भिन्न है।**

प्रश्न : एक पर्याय का द्रव्य हो गया और एक द्रव्य का द्रव्य हो गया?

उत्तर : यह दोनों वस्तु भिन्न हैं। यहाँ तो है परन्तु न्याय ग्रन्थ में ऐसे कहा है कि धर्म और धर्मी दोनों स्वतन्त्र अपने से हैं। धर्मी ऐसे द्रव्य से धर्म अर्थात् पर्याय है ऐसा नहीं है।

प्रश्न : धर्म और धर्मी अभेद है - ऐसे भी कहते हैं।

उत्तर : नहीं, वह बाद में; अपेक्षा से कहा जाता है। दो (धर्म) स्वतन्त्र सिद्ध होने के बाद यह पर्याय, द्रव्य की है, और इस द्रव्य की यह पर्याय है, ऐसा अपेक्षा से कथन होता है।

प्रश्न : यह गलत कथन नहीं हुआ फिर....

उत्तर : यह कथन सदभूत व्यवहार का है। यह कथन तो सिर्फ पर से भिन्न बताने के लिए किया है। यह द्रव्य और यह पर्याय, और यह पर्याय इस द्रव्य की हुई ऐसा कहते हैं! क्या करें?

(पूज्य बहिनश्री के वचनामृत बोल नं. ४११, प्रवचन नं. १६९, तारीख ३-१२-७८)

(६) 'सकल कर्म का विनाश करके, जो शुद्ध चैतन्यमात्र प्रगट हुआ, उसका बहुत ही अल्प काल में **सर्वथा** आस्वाद करता है।' **'सर्वथा छोड़ता हुआ'** कथंचित् छोड़ता हुआ - ऐसे नहीं है। कोई ऐसा कहते हैं कि **जिनमार्ग में सर्वथा नहीं है** - यह एकान्त है। इस पाठ में आया **सर्वथा। स्वद्रव्य को सर्वथा स्पर्श करता है, और विकल्प को सर्वथा स्पर्श नहीं करता है।** दो बार **सर्वथा** आया। 'सर्वथा छोड़ता हुआ' पूर्णानन्द को स्पर्श करता हुआ - सर्वथा स्पर्श करता हुआ, आस्वाद करता हुआ - वेदन करता हुआ और रागादि को सर्वथा स्पर्श नहीं करता है। 'नियतः जैसा है वैसा' -- स्वद्रव्य को सर्वथा स्पर्श करता है और विकल्प को सर्वथा स्पर्श नहीं करता, उसका नाम सर्वथा छोड़ता है। कथन की शैली में क्या कहें?

(कलश टीका श्लोक नं. २४० के प्रवचन में से)

(७) **प्रश्न :** पर्याय, स्वद्रव्य को तन्मयरूप होकर जानती है या अतन्मयरूप होकर?

उत्तर : अतन्मयरूप रहकर... तन्मय होकर जानती है, उसका अर्थ यह हुआ कि पर्याय (द्रव्यस्वभाव) की ओर झुकी है - इतना।

प्रश्न : उसे तन्मय कहा है न?

उत्तर : वह कहते हैं... अपेक्षा से। राग में तन्मय थी, अर्थात् वह राग की ओर झुकी हुई थी... वह ऐसे (द्रव्यसन्मुख) हो गई, इसलिए उसे तन्मय कहते हैं। पर्याय, पर्याय में रहकर द्रव्य को जानती है। तीन काल-तीन लोक में द्रव्य और पर्याय कभी एक नहीं होते।

प्रश्न : अखण्ड सत् है न?

उत्तर : वह अखण्ड सत् कहलाता है, तो भी पर्याय, पर्याय में और द्रव्य, द्रव्य में है।

प्रश्न : वह सर्वथा है?

उत्तर : सर्वथा है। पर्याय के प्रदेश सर्वथा भिन्न हैं, और द्रव्य के प्रदेश सर्वथा भिन्न हैं।

प्रश्न : परन्तु वह अखण्ड सत् है न?

उत्तर : वह अखण्ड सत् बाद में, (पहले) तो पर्याय का विषय (ध्येय), वह अखण्ड सत् है। पर्याय की मर्यादा.... यद्यपि द्रव्य का क्षेत्र है, वही उसका क्षेत्र है... और उस क्षेत्र का अंश है, वह भिन्न है। जितने में पर्याय है, वह क्षेत्र भिन्न है; जितने में ध्रुव है, वह क्षेत्र भिन्न है।

प्रश्न : तब तो दो धर्म हो जायेंगे?

उत्तर : दो धर्म ही हैं, **दो वस्तु ही हैं। धर्म और धर्मी दो वस्तु हैं।** आप्तमीमांसा में कहा है कि धर्म और धर्मी निरपेक्ष वस्तु है। द्रव्य है, इसलिए पर्यायधर्म है – ऐसा नहीं है। धर्मी है, इसलिए धर्म है - पर्याय है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! यह तो केवलज्ञानी परमात्मा का मार्ग है। बापा! लोगों ने कभी सुना नहीं है।

(८) वास्तव में तो वह पर्याय, पर्याय में रहकर द्रव्य को जानती है, और लोकालोक को जानती है, इसलिए उस पर्याय को सर्वव्यापक कहा जाता है। वह (ज्ञान) पर्याय लोकालोक के क्षेत्र में जाती है? उसी प्रकार पर्याय, क्षेत्र से ध्रुव में जाती है – ऐसा नहीं है।

प्रश्न : पर्याय, द्रव्य में व्यापक है, इसलिए सर्वव्यापक है?

उत्तर : वह पर्याय, पर्याय में व्यापक है।

प्रश्न : द्रव्य और गुण में नहीं है?

उत्तर : दोनों के वाचक शब्द भिन्न हैं, तो दोनों के वाच्य भिन्न होंगे या नहीं? दोनों के शब्द भिन्न क्यों पड़े? जरा सूक्ष्म बात है।

प्रश्न : अपेक्षा से कहा जाता है या नहीं?

उत्तर : नहीं, इस अपेक्षा से ऐसे ही है।

प्रश्न : सर्वथा ऐसा है?

उत्तर : सर्वथा ऐसा है।

प्रश्न : यह एकान्त है?

उत्तर : यह दोनों एकान्त हैं। पर्याय, पर्याय में है; पर्याय, द्रव्य में नहीं है। जब पर से भिन्न करना हो, तब कहते हैं कि पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता, यह पंचास्तिकाय में आता है।

प्रश्न : दोनों एक हैं?

उत्तर : वह तो पर से भिन्न करने के लिए (कहा) कि - पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता, अर्थात् वह पर्याय अपने द्रव्य की है परन्तु जब दोनों में भेद करना हो, तब वे दो वस्तु हैं, एक वस्तु नहीं। प्रमाण के द्रव्य के रूप में द्रव्य और पर्याय साथ गिनते हैं, परन्तु प्रमाण, जो द्रव्य-पर्याय को जानता है, तदनुसार वह प्रमाणज्ञान है। अब द्रव्य, द्रव्य में है, वह निश्चय से है, क्योंकि ज्ञान ने द्रव्य का लक्ष तो रखा है, और तदुपरान्त पर्याय को मिलाया, इसलिए प्रमाणज्ञान हुआ।

श्रोता : नय ज्ञान का विरोध करके प्रमाण... नहीं हुआ?

उत्तर : नहीं हुआ... निश्चय को उड़ाकर प्रमाण हुआ है- ऐसा नहीं है। तब तो

(प्रमाणज्ञान के विषय में) दो नहीं रहते।

श्रोता : प्रमाण में दोनों हैं?

उत्तर : हाँ, ऐसा ही है। **प्रमाण स्वयं व्यवहार है। क्योंकि दो शामिल हुए इसलिए व्यवहार हो गया।**

श्रोता : निश्चय और व्यवहार दो (शामिल हुए)?

उत्तर : निश्चय और व्यवहार दो शामिल हुए और इसलिए वह प्रमाण, व्यवहार हो गया। वह प्रमाण स्वयं सद्भूत व्यवहार का विषय हो गया, इसलिए तो कहा कि – निश्चय(नय) पूज्य है या प्रमाण पूज्य है? प्रमाण में, द्रव्य और पर्याय दोनों साथ आते हैं। जबकि निश्चय में अकेला द्रव्य आता है, इसलिए वह निश्चय पूज्य है। प्रमाण में पर्याय का निषेध नहीं आता, इसलिए वह पूज्य नहीं है। बापू! यह तो सूक्ष्म है।

श्रोता : प्रमाण पूज्य नहीं?

उत्तर : हाँ, निश्चय की अपेक्षा से पूज्य नहीं है। निश्चय का विषय है, (ध्रुव ध्येय); इसलिए निश्चयनय पूज्य है। पद्मनंदी में कहा है कि - व्यवहार से व्यवहार पूज्य है, यह सब पता है न!

(परमात्म प्रकाश, गाथा ४९ से ५१, दिनांक १२/७/७६ के प्रवचनांश)

(९) **प्रश्न :** ध्यान की पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न क्यों कहा?

उत्तर : समयसार गाथा ३२० की टीका में जयसेन आचार्यदेव ने ध्यान को कथंचित् भिन्न कहा, उसका अर्थ- पर की अपेक्षा से ध्यान पर्याय अपनी है; इसलिए अभिन्न है और शाश्वत् ध्रुव द्रव्य की अपेक्षा से, ध्यान पर्याय विनश्वर होने से पर्याय को भिन्न कहा है। वास्तव में तो द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न हैं।

(आत्मधर्म, अंक ३९१, मई १९७६, पृष्ठ २७)

(१०) **प्रश्न :** पर्याय, द्रव्य से भिन्न है या अभिन्न? किस प्रकार?

उत्तर : द्रव्य है, वह पर्याय से भिन्न है क्योंकि वह ध्रुव है, उसमें पर्याय नहीं है, और पर्याय में ध्रुव नहीं आता; इसलिए ध्रुव, पर्याय को स्पर्श नहीं करता। परन्तु पर से भिन्न करने के लिए ऐसा कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय है परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य द्रव्य और विशेष पर्याय दो धर्म एकरूप हो जाते हैं, **दोनों धर्म एक दूसरे को स्पर्श करते नहीं।**

(आत्मधर्म, अंक- ४०४, जून १९७७, पृष्ठ २०)

(११) जैसे गुणी में गुण हैं और गुणभेद को गौण करने को कहा; तो कोई ऐसा कहे कि गुणी में, अर्थात् द्रव्य में पर्याय है तो उसको भी गौण कर दें तो। (तो कहते हैं) द्रव्य से पर्याय भिन्न है। पर्याय, द्रव्य में नहीं है। पर्याय भिन्न रहकर द्रव्य को विषय करती है। वस्तु में गुण है, परन्तु उसका लक्ष छुड़ाने के लिए, गुणभेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराते हैं। वैसे वस्तु में पर्याय भी है, ऐसा कोई कहे तो सही नहीं है; पर्याय तो पर्याय में है। पर्याय को गौण करने का अर्थ द्रव्य में पर्याय है, पर उसे गौण करके ऐसा कोई कहे तो ऐसे है नहीं। भाई! यह खुलासा भलीभाँति समझना चाहिए।

(प्रवचन रत्नाकर, भाग - १, पृष्ठ ११५)

(१२) पर्याय इस तरफ अर्थात् जो अभेद द्रव्य है, उस तरफ ढल गई, उस अपेक्षा से अभेद कही जाती है, वरना पर्याय तो द्रव्य से भिन्न रहती है। अभेद में पर्याय कहाँ है? **पर्याय तो भिन्न रहकर अभेद की दृष्टि करती है, वह निश्चय दृष्टि है।** द्रव्य में पर्याय को मिला दे तो व्यवहार हो जाता है, भेददृष्टि हो जाती है। पर्याय तो पर्याय में रहती है; इसलिए अपेक्षा समझनी चाहिए। दृष्टि में फर्क से अज्ञानी को फर्क लगता है, परन्तु यह सत्य कहा जाता है।

(प्रवचन रत्नाकर, भाग-१, पृष्ठ ११६)

(१३) (निर्मल) पर्याय, शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। आहा...हा...हा...! अरे प्रभु! तेरी अपूर्व मोक्षमार्ग की जो पर्याय प्रगट होती है, वह भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है! बहुत कठिन नहीं लगे इसलिए (ऐसे कहा) वरना **'सर्वथा' भिन्न है। (निहालचन्दजी) सोगानी ने सर्वथा भिन्न लिखा है। है भी ऐसे ही! दो (सत्) सर्वथा भिन्न हैं। द्रव्य में पर्याय नहीं है और पर्याय में द्रव्य नहीं। (ऐसा) लोगों को कड़क लगता है, इसलिए यहाँ 'कथंचित् भिन्न' कहा। (वरना) पर्याय का द्रव्य में एकदम सर्वथा अभाव है। जरा कठिन पड़ता है।**

(प्रवचन नवनीत, भाग- १, पृष्ठ २८२)

(१४) नियमसार में पर्याय को परद्रव्य कहा। द्रव्य जो स्वभाव वस्तु है, उससे 'पर्याय का द्रव्य भिन्न; पर्याय का क्षेत्र भिन्न, पर्याय का काल भिन्न; और पर्याय का भाव भिन्न है।'

प्रश्न : स्वभाव भी भिन्न....?

उत्तर : शुद्ध पर्याय है न! (इसलिए) भिन्न है। त्रिकाल वस्तु से पर्याय भिन्न है। यदि दोनों एक हो जायें तो? (अर्थात्) पर्याय-अंश में द्रव्य आ जाए तो द्रव्य 'अंश' बन जाये और पर्याय उसमें (अर्थात् द्रव्य में) आ जाये तो पर्याय 'द्रव्य' बन जाये, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं।

(प्रवचन नवनीत, भाग- १, पृष्ठ २८३)

(१५) चिद्विलास में कहा- यह द्रव्य (अंशी और बाकी का अंश) भिन्न; द्रव्य अर्थात् वह वस्तु है। त्रिकाली से वह पर्याय भिन्न, उसके प्रदेश भिन्न। जितने में से पर्याय उत्पन्न होती है, उतने उस प्रदेश के अंश, द्रव्य के प्रदेश से भिन्न हैं। हैं तो असंख्य प्रदेश, परन्तु असंख्य प्रदेश में से दो प्रकार हैं :- जितने में से मोक्षमार्ग की पर्याय उत्पन्न हुई, वह क्षेत्र भिन्न है, और जितने में ध्रुव रहता है, वह क्षेत्र भिन्न है। वह जो मोक्षमार्ग की पर्याय है, उस पर्याय को (परिणामी) द्रव्य कहते हैं।

(प्रवचन नवनीत, भाग – १, पृष्ठ २८२)

(१६) 'आप्तमीमांसा' न्याय के ग्रन्थ में ऐसे कहा : धर्मी और धर्म (ये) दोनों भिन्न गिने हैं। धर्मी और धर्म, ये भिन्न हैं, ये दोनों एक नहीं हैं। एक हों तो ऐसे दो नाम नहीं होंगे। दो वाच्य नहीं हों तो दो वाचक भी नहीं होंगे। फिर व्यवहार से कहने में आता है कि - इस धर्मी का यह धर्म और इस धर्म का यह धर्मी, परन्तु दोनों निरपेक्ष भिन्न सत् हैं।

(प्रवचन नवनीत, भाग - २, पृष्ठ ३३)

(१७) पर की अपेक्षा से पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता, **परन्तु स्व की अपेक्षा से द्रव्य, पर्याय रहित है। पर्याय और द्रव्य दो भिन्न सत्ता हैं। वास्तव में तो पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता, अव्यक्त, व्यक्त को स्पर्श नहीं करता। ऐसे भगवान को लक्ष में लेनेवाली पर्याय भी वस्तु में नहीं आती।**

(द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल २१३)

(१८) **श्रोता :** द्रव्य और पर्याय में भेद है?

उत्तर : द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद है। द्रव्य सर्वथा त्रिकाली / नित्य है और पर्याय सर्वथा अनित्य है। द्रव्य, कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य - ऐसा नहीं है। **पर्याय सर्वथा**

द्रव्य में अर्थात् त्रिकाली ध्रुव में नहीं है परन्तु पर्याय, पर्याय में तो है; पर्याय, पर्याय में भी नहीं - ऐसा नहीं है।

पर्याय को सर्वथा नहीं माने तो वेदान्त हो जाएगा, इसलिए ही पर्याय है- ऐसा कहा है परन्तु उसका मतलब यह नहीं है कि पर्याय में द्रव्य आ जाता है, या द्रव्य में पर्याय आ जाती है। पर्याय, पर्याय में रहकर द्रव्य की प्रतीति कर लेती है। पर्याय, पर्याय में तो है परन्तु द्रव्य में नहीं।

(आत्मधर्म, वर्ष १, अंक ३, नवम्बर २००६ में से)

(१९) आहाहा! दृष्टि के विषय में पर्याय है ही नहीं। परन्तु पर्याय है ही नहीं इससे कहीं वस्तु ही नहीं है ऐसा नहीं है। पर्याय, पर्याय में है ऐसा जानना चाहिए। पर्याय, द्रव्य में नहीं है परन्तु पर्याय, पर्याय में है। पर्याय को जो अभूतार्थ-असत्यार्थ कहा था, वह गौण करके 'पर्याय नहीं है' ऐसा कहा था.... वह तो पर्याय में है। अब उसे भी दृष्टि के विषय के समय गौण करके अभूतार्थ कहा है। इसका मतलब यह नहीं है कि पर्याय द्रव्य में है। और ऐसा भी नहीं है कि पर्याय, पर्याय में भी नहीं है। सूक्ष्म बातें हैं, बापू!

(आत्मधर्म-१, वर्ष १, २००६ नवम्बर के अंक में से)

(२०) आत्मा परद्रव्य का कर्ता क्यों नहीं है? जिसकी सत्ता भिन्न है, वह भिन्न सत्ता पर का कुछ नहीं कर सकती। चैतन्य और जड़ भिन्न सत्तावान हैं; भिन्न सत्तावान पदार्थ भिन्न सत्ता का कुछ भी करे- ऐसा होता नहीं। दूसरी बात यह कि- आस्रवतत्त्व और स्वभावतत्त्व, ये दोनों भिन्न तत्त्व हैं और चैतन्य है वह स्वभावतत्त्व है; इसलिए जो स्वभावदृष्टिवन्त है, वह स्वभाव-चैतन्यतत्त्व की अपेक्षा से, आस्रव-विभावतत्त्व से भिन्न होने से, आस्रवतत्त्व का कर्ता नहीं है।

जैसे स्व और पर; इसमें पर है वह स्थूल परसत्ता है, इसलिए एक सत्ता दूसरी सत्ता का कुछ करे - ऐसा है नहीं। ऐसे भगवान आत्मा शुद्ध स्वभाव सत्तावान पदार्थ है। आस्रव है वह भिन्न सत्तावाली चीज है; इसलिए दो पदार्थ के बीच में स्वभावदृष्टिवन्त दया, दान, व्रत, भक्ति वह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प परसत्तावान होने से उसका कर्ता नहीं है।

अब, उससे आगे तीसरी बात, द्रव्य और पर्याय दो भिन्न सत्ता हैं। जैसे, परसत्ता भिन्न है, आस्रवसत्ता भी भिन्न है; इसलिए उसका कर्ता नहीं है। इसीप्रकार त्रिकाली द्रव्य और एक समय की निर्मल वीतरागीपर्याय, ये भी दो भिन्न सत्ता हैं; इसलिए द्रव्य, पर्याय का भी कर्ता नहीं है। वीतरागपर्याय का भी आत्मा कर्ता नहीं है। भिन्न सत्ता के तीन भेद किये। ऐसी वस्तु है, उसे श्रद्धा-ज्ञान में न लेकर विवाद... विवाद... विवाद करते हैं!

यह प्रतिमा तो परद्रव्य है ही, उसकी तरफ का विकल्प उठा, वह भी परद्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं; इसलिए स्वद्रव्य की श्रद्धावाला है, वह परद्रव्य का कर्ता नहीं है। द्रव्य, सामान्य सत्ता है और

पर्याय, विशेष सत्ता है, ये दोनों भिन्न हैं। वे अपेक्षा से भिन्न हैं, इसलिए भिन्न द्रव्य, उस पर्याय का कर्ता नहीं है। इसलिए मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है।

समयसार ३२० गाथा की जयसेन आचार्य की टीका में आता है कि आत्मा है, वह मोक्षमार्ग और मोक्ष की पर्याय से भिन्न है। मोक्ष की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है, ध्रुव नहीं है, क्योंकि कर्ता हो तो दोनों एक हो जायेंगे। एक सत्तावाला द्रव्य, दूसरे सत्तावाले का कुछ भी करे तो दोनों एक हो जायेंगे।

इसप्रकार भिन्न सत्ता के (तीन भेद हुए) :-

१. स्वद्रव्य और परद्रव्य भिन्न सत्ता है; इसलिए पर का कर्ता नहीं;

२. स्वाभाविक वस्तु और निर्मलपर्याय, उससे आस्रव पर्याय एकदम भिन्न है। आस्रवतत्त्व-उदयभाव, वह परद्रव्य है इसलिए द्रव्य और निर्मलपर्याय उस आस्रवतत्त्व की या परद्रव्य की कर्ता नहीं है।

३. वीतरागीपर्याय और द्रव्य, ये दोनों एक सत्ता नहीं हैं। एक सामान्य सत्तारूप धर्म है और एक विशेष सत्तारूप धर्म है, वे दोनों एक सत्तारूप नहीं हैं। उन दोनों की सत्ता भिन्न है; इसलिए द्रव्य वीतरागीपर्याय का भी कर्ता नहीं है। मोक्षमार्ग का या मोक्ष की पर्याय का भी कर्ता द्रव्य नहीं है।

(२१) **श्रोता :** द्रव्य से पर्याय की सत्ता को भिन्न कर डाला?

उत्तर : दोनों की सत्ता भिन्न ही है। द्रव्य सत्ता द्रव्य में और पर्याय की सत्ता भिन्न है। निश्चय से तो चैतन्य की सत्ता के प्रदेश हैं, वे पर्याय के प्रदेश से भिन्न ही हैं।

श्रोता : तो फिर निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध क्यों कहा?

उत्तर : उस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अर्थ ही ऐसा है कि कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

(आत्मधर्म वर्ष – १, अंक - २, अक्टूबर २००६)

(२२) नर-नारक आदि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष --- इन नव तत्त्वों से, एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव द्वारा अत्यन्त भिन्न होने से शुद्ध है। आहाहा! **साधक-बाधक की पर्याय से आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहा। शरीरादि से तो अत्यन्त भिन्न है ही; पुण्य-पाप आदि से भी अत्यन्त भिन्न है ही परन्तु संवर, निर्जरा, मोक्ष की निर्मल पर्याय के व्यवहारिक भावों से भी, मैं एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव द्वारा, अत्यन्त भिन्न होने से शुद्ध हूँ।** आहाहा! यहाँ समयसार की ३८ वीं गाथा में तो संवर, निर्जरा, मोक्ष की शुद्ध निर्मल पर्याय के व्यवहारिकभावों से भी, आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहकर दिगम्बर सन्तों ने अंतर की -

पेट की बातें खोल दी हैं। ऐसी बातें अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं, आहाहा! जगत के भाग्य हैं कि ऐसी वाणी रह गई है।

(आत्मधर्म २००८, अप्रैल, अंक - ८, पृष्ठ ४)

(२३) 'वास्तव में इस एक को ही' किसको? 'एक को'.... 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अखण्ड हूँ' ऐसे विकल्प से रहित, अन्दर निर्विकल्प अनुभव हुआ, तब सम्यग्दर्शन हुआ। 'एक को ही' अर्थात् अन्य किसी को नहीं; ऐसी सम्यग्दर्शन की पर्याय को, एक को ही, केवल उसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ऐसा नाम प्राप्त है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, समयसार से अलग नहीं है। इसप्रकार पर्याय को (द्रव्य में) अभेद करके कहने में आया है। द्रव्य से पर्याय है तो भिन्न, परन्तु पर्याय का लक्ष जो पर के ऊपर था... (वहाँ से छूटकर) अंतर में गया, उस अपेक्षा से पर्याय को अभेद कहने में आया है।

(प्रवचन नवनीत, भाग – १, पृष्ठ....)

(२४) जयसेन आचार्य की अपेक्षा ज्ञानप्रधान कथन की है, इसलिए कथंचित् भिन्न कहा। जबकि अमृतचन्द्र आचार्य ने तो प्रवचनसार गाथा १७२, अलिंगग्रहण के बोल १९ में ऐसा कहा कि - पर्याय भेदलक्षणवाली है, इसलिए भगवान आत्मा उस पर्याय को स्पर्श भी नहीं करता, अर्थात् पर्यायरूप विशेष भाव को द्रव्य स्पर्श नहीं करता, आलिंगन नहीं करता। आहाहा! पर्याय, द्रव्य को आलिंगन नहीं करती और द्रव्य, पर्याय को आलिंगन नहीं करता। सूक्ष्म बात है, भाई! सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान की धर्मरूप शुद्धपर्याय, उस आत्मा को स्पर्श नहीं करती। **एकदम स्पर्श नहीं करती ऐसा कहा।**

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ - २८७)

(२५) अब यहाँ निर्मल पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न कहा, और वहाँ अलिंगग्रहण के १९ वें बोल में ऐसा कहा कि - निर्मल पर्याय को भी द्रव्य स्पर्श नहीं करता-आलिंगन नहीं करता। **वहाँ द्रव्य और पर्याय के बीच सर्वथा भेद किया।** बाद में २०वें बोल में ऐसा लिया कि - निर्मल पर्याय वेदन में आती है; वह पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। द्रव्य जो त्रिकाली वस्तु है, वह पर्याय को स्पर्श नहीं करता। वह पर्याय ही आत्मा है, क्योंकि आनन्द की पर्याय वेदन में आती है, द्रव्य वेदन में नहीं आता।

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २८८)

(२६) तत्त्वार्थसूत्र में पर्याय प्रधान कथन है। **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'।** ये तीनों पर्याय हैं। यहाँ ३२० (गाथा) में जयसेन आचार्य कहते हैं कि ये तीनों पर्याय शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न कही हैं और श्री निहालचन्द्र सोगानीजी ने द्रव्यदृष्टि प्रकाश बोल २६५ में ऐसा लिया है कि - **पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न है।** तो आचार्य का यह कथन और सोगानीजी का यह

कथन, दोनों यथार्थ हैं। सोगानीजी ने परम (शुद्ध) निश्चय से जो कहा, वह अमृतचन्द्र आचार्य की अलिंगग्रहण के १९ वें बोल की शैली है। यह तो अलौकिक बात है, बापू!

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २८८)

(२७) यहाँ ३२० गाथा की टीका में- मोक्षमार्ग की पर्याय को कथंचित् भिन्न कहा और अलिंगग्रहण में तो द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता और २० वें बोल में पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। १९ वें बोल में कहा कि- पर्याय विशेष अर्थात् धर्म की पर्याय हों! वह निर्मल पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। आ...हा...हा...! **'स्पर्श नहीं करती' का अर्थ 'सर्वथा भिन्न' हो गया।** आज का विषय सूक्ष्म है, प्रभु! आ...हा...हा...! कहते हैंकि: 'पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती', तो वहाँ क्या (समझना) (पर्याय) सर्वथा भिन्न हो गई! और २० वें बोल में यह कहा कि आनन्द पर्याय का वेदन आता है, उस पर्याय को-वेदन को द्रव्य स्पर्श नहीं करता, अर्थात् त्रिकाली द्रव्य है वह वेदन को स्पर्श नहीं करता, अर्थात् कि वेदन में वह द्रव्य आता ही नहीं।

प्रत्यभिज्ञान का कारण- यह है, यह पहले था, यह रहेगा, ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान का कारण द्रव्य-वस्तु त्रिकाली शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण - ऐसा शुद्धात्म द्रव्य, वह अनुभव की पर्याय को स्पर्श नहीं करता। बहुत सूक्ष्म विषय है भाई! अनुभूति को द्रव्य स्पर्शता ही नहीं; अनुभूति की पर्याय स्वतन्त्र है। यहाँ ३२० में कहा कि- निर्मल पर्याय कथंचित् भिन्न है, और अलिंगग्रहण में कहा कि **पर्याय सर्वथा भिन्न है।** पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती और द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता। १९ वाँ और २० वाँ बोल है। त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो शुद्ध चैतन्यघन, जो सम्यग्दर्शन का विषय- ऐसा द्रव्य, उसे सम्यग्दर्शन की पर्याय स्पर्श नहीं करती और वह द्रव्य, सम्यग्दर्शन की पर्याय को स्पर्श नहीं करता।

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २८९ में से)

(२८) आहा...हा...! केवलज्ञान की पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। यह २० वाँ बोल है। यहाँ तो मोक्षमार्ग की पर्याय की बात है और उसमें अलिंगग्रहण के २० वें बोल में सामान्य पर्याय की व्याख्या आई। वहाँ द्रव्य को उस पर्याय विशेष का आलिंगन नहीं है, अर्थात् पर्याय में-वेदन में द्रव्य नहीं आता; वेदन में-अनुभव में जो पर्याय आती है वह पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता, क्योंकि द्रव्य का वेदन है ही नहीं। द्रव्य जो त्रिकाली - ध्रुव वस्तु है, उसका वेदन ज्ञानी या अज्ञानी किसी को भी नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म विषय है, भाई! और सोगानीजी ने तो ऐसा कहा है कि - **द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न है। वह सामान्य बात से सर्वथा भिन्न कहा।** और यहाँ तो मोक्षमार्ग की अपेक्षा से 'कथंचित् भिन्न' कहा। पंचास्तिकाय में तो ऐसा लिया कि- भगवान जो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव आनन्द का नाथ प्रभु, उसमें जो निर्मल पर्याय आती है, वह भी 'संयोगी' है। उसके द्रव्यस्वभाव में वह पर्याय नहीं है। संयोग-वियोग पर्याय में आते हैं।

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २९०)

(२९) अरे! इन सबने किसी दिन सुना भी नहीं होगा! प्रश्न किया था? फिर कहा कि - भगवान! बात तो सच्ची है, बापा! तुम भगवान हो। प्रभु! तेरी चीज तो भगवान स्वरूपी है। वह भगवान स्वरूप, मोक्ष के मार्ग की पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहा...हा...! **भेदज्ञान की पराकाष्ठा! भिन्न करने की पराकाष्ठा!**

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २९४)

(३०) **जिज्ञासा :** आप कथंचित् भिन्न और सर्वथा भिन्न दोनों बातें करते हो?

समाधान : दोनों बातें अपेक्षा से सत्य हैं। यह मोक्षमार्ग की (नई प्रगट हुई) पर्याय है। सामान्य बात से तो सामान्य पर्याय त्रिकाली समुच्चय है। एक ही बात है। एक आचार्य ऐसा कहते हैंकि: द्रव्य, पर्याय को बिल्कुल स्पर्श नहीं करता, और ३२० गाथा में जयसेन आचार्य ऐसा कहते हैंकि: पर्याय कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है। उसमें पर से और राग से भिन्न है, और स्वयं से अभिन्न है - ऐसा कथंचित् बताना है। इसलिए 'कथंचित् भिन्न है' ऐसा जो कहा, वह यथार्थ है। जिस अपेक्षा से कहा है, उस अपेक्षा से यथार्थ है।

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २९५)

(३१) यहाँ यह कहना है कि - पर्याय, उत्पाद-व्यय वाली है। वह पर्याय, द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। जबकि चिद्विलास में ऐसा कहा कि – 'पर्याय का कारण पर्याय ही है। गुण की अपेक्षा के बिना ही पर्याय की सत्ता पर्याय का कारण है।' क्या कहा? जो पर्याय है, वह गुण के बिना पर्याय की सत्ता स्वतन्त्र है, अर्थात् गुण के कारण बिना, पर्याय की सत्ता पर्याय का कारण है, अर्थात् गुण कारण और पर्याय कार्य - ऐसा नहीं है। गुण की सत्ता और पर्याय की सत्ता **'एकदम भिन्न है!'**

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २९७)

(३२) चिद्विलास के (रचयिता) दीपचन्दजी कासलीवाल लिखते हैं कि 'पर्याय का कारण पर्याय ही है।' आहा...हा...! पर्याय का कारण पर तो नहीं है परन्तु पर्याय का कारण स्वद्रव्य भी नहीं है। थोड़ा आया है कि "पर्याय का कारण पर्याय ही है" ऐसे लिया है। एकान्त? हाँ, परन्तु यह सम्यक् एकान्त है क्योंकि "अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति कराने के अलावा अन्य हेतु से उपकारी नहीं है"। श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक- ७०२ में है कि सम्यक् एकान्त अन्दर है। ध्रुव है, वह कथंचित् ध्रुव है और कथंचित् अध्रुव है, ऐसा नहीं है। ध्रुव है वह सर्वथा ध्रुव है और अनित्य है, वह सर्वथा अनित्य है। दो (भाव) हैं। पर्याय अनित्य है और द्रव्य ध्रुव है। अनित्य, सर्वथा अनित्य है; वह कथंचित् नित्य है - ऐसा नहीं है। वहाँ (पत्र में) सर्वथा नित्य ले लिया। फिर भी पूरे प्रमाण में द्रव्य की अपेक्षा से कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। परन्तु

एक नित्य लो और एक अनित्य लो तो द्रव्यार्थिकनय से नित्य है, पर्यायार्थिकनय से पर्याय सर्वथा अनित्य है।

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ २९६)

(३३) निज स्वरूप भगवान आत्मा! उसका अनुसरण करके जो अनुभव हुआ, वह अनुभव चिन्तामणि है - वह पर्याय है। नाटक समयसार में कहा है कि -

"अनुभव चिंतामणी रतन, अनुभव है रसकूप;
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष सरूप ॥"

आहा...हा...! उस अनुभव को चिंतामणि रत्न की पर्याय कहा। वह अपूर्ण पर्याय, त्रिकाली भाव से किसी अपेक्षा से भिन्न है। जो अपूर्ण है, वह पूर्ण होगा ही। जब पूर्ण होगा तब अपूर्णता का नाश होगा, उस अपेक्षा से उसे कथंचित् भिन्न कहा। अन्यथा **वास्तव में तो पर्याय (द्रव्य से) सर्वथा भिन्न है।**

(प्रवचन नवनीत, भाग - १, पृष्ठ ३०५)

(३४) **भेदविज्ञान के तीन प्रकार**

तीन प्रकार से भिन्न सत्ता सिद्ध हुई। (१) स्वद्रव्य और परद्रव्य ये (दोनों) भिन्न सत्ता हैं, इसलिए (आत्मा) पर का कर्ता नहीं है। (२) स्वाभाविक वस्तु और उसकी निर्मल पर्याय, उससे-आस्रव से, पर्याय एकदम भिन्न है। आस्रवभाव अर्थात् औदयिकभाव परद्रव्य है। स्वद्रव्य और उसकी निर्मल पर्याय, वह आस्रवभाव ऐसे परद्रव्य की कर्ता नहीं है। (३) वीतरागी पर्याय और (ध्रुव) द्रव्य की सत्ता एक नहीं है। क्योंकि एक सामान्य सत्तारूप धर्म है और एक विशेष सत्तारूप धर्म है, दोनों धर्म एक सत्तारूप नहीं हैं, दोनों सत्ता भिन्न हैं; इसलिए ध्रुवद्रव्य, वीतरागी पर्याय का भी कर्ता नहीं है। मोक्षमार्ग की पर्याय हो या मोक्ष की पर्याय हो, परन्तु द्रव्य उसका कर्ता नहीं है।

(आत्मधर्म अंक नवम्बर २००२ में से)

(३५) **श्रोता :** पर्याय को सर्वथा भेदरूप माने तो.... (एकान्त नहीं होगा)?

उत्तर : द्रव्य से पर्याय सर्वथा भेदरूप है, क्योंकि द्रव्य है, वह सर्वथा नित्य है, और पर्याय है, वह सर्वथा अनित्य है। यह क्या कहा? सर्वथा अनित्य है। यह जो वस्तु है, वह सर्वथा नित्य है, उसमें कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है - ऐसा नहीं है। अब पर्याय है, वह सर्वथा अनित्य है; उसमें कथंचित् अनित्य है ऐसे (कथंचित् लागू नहीं होता)। पर्याय है, वह सर्वथा अनित्य है, उसमें (सर्वथा आता है)। चिद्विलास में भी आता है कि - अनित्य है, वह नित्य का निर्णय करती है। जयसेन आचार्यदेव की समयसार, ३२० गाथा की टीका में ऐसा आता है कि 'मैं ध्रुव हूँ' यह जाना किसने? ध्रुव, ध्रुव को जानता है क्या? मैं त्रिकाली - मैं ध्रुव हूँ - ऐसा पर्याय

जानती है, उसका अर्थ (अनुभव के काल में) द्रव्य-पर्याय दोनों साथ आ गये। क्योंकि मैं ध्रुव हूँ - ऐसा पर्याय ने जाना; इसलिए वहाँ पर्याय भी आ गई।

(३६) **श्रोता :** पर्याय ऐसा कहती है कि मैं द्रव्य ही हूँ?

उत्तर : मैं द्रव्य हूँ - ऐसा कहती है; इसलिए पर्याय साथ आ गई, परन्तु पर्याय, ध्रुव में मिल नहीं गई है। (पर्याय) स्वयं द्रव्य बन गई - ऐसा नहीं, परन्तु उस समय पर्याय का लक्ष (द्रव्य के) ऊपर है, इसलिए जहाँ लक्ष है, वहाँ पर्याय नहीं है परन्तु यह द्रव्य है, वह मैं हूँ, ऐसी (अनुभूति) पर्याय में है, (उपयोग की सूक्ष्मता के बिना) वस्तु समझ में आ जाये - ऐसा नहीं है। यह तो (द्रव्यदृष्टि प्रकाश) सोगानीजी में आता है न "पर्याय मेरा ध्यान करो तो करो... मैं किसका ध्यान करूँ?" परंतु ऐसा जानता है कौन?

श्रोता : पर्याय को द्रव्य में मिलाये बिना कोई चारा नहीं है, और पर्याय, द्रव्य में नहीं है - ऐसा भी है।

उत्तर : त्रिकाली आत्मा! जो निश्चयनय का विषय है, उसमें (पर्याय) नहीं है और (त्रिकाली में) पर्याय नहीं है- ऐसा निर्णय कौन करता है? त्रिकाली ध्रुव करता है? ऐसा निर्णय करनेवाली पर्याय है। इसप्रकार धर्म का (स्वरूप) है।

(श्री समयसार सिद्धि, भाग - ३, प्रवचन- १२१, गाथा ४७-४८, पृष्ठ ९८-९९ में से)

(३७) **प्रश्न :** (द्रव्य और पर्याय) दो भिन्न-भिन्न सत्ता हैं, इसलिए कर्ता-कर्म नहीं है?

उत्तर : हाँ, दोनों भिन्न-भिन्न सत्ता हैं।

प्रश्न : द्रव्य-पर्याय की सत्ता एक नहीं है?

उत्तर : यह तो (अभेद) नय से एक सत्ता कहा। वरना पर्याय की सत्ता पर्याय से और द्रव्य की सत्ता द्रव्य से है। पर्याय की सत्ता से द्रव्य की सत्ता नहीं और द्रव्य की सत्ता से पर्याय की सत्ता नहीं। दोनों का अस्तित्व एक है, वह तो पर के सत्त्व से भिन्न करके कहना हो, तब।

(कलशामृत भाग - २, पृष्ठ २१४, श्लोक ४९ का प्रवचनांश)

(३८) पर्यायधर्म और द्रव्यधर्म दोनों भिन्न हैं। आहाहा! द्रव्य का स्वभाव पर्याय में आता नहीं। एक समय की दशा में त्रिकाली द्रव्य कैसे आये? एक समय की पर्याय त्रिकाल द्रव्य में किस प्रकार तन्मय हो सकती है? त्रिकाली भगवान जो आत्मा है, वह आनन्द आदि शुद्ध शक्ति से पूर्ण स्वभाव से रहता है। सिर्फ पर्याय का लक्ष द्रव्य की तरफ होता है तो उसे ध्रुव का अनुभव है - ऐसा कहने में आया है। बात में बहुत फर्क है। मार्ग जो है, वह वस्तुस्थिति अलौकिक है और उसको वीतराग ने जानकर पूर्ण अनुभव किया और वाणी द्वारा आ गई है।

(कलशामृत भाग - ६, पृष्ठ १४३ में से)

(३९) कोई कहते हैं - जैनदर्शन में 'ही' होता ही नहीं। श्रीमद् के एक पत्र में आता है कि (द्रव्य) नित्य 'ही' है; (पर्याय) से अनित्य 'ही' है - ऐसा कहना है। कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है- ऐसा नहीं कहना है, वहाँ ऐसा कहना है कि - नित्य है, वह नित्य 'ही' है, अनित्य है, वह अनित्य 'ही' है। जब पूरा (प्रमाण का विषयभूत) द्रव्य कहना हो तो कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य कहते हैं, परन्तु नित्य से कहना हो तो नित्य है, वह नित्य 'ही' है। उसमें नित्य, कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है - ऐसा नहीं है। आहाहा! अनित्य है, वह अनित्य 'ही' है, उसमें कथंचित् अनित्य भी, नित्य है और (कथंचित्) अनित्य है - ऐसा अनेकान्त नहीं है।

(समयसार सिद्धि, भाग - ६, गाथा १५२ के प्रवचन में से, पृष्ठ ६८)

(४०) **मुमुक्षु :** द्रव्य से पर्याय भिन्न है?

उत्तर : भिन्न है। द्रव्य से पर्याय भिन्न है। द्रव्य से पर्याय एक नहीं हुई। अगर एक हो जाये तो पूरा द्रव्य मलिन हो जाएगा और मलिन हो जाये तो द्रव्य ही नहीं रहेगा। अगर द्रव्य विकाररूप होता है, तो द्रव्य वस्तु ही नहीं रहेगी। आत्मा ही नहीं रहेगा। मार्ग तो ऐसा है प्रभु! ऐसा समझने के लिए कितना समय निकालना?

(समयसार दोहन, नैरोबी के गाथा- ६ के प्रवचन में से)

(४१) समयसार ३२० गाथा में जयसेन आचार्यदेव ने लिया है कि ध्यान यदि द्रव्य से अभिन्न हो तो ध्यान की पर्याय का नाश होने पर वस्तु का भी नाश हो जाए। राग तो नहीं, परन्तु यह तो ध्यान, जो मोक्ष का मार्ग है, वह ध्यान की पर्याय भी द्रव्य में अभेद नहीं है। यदि अभेद हो तो ध्यान की पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जाए। इसलिए (मोक्षमार्ग की) पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। टीका में कथंचित् भिन्न लिया है, **वरना है तो सर्वथा भिन्न। शिष्य को बात कठिन नहीं लगे, इसलिए (कथंचित् कहा)।**

श्रोता : सर्वथा भिन्न?

उत्तर : हाँ, पर्याय का अस्तित्व भिन्न है, क्षेत्र भिन्न है, काल भिन्न है, भाव भिन्न है।

श्रोता : एक अपेक्षा से।

उत्तर : नहीं, एक अपेक्षा से नहीं, **सर्वथा** ऐसा ही है। कथंचित् तो इसलिए कहा कि वह पर्याय उसकी है, इतना बताने के लिए कथंचित् भिन्न है- ऐसा कहा। वरना **निश्चय से तो सर्वथा भिन्न** है। नहीं तो दो धर्म सिद्ध नहीं होंगे। **सामान्य और विशेष दोनों सर्वथा भिन्न** हैं। विशेष, विशेष से है; सामान्य, सामान्य से है। एक-दूसरे की अपेक्षा रखे तो (दो सत्) सिद्ध नहीं होंगे।

श्रोता : ऐसे सिद्ध करना हो तब...।

उत्तर : यहाँ सिद्ध करना है न!

श्रोता : वह एक वस्तु है।

उत्तर : एक वस्तु है परन्तु कब? किस तरह? यह तो पर से भिन्न करने के लिए एक वस्तु कहा है। परन्तु (एक वस्तु में) दो भाग करने हों तो वे दोनों भिन्न- स्वतन्त्र हैं। सूक्ष्म बात है।

श्रोता : स्वरूप भिन्नता से काम चल जाता है तो प्रदेश भिन्नता क्यों कहना?

उत्तर : प्रदेश भिन्न है। यह बात जरा सूक्ष्म लगेगी। पर्याय का जो अंश है, वह जितने क्षेत्र में से उतपन्न हुआ.... तो उसका कोई क्षेत्र है या नहीं? या वह पर्याय (उसके) क्षेत्र के बिना हुई है? द्रव्य का क्षेत्र ध्रुव है और पर्याय का क्षेत्र उतना अध्रुव भिन्न है। संवर अधिकार में विकार को क्षेत्र भिन्न लिया है। चिद्विलास ८९ पृष्ठ पर पर्याय का क्षेत्र पर्याय से है; द्रव्य का क्षेत्र, पर्याय के क्षेत्र से भिन्न है। अरे... अरे... ऐसी (सूक्ष्म) बातें हैं।

श्रोता : परन्तु शास्त्र में ऐसा आता है न कि जो द्रव्य, गुण का क्षेत्र है, वही पर्याय का क्षेत्र है।

उत्तर : वह किस अपेक्षा से? वह तो पर से भिन्न करने के लिए पहले कहा। (द्रव्य-पर्याय को) भिन्न करने के लिए नहीं। बापू! यह तो न्याय का तराजू है। तराजू में एक भी न्याय पलट जाये तो पूरा तत्त्व पलट जाता है। यहाँ तो जिसके प्रदेश भिन्न हैं, उसे पृथक् लक्षण से परद्रव्य कहा है। जबकि प्रवचनसार में अपने गुण और पर्याय अथवा द्रव्य और पर्याय, इन दोनों में अतद्भावरूप अन्यत्व है। द्रव्य, वह गुण नहीं; गुण, वह पर्याय नहीं और पर्याय, वह द्रव्य नहीं। द्रव्य गुण का सूक्ष्म पड़ेगा। वहाँ तो गुण, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य, वह गुण नहीं - ऐसा पाठ संस्कृत में लिया है। क्योंकि गुण की संज्ञा गुण है, द्रव्य की संज्ञा द्रव्य है। गुण अनन्त हैं, द्रव्य एक है। संज्ञा, संख्या, लक्षण, और प्रयोजन इन चार से गुण और द्रव्य भिन्न हैं।

श्रोता : प्रदेश से अभेद है?

उत्तर : यह तो कहा न... प्रदेश से अभेद है।

श्रोता : सत्ता से भी अभेद है न?

उत्तर : दोनों की सत्ता एक है। गुण और द्रव्य की सत्ता तो एक ही है, परन्तु लक्षण, संख्या, प्रयोजन, नाम / संज्ञा से भिन्न है। बापू! यह तो वीतराग का स्याद्वाद मार्ग बहुत अलौकिक है। तो फिर पर्याय का नाम / संज्ञा, लक्षण, संख्या और प्रयोजन भिन्न है। द्रव्य और गुण की सत्ता के प्रदेश एक हैं, फिर भी संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन (वह भी) भिन्न है। यहाँ तो पर्याय का क्षेत्र और गुण

का क्षेत्र भिन्न है। बहुत सूक्ष्म बातें बापू! अन्दर के मूल तत्त्व की गहराई तक पहुँचे बिना उसे तत्त्वज्ञान होगा नहीं, और सम्यग्ज्ञान बिना अन्दर में दृष्टि निर्मल नहीं होगी।

श्रोता : द्रव्य और पर्याय की लक्षण भिन्नता और प्रयोजन भिन्नता क्या है?

उत्तर : द्रव्य का (स्वभाव का) प्रयोजन गुणाश्रय है। गुणाश्रय द्रव्य (स्वभाव) है ऐसा कहा न! 'द्रव्याश्रय गुणा: निर्गुणाः' परन्तु द्रव्य के (स्वभाव के) आश्रय से गुण है, ऐसा नहीं है और पर्याय में ऐसा नहीं है। अपेक्षा से पर्याय, द्रव्य आश्रित है। अपनी अपेक्षा से तो पर्याय, पर्याय के आश्रय से है। पर्याय में षट्कारक लिया।

(कलशामृत, भाग - ६, पृष्ठ २७८ - २७९ में से, श्लोक २०८)

(४२) 'अनन्त शक्ति गर्भित' चेतनामात्र वस्तु की सर्वथा प्रकार से प्राप्ति हो। कथंचित् विकल्प भी प्राप्त हो और कथंचित् स्वभाव भी प्राप्त हो - ऐसा नहीं। कोई ऐसा कहते हैं कि 'सर्वथा' शब्द जैन में होता ही नहीं। किस अपेक्षा से? यह तो (प्रमाणज्ञान की विषयभूत वस्तु में) नित्य है, वही अनित्य है; एक है, वही अनेक है, उसमें कथंचित् है परन्तु द्रव्यार्थिकनय का (विषय) जो नित्य है, उसमें कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य - ऐसा है क्या? द्रव्य से तो नित्य ही है, पर्याय से अनित्य ही है। आहाहा.... यहाँ 'ही' लगता है। अब (प्रमाणज्ञान का विषय) पूरे द्रव्य की व्याख्या करने के लिए कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है, ऐसा कहते हैं। यहाँ श्लोक में कहा कि - **हमें सर्वथा आत्मा ही प्राप्त हो।** आहाहा! देखो, यह दिगम्बर सन्तों के अन्दर जलती हुई धूनी। जो अन्तर्मुख प्रभु भगवान है, उसे हम प्राप्त कर लें, बस! और कोई वस्तु हमें (चाहिए) नहीं।

(कलशामृत भाग - ६, पृष्ठ २९८, श्लोक २०९ के प्रवचनांश)

(४३) एक विशेष ज्ञान के सम्बन्ध से **(ज्ञेयं न अस्ति)** ज्ञेय वस्तु ज्ञान के साथ सम्बन्धरूप नहीं है। स्व और पर दोनों जानने योग्य पदार्थ हैं, वे ज्ञान के सम्बन्ध से ज्ञेय वस्तु के साथ सम्बन्धरूप नहीं है.... ज्ञेय दो प्रकार से कहा न!?

प्रश्न : पर के साथ सम्बन्ध नहीं है, पर्याय के साथ तो सम्बन्ध है।

उत्तर : यहाँ यह (बात) नहीं है। कल आया था न कि स्व-पर दोनों ज्ञेय को एक (समय में) साथ जानता है।

प्रश्न : (ज्ञान) निज में तन्मय होकर नहीं जानता।

उत्तर : पर्याय (द्रव्य से) तन्मय है नहीं, भिन्न है। बहुत सूक्ष्म बातें, बापा!

प्रश्न : प्रदेश से तो तन्मय है न?

उत्तर : उसके प्रदेश भी भिन्न है और भाव भी भिन्न है।

(४४) यहाँ शुद्धात्मा की सिद्धि अर्थात् साधकपना। अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप की एकाग्रता का सेवन, वह साधन है। विकल्पमात्र कर्मकृतभाव है... वह अपराध में जाता है। विकल्प का अवलम्बन आश्रय है, वह सअपराध है। आत्मा त्रिकाली निरुपाधिक स्वभाव है.... इसलिए उसका सेवन लक्ष, वह निरावरण ज्ञान, दर्शन पर्याय द्वारा किया जा सकता है। जैसा है, वैसे भाव से आत्मा जानने में आये ऐसा है। राग नहीं है, इसलिए राग से जानने में आये ऐसा नहीं है। वह अखण्ड ज्ञान की पर्याय से जानने में आये ऐसा है।

निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार नहीं है, क्योंकि व्यवहार उसमें नहीं है। व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से राग होता है, ऐसा नहीं है। निरावरण पर्याय द्वारा स्वभाव लक्षित होता है (परन्तु) वह पर्याय द्रव्य में नहीं है। उस पर्याय द्वारा द्रव्य जानने में आ सकता है क्या? पर्याय में द्रव्य जितना और जैसा है, वैसा जानने में आता है परन्तु पर्याय में आत्मस्वरूप नहीं आता। पर्याय में द्रव्य की नास्ति है और द्रव्य में पर्याय की नास्ति है। धर्म है, षट्कारक है, वह वस्तु में नहीं है। **पर्याय का सेवन-आश्रय (वह) द्रव्य को छूता नहीं। कथंचित् नहीं सर्वथा।** द्रव्य में कथंचित् पर्याय है और पर्याय में कथंचित् द्रव्य है, वैसा नहीं। पर्याय ने स्वतन्त्र कर्ता बनकर द्रव्य का लक्ष किया, उतना आश्रय। पर्याय, पर्याय में रही, द्रव्य में गये बिना; लक्ष पर की तरफ था, वह लक्ष द्रव्य की तरफ किया; तो आत्मा का सेवन किया - ऐसा कहते हैं।

(समयसार गाथा ३०४-३०५, दिनांक २१-१२-७९ के प्रवचन में से)

(४५) **प्रश्न :** आपने पहले कहा कि सामान्य में विशेष का अभाव है।

उत्तर : इस विशेष का तो अन्दर द्रव्य में अभाव है, परन्तु परिणमन तो द्रव्य के आश्रय से ही होता है न? एक समय की पर्याय उसमें है - ऐसा नहीं लिखा है। पूरा द्रव्य अनन्त गुण का पिण्ड है। सूक्ष्म बात है।

सामान्य भाव और विशेष भाव ऐसे दो धर्म हैं। वस्तु के दो धर्म (१) पर्याय धर्म- विशेष (२) गुणरूप धर्म-सामान्य में विशेष हो तो सामान्य नहीं रहता। विशेष में सामान्य आ जाये तो सामान्य नहीं रहता। यह तो आप्तमीमांसा में कहा है। दो धर्मों को सिद्ध करना है तो किसी की अपेक्षा नहीं है। विशेष, विशेष से है; सामान्य, सामान्य से है। फिर सामान्य किसका? कि इस विशेष का। विशेष किसमें से उत्पन्न हुआ? कहते हैं सामान्य में से। परन्तु हैं दो धर्म। विशेष, विशेष से है; सामान्य, सामान्य से है। दोनों निरपेक्ष हैं। सर्वज्ञ के सिद्धांत सब सन्तों ने कहे हैं। सब तरफ से एक ही बात सिद्ध होती है।

(आत्मधर्म, अक्टूबर २००९, अंक - २, वर्ष - ४, पृष्ठ- १९-२० में से)

(A) सन्त कहते हैं कि भाई! तेरी पर्याय को देखने की आँख को सर्वथा बन्द कर दे। देव-गुरु, पंच परमेष्ठी आदि को देखना तो बन्द कर दे, पर भाई! तेरी पर्याय को देखने की आँख को सर्वथा बन्द करके, तेरे द्रव्य को देखने की आँख को खोल करके देख! भाई! यह तो प्रवचनसार अर्थात् सन्तों के हृदय का मर्म है, सन्त ऐसा कहते हैं कि भाई! तेरी पर्याय को देखने की आँख तो बन्द कर दे, परन्तु सिद्ध पर्याय को देखना भी बन्द कर दे, तो उसे द्रव्य भगवान को देखने के चक्षु खुल जायेंगे। भाई! एक बार देख तो सही! प्रभु! तू कौन है? जहाँ पर्याय को देखने के नेत्र बन्द किये, वहाँ द्रव्य को देखने का ज्ञान उघड़ गया। अब यह भगवान छुपकर नहीं रह सकेगा।

(आत्मधर्म २००८, अप्रैल, अंक - ८, पृष्ठ ११ में से)

(B) तो कहते हैं - उसमें पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द कर... लो, यहाँ से शुरु किया है। द्रव्यार्थिक चक्षु को बन्द करके - ऐसे नहीं शुरु किया। कहते हैं - द्रव्य को देखने के लिए पर्यायार्थिक चक्षु को **सर्वथा** बन्द कर दो। गजब बात, भाई! पर्याय है तो सही, परन्तु उस तरफ देखने की दृष्टि बन्द कर दे, ऐसे बात शुरु की है।

(C) फिर पाठ में है कि - कथंचित् बन्द करके - ऐसा नहीं परन्तु पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, अकेले खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु से... आहाहा! द्रव्य को- त्रिकाली को जानना है ना? तो कहते हैं - विशेषनय की आँखें बन्द करके, द्रव्य जिसका प्रयोजन है, ऐसे द्रव्यार्थिकनय की आँख से देख! भाषा तो देखो! सिर्फ खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु से... आहाहा! त्रिकाली को जानना है ना? तो कहते हैं - विशेष नय की आँख बन्द करके, सामान्य को देखनेवाली-जाननेवाली द्रव्यार्थिक आँख से देख; इससे तुझे अवस्था में, सामान्य... सामान्य... द्रव्य भगवान आत्मा जानने में आयेगा। आहाहा! अवस्था को देखनेवाली आँख बन्द करके, सामान्य को देखने पर, उसे देखनेवाली विशेष पर्याय तो रहेगी, परन्तु पर्याय को देखने का विषय विशेष नहीं परन्तु सामान्य रहेगा। समझ में आया...?

(D) तेरे स्वरूप में दो (पक्ष) हैं। (१) सामान्य (२) विशेष। इन दोनों में से विशेष को देखने की आँख सर्वथा बन्द करके खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु से देखो। विशेष को देखने की आँख को कथंचित् खोल करके और कथंचित् बन्द करके, अथवा उसे गौण करके - ऐसे भी बात नहीं ली है। अहो! यह तो तत्काल सम्यग्दर्शन- वस्तुदर्शन होने की बात है। पर्याय को देखना बन्द कर दिया, इसलिए द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान खुल गया - ऐसा कहते हैं।

(E) आहाहा...! पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, मात्र खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु से जब अवलोकन करने में आता है, तब नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति, इन पर्यायस्वरूप विशेष में रहे हुए, एक जीव सामान्य को अवलोकन करनेवाले उन जीवों को 'वह समस्त जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।

(F) **प्रश्न :** श्रीमद्जी ने छह पद कहे हैं, उनमें सम्यग्दर्शन की व्याख्या की है, तो उन छह पदों को देखना तो चाहिए न?

उत्तर : भाई! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि - छह पद के जो भेद हैं, उन्हें भी देखनेवाली आँख को सर्वथा बंद करके... (द्रव्य को देखनेवाले प्रगट द्रव्यार्थिकनय से देख)। आहाहा! किसी को सूक्ष्म लगे तो ध्यान से सुनना, बापू! यह तो अमृत का घर है। मुश्किल से बाहर आया है। तो उसे धीरे से, सावधानी से सुनना, समझना। आहाहा! ऐसा समय कब मिलेगा, भाई!

(G) कहते हैं – 'उसमें, पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके' देखो। अपनी पर्याय में जो विशेषता जानने में आती है, वह अपनी पर्याय ही जानने में आती है, पर नहीं; इसलिए पर को जानने के चक्षु को बन्द करके, ऐसा नहीं कहा परन्तु अपनी पर्याय को जाननेवाले पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके - ऐसा कहा। आहाहा! क्या गहन वस्तु है, भगवान! यह प्रवचनसार, समयसार और नियमसार की एक-एक गाथा अति गम्भीर और अलौकिक है।

(H) आहाहा...! कहते हैं - पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके अर्थात् अपनी पर्याय का लक्ष ही छोड़कर, सिर्फ खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु से अवलोकन कर। यह क्या कहा? कि जब पर्याय को देखनेवाली पर्यायार्थिक दृष्टि को बन्द किया तो अब कोई देखनेवाली दृष्टि रही या नहीं? तो कहते हैं - द्रव्य को देखनेवाली दृष्टि रही है। कहा न कि - सिर्फ खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु से देख। आहाहा! **यह द्रव्यार्थिकनय है, वह ज्ञान है, वह खुला हुआ ज्ञान है। है तो वह पर्याय, परन्तु वह देखनेवाली पर्याय, पर्याय को नहीं देखकर, द्रव्य को देखती है। पर्याय को जाननेवाली पर्याय सर्वथा बन्द करता है, परन्तु ज्ञान सर्वथा बन्द नहीं हुआ। ज्ञान तो खुला हुआ है, और वह द्रव्य को जानता है। लो, ऐसी बातें, भाई! यह तो तीन लोक के नाथ की दिव्य वाणी है!**

(I) आहाहा! भगवान! तू सामान्य विशेष है। वहाँ तेरे विशेष में पर को जानना - ऐसा कुछ है नहीं, क्योंकि वहाँ तो अपनी पर्याय ही जानने में आती है। तो कहते हैं - वह जो पर्याय जानने में आती है, उसे देखनेवाले पर्यायार्थिक चक्षु **सर्वथा** बन्द कर दे। तो अब जब पर्याय को देखनेवाले चक्षु सर्वथा बन्द किये तो देखनेवाला अन्य कोई ज्ञानचक्षु रहा या नहीं? तो कहते हैं कि द्रव्य को देखनेवाले ज्ञानचक्षु प्रगट उघाड़रूप हैं। कहा न कि - **सर्वथा** बन्द किया है परन्तु द्रव्य सामान्य को देखनेवाला ज्ञान तो खुला ही है। जहाँ पर्याय को देखना सर्वथा बन्द किया, वहाँ द्रव्य को देखने का ज्ञान खुल गया है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि स्वयं जाननेवाला है न! जाननेवाले की पर्याय में अन्धेरा हो जाये, अर्थात् जानना ही बन्द हो जाये, ऐसा तो कभी भी है नहीं।

(प्रवचनसार गाथा ११४, दिनांक ११-७-७९ के प्रवचन में से)

(४८) भगवान आत्मा! द्रव्यसामान्य जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अचिन्त्य शक्ति का एकरूप सागर प्रभु! उसे द्रव्यार्थिकनय के खुले हुए ज्ञान से देखने पर वह सब जीव ही है। इसप्रकार

अन्दर में परिणमन करे तो प्राप्त हुए बिना रहता ही नहीं। पर्याय को देखनेवाली आँख सर्वथा बन्द करके और द्रव्य को देखनेवाले खुले हुए द्रव्यार्थिकनय के ज्ञान से पाँचों ही पर्याय में रहे हुए आत्मा को देख। पर में तो रहा ही नहीं है, पर की पर्याय में भी नहीं रहा, व्यवहार से भी नहीं रहा। आहाहा! यह पंचम काल है! ऐसा हल्का काल है! आहाहा! जिसे पर्यायनय भी लागू नहीं पड़ता, उसे काल कहाँ से लागू पड़ेगा?

दोनों नय आयें, वह ज्ञान सच्चा - ऐसा नहीं है, परन्तु पर्याय, पर्यायनय की आँख को बन्द करके, पर्याय में-विशेष में रहे हुए एक जीव सामान्य को देखे, तब ज्ञान सच्चा कहलाता है।

(बाद में) पर्यायनय से देखने पर पर्याय भासित होती है, ऐसा ज्ञान करने को कहेंगे, परन्तु ज्यादा जोर यहाँ पर है कि पर्याय को देखना सर्वथा बन्द कर दे! आहाहा! सिद्ध की पर्याय को भी देखना बन्द कर दे! अरे! गुणभेद भी नहीं, ऐसे एकरूप आत्मा को देख! अरे! जीव शान्ति से विचारते नहीं, पढ़ते नहीं और एकदम कह देते हैं कि एकान्त है।

(आत्मधर्म, वर्ष १, २००७ अप्रैल, ११८ वीं जन्मजयंति विशेषांक)

(४९) त्रिकाली स्वभाव और परिणाम स्वभाव, ये दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं; परन्तु (समुच्चय) द्रव्य की अपेक्षा से उसे एक कहने में आता है।

(द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल ३६३)

(५०) पर्याय, त्रिकाली द्रव्य से सर्वथा ही भिन्न है, प्रमाण में अभिन्नता भी कहने में आती है परन्तु प्रमाण निश्चयनय को झूठा करके नहीं कहता है। निश्चयनय से तो पर्याय सर्वथा भिन्न है। प्रदेश एक होने से प्रमाण उसे अभिन्न कहता है; प्रमाण अभिन्न कहता ही है, ऐसा भी नहीं है, भिन्न-अभिन्न दोनों कहता है परन्तु 'एकान्त भिन्न है' ऐसा जोर दिये बिना, पर्याय से दृष्टि हटेगी नहीं। अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति के अलावा अन्य किसी हेतु से उपकारी नहीं है - यही सत्य है।

(द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल २६५)

पूज्य भाई श्री लालचन्दभाई के हृदयोद्गार

जीव को अनादिकाल से स्वतः, किसी के उपदेश बिना, धारावाहिकरूप से व्यवहार का पक्ष चल ही रहा है, यह कौन-सा पक्ष है? किसका पक्ष है? उसकी विस्तार से छनावट करनी है। अनादि से अनवरतरूप से परिणाम प्रगट होते ही रहते हैं। राग-द्वेष के परिणाम, हिंसा-अहिंसा के परिणाम, खण्ड-खण्ड भावेन्द्रिय के परिणाम से; उसका परमात्मा भिन्न होने पर भी... उन-उन परिणामों में उसकी आत्मबुद्धि प्रवर्तमान होने से, उसका मिथ्यादर्शनरूप का अध्यवसान भी साथ ही साथ चल रहा है।

शास्त्र में व्यवहार के प्रकार लोकप्रमाण असंख्यात बताये हैं। (कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव हो तो उसे छोड़कर यह बात है)। जिनागम के अभ्यास के बाद और पूज्य कहानगुरु द्वारा दृष्टि के विषय सम्बन्धी पराकाष्ठा से स्पष्टता मिलने पर भी, जीवों को गहरे-गहरे व्यवहार का पक्ष पड़ा ही रहता है। विजातीय ऐसा आस्रवतत्त्व.... आत्मतत्त्व से सर्वथा भिन्न होने पर भी, उसे कथंचित् अभिन्न मानकर, अध्यवसान के पाप का सेवन कर रहा है। अनादि मूढ़, व्यवहारारूढ़, निश्चय अनारूढ़ जीव... मिथ्यात्व के शल्य से निःशल्य किस प्रकार हों! वह विधि परमागम के आधार से और पूज्य गुरुदेवश्री आदि ज्ञानी धर्मात्माओं के आधार से, अप्रतिबुद्ध को प्रतिबुद्ध होने के लिए कहूँगा।

समयसार की शुरुआत ही छठी गाथा से होती है। एक ही गाथा में प्रयोजनभूत सम्पूर्ण विषयवस्तु को बता दिया। पाँचवीं गाथा में भेदज्ञान के बीज डाल दिये। अनन्त गुणों से एकत्व और परिणाममात्र से विभक्त आत्मा दिखाऊँगा; हे भव्य जीव! तुम तुम्हारे स्वानुभव से प्रमाणित करना।

पूज्य गुरुदेव के सिंहनाद से हजारों-लाखों जीव अपनी योग्यतानुसार स्वाध्याय, मनन, चिन्तवन करने भी लगे हैं और अपनी योग्यतानुसार पुरुषार्थ भी कर रहे होने पर भी सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता? ऐसी कौन-सी भूल घर करके, अन्दर छुपकर बैठी है... जो चरम लक्ष्य त्रिकाल ध्रुव भगवान से मिलन नहीं होने देती!? जो जीव देह, कर्म, वाणी को अपने मानकर बैठा हो... उसे तो परिणाम की ममता छूटना बहुत कठिन है परन्तु यहाँ तो जिसे वस्तु की स्वतन्त्रता बैठ गई है, जिसे दो द्रव्यों के बीच का भेदज्ञान समझ में आ गया है, उसे वही सिद्धांत, द्रव्य-पर्याय के भेदज्ञान में लागू करना है। जिन्हें शुद्धात्मा की चाहना है, ऐसे जीवों के लिए यह पकवान है।

दृष्टि का विषय, उत्पाद-व्यय से भिन्न ध्रुव तत्त्व है। ध्रुव ध्येय का जिसे भान नहीं है और उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत् का जिसे ज्ञान नहीं है, वह वास्तव में भेदविज्ञान से शून्य होने से स्वच्छन्दता में ही रहता है। यहाँ मिथ्यात्व से मुक्त होने के उपाय की चर्चा होने से... मिथ्यात्वी को आत्मघाती, महापापी और स्वच्छन्दाचारी कहा है। जगत के सामान्य जीव तो पुण्य से धर्म मानने लगे। विद्वानों ने स्याद्वाद को पकड़ लिया। कथंचित् की नलिनी को मजबूती से पकड़ लिया।

कथंचित् क्रोध, पुद्गल का और कथंचित् जीव का! इसमें क्या दोष है? तू आगम प्रमाण में अटक गया, वह दोष नहीं है? क्रोधादि भाव, जीव के तो नहीं हैं, परन्तु जीव का स्वांग भी नहीं हैं। द्रव्यदृष्टि प्राप्त करने का बलवान साधन था **'एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्'** रागी तो पुद्गल है, वहाँ तक पहुँचना पड़ेगा। उसके बिना एकताबुद्धि नहीं छूटेगी। कलश-टीका में पुद्गलद्रव्य दो प्रकार के बताये हैं। (१) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि सहित। (२) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि रहित। अजीव, अरूपी और रागी है, ऐसे दो नम्बर के पुद्गल से जगत के जीव अनजान हैं।

जैनदर्शन की शुरुआत सर्वथा से ही होती है, कथंचित् से नहीं होती; क्योंकि सर्वप्रथम श्रद्धा का विषय तो निश्चित् करना पड़ेगा। श्रद्धा का विषय सम्यक् एकान्त होता है या सम्यक् अनेकान्त? श्रद्धा के विषय में कथंचित् आता है? या सर्वथा आता है? नय के विषय को मुख्य करने से श्रद्धा बलवान होती है या प्रमाण के विषय को मुख्य करने से द्रव्यदृष्टि प्रगट होती है? सभी कुछ उपादेय है, ऐसा नहीं है। नय और प्रमाण दोनों का विषय समान ही है, ऐसा नहीं है। उसे चुनाव तो करना ही पड़ेगा। सर्वार्थसिद्धि टीका में पूज्यपाद आचार्यदेव फरमाते हैं कि - ज्ञानपर्याय है, वही ध्यान है। ध्यान की पर्याय निज को विस्मृत करती है... और 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे ज्ञायक में एकत्व करती हुई समा जाती है। इसप्रकार दृष्टि का विषय, दृष्टि में आये, उसे (परिणामी) द्रव्य का निश्चय कहते हैं। जयसेन आचार्यदेव ने गाथा ३२० में कहा 'सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर-शुद्ध-पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वही मैं हूँ', परन्तु ऐसा नहीं भाता कि 'खण्डज्ञानरूप मैं हूँ।' अतीन्द्रियज्ञान को खण्ड ज्ञान कहा, क्योंकि साधक को उसमें सर्वार्पणता नहीं है। द्रव्य की दृष्टि होते ही स्वयं आनन्द से छलक जाता है।

प्रमाण के पक्षपाती को ऐसा भय लगता है कि परिणाम से सर्वथा भिन्न लेने से मिथ्या एकान्त तो नहीं हो जायेगा न? मिथ्याभासी तो नहीं होगा न? अरे... भाई! उसमें सम्यक् एकान्त होने से तुझे सम्यक् एकान्त का अनुभव होगा। ज्ञान का उपादेयभूत विषय भी दृष्टि के विषय को उपादेय बनाने जितना ही लक्ष में लेने योग्य है, अन्य कुछ उसका प्रयोजन नहीं है। क्योंकि प्रमाण का प्रयोजन, निश्चय को प्रकाशित करने का ही था। अनन्त शक्ति का पिण्ड प्रभु परमात्मद्रव्य है। उसके अनन्त गुणों की हर समय अनन्त पर्यायें प्रगट होती हैं। एक श्रद्धा की पर्याय, पर की तरफ झुकती है तो सभी पर्यायें पर की तरफ झुक जाती हैं। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि पर्यायों ने पर का आश्रय किया। जहाँ चैतन्यबिम्ब है, वहाँ दशा को ले जाये, तो परिपूर्ण परमात्मा, ज्ञान का ज्ञेय और श्रद्धा का श्रद्धेय होने से सर्वगुणांश वह समकित होता है।

यहाँ प्रमाणभूत द्रव्य के बाहर की तो बात ही नहीं करते हैं, क्योंकि इसका अस्तित्व प्रमाणभूत द्रव्य में ही रहा हुआ है। द्रव्य बिना परिणाम नहीं, परिणाम बिना द्रव्य नहीं; ऐसा परस्पर सापेक्ष युगल पदार्थ है। एक ही पदार्थ में परस्पर विरुद्ध दो नयों के विषय रहते हैं, इसलिए पदार्थ में ही हेय-उपादेय होता है। द्रव्य के आधार से परिणाम नहीं हैं और परिणाम के आधार से द्रव्य नहीं है। द्रव्य... द्रव्य के आधार से है और परिणाम... परिणाम के आधार से है।

इसप्रकार द्रव्य से परिणाम निरपेक्ष है और परिणाम से द्रव्य निरपेक्ष है। दो वस्तु, दो चीज, दो सत्, दो सत्ता भिन्न-भिन्न हैं। त्रिकाली परमपारिणामिकभाव एक जीव, बाकी सब अ...जीव अर्थात् जीव नहीं। वास्तव में जो परमार्थ जीव है उसे परिणाम नहीं होते, यह बात परमात्मप्रकाश में कही है। अनन्त गुणमय अभेद एक स्वभाव; समस्त भेद, परभाव। ज्ञायकभाव स्वद्रव्य; उपजते-विनशते भाव परद्रव्य। अब यदि स्वद्रव्य, परद्रव्य के बीच में स्यात् लगावे तो परद्रव्य के साथ एकत्वबुद्धि हो जाती है। पहले से कथंचित् लगाते रहने से अर्थात् कथंचित् में रमण करते रहने से उसे मिथ्यात्व दृढ़ होता है, क्योंकि उसे प्रमाण, ऐसा व्यवहार उपादेय हो गया। उसे स्वद्रव्य और परद्रव्य के बीच में सर्वथा भेदज्ञान नहीं होने से, उपादेय परमात्मा में 'मैंपना' नहीं होने से, द्रव्यदृष्टि प्रगट नहीं होने से; वह मोक्षमार्ग से वंचित रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं - 'प्रमाण है, वह स्वयं ही व्यवहार है।' द्रव्य और पर्याय दोनों इकट्ठे हुए, इसलिए व्यवहार। निश्चय और व्यवहार दोनों इकट्ठे हुए न! इसलिए प्रमाण, स्वयं सद्भूत व्यवहार का विषय है, निश्चय का नहीं। इसलिए कहा कि प्रमाण पूज्य नहीं है, निश्चय पूज्य है क्योंकि उसमें अकेला द्रव्य आता है, जबकि प्रमाण में पर्याय का निषेध नहीं आता, इसलिए पूज्य नहीं है। यह परमार्थ की अपेक्षा से बात है। निश्चय में व्यवहार के निषेध की ताकत है; जबकि प्रमाण में व्यवहार के निषेध की ताकत नहीं है।

(परमात्मप्रकाश, दिनांक १२-७-७६ के प्रवचन में से)

निष्कर्ष यह निकला कि जहाँ तहाँ कथंचित् नहीं लगा सकते। अपेक्षा समझकर कथंचित् लगाना चाहिए। दृष्टि के विषय में कथंचित् लगाने से, उसमें सापेक्षता आ जाने से, निरावरण निरपेक्ष तत्त्व की बात ढीली पड़ जाती है। दृष्टि का जोर जितनी मात्रा में आना चाहिए, उतना नहीं आने से प्रमाण के विषय में ही अटक जाता है और जो प्रमाण में अटका है, उसे नियम से भेद में ही एकता वर्तती है। आप्तमीमांसा के आधार से पूज्य गुरुदेवश्री बहुत बार यह न्याय फरमाते थे। न्याय के ग्रन्थ में 'द्रव्य सत्, परिणाम सत् की बात कही है।' द्रव्य, पर्याय से विरुद्ध धर्म है और पर्याय, द्रव्य से विरुद्ध धर्म है। दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव से हैं। इसलिए परिणामी द्रव्य का अहं करना, वह अज्ञानी का मिथ्या आग्रह है। परिणाम को द्रव्य में मिलाकर, दृष्टि के विषय को पूर्ण माननेवाला... परिपूर्ण द्रव्य को ही अपूर्ण मान रहा है। परिपूर्ण द्रव्य को अपूर्ण माना; इससे परिणाम को अभेद रखकर समकित प्रगट करने का प्रयत्न करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि परिणाम, प्रमाणभूत द्रव्य का भाग-अंश होने पर भी, वह स्वयं द्रव्य नहीं है। द्रव्य और परिणाम, इन दोनों की भाव से भिन्नता है; उन्हें एक करने का प्रयत्न ही मिथ्यादर्शन है; अध्यवसान का महापाप है। द्रव्य से पर्याय अत्यन्त भिन्न है। अब जो भिन्न है, वह द्रव्य को स्पर्श करे तो अभाव का भाव हो जाये। बहुत सूक्ष्म बात है।

धर्मी और धर्म दो नाम अलग हैं तो उसके दो वाच्य भी अलग-अलग होने चाहिए। सामान्य, सामान्य से है; विशेष, विशेष से है, दोनों अपने-अपने स्वरूप से ही रहे हैं। इस तरह दो

धर्म सिद्ध होते हैं। दोनों धर्म, परस्पर अपेक्षा से सिद्ध नहीं हैं। इस तरह पर्याय में, पर्यायरहित आत्मा प्रतीत में आते ही निर्मलपर्याय से सहित आत्मा, ज्ञान में स्वज्ञेयरूप से जानने में आता है। ऐसा एक समय में होता है, तब वहाँ अनुभव होता है। दो समय लगें तो पक्षातिक्रान्त नहीं हुआ है। द्रव्यानुयोग बहुत ही सूक्ष्म और गम्भीर है। कृपालुदेव ने ऐसे कहा है कि वास्तव में सम्यग्दृष्टि का ही द्रव्यानुयोग में प्रवेश होता है, उसमें मिथ्यादृष्टि का प्रवेश नहीं हुआ है, तो भी इतनी बात कही है कि - जो सूक्ष्म बोध का अभिलाषी है, वह महावीर के उपदेश का पात्र है, क्योंकि वह गुरु के अन्तरंग के अभिप्राय को समझ लेता है। जैनदर्शन, एकदम आगम से, युक्ति से, तर्क से, न्याय से, अनुमान से और अनुभव से सिद्ध होता है।

प्रश्न : अज्ञान गया नहीं, ज्ञानी हुआ नहीं और भावेन्द्रिय में स्वीकार करूँ कि द्रव्य से पर्याय भिन्न है... तो वह यथार्थ है?

उत्तर : शत-प्रतिशत यथार्थ है। 'सर्वथा' भिन्न सम्यक् एकान्त का द्योतक है। आत्मानुभव से पहले; मानसिक ज्ञान में ऐसा सविकल्प भेदज्ञान होता है; इसलिए उसे वस्तुस्वभाव को व्यवहार श्रद्धा में लेना चाहिए। अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें प्रगट होती हैं, वे पर्यायें, मेरे शाश्वत् ध्रुव प्रभु से भिन्न हैं। इस तरह दृष्टि की प्रधानतावाले भाव को पुष्ट करने से परिणाम की कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि, ज्ञाताबुद्धि गलती है। परिणाम मुझसे सर्वथा भिन्न है, तो मैं उसका कर्ता कैसे हो सकता हूँ? परिणाम, कर्ता का कर्म नहीं है तो ज्ञाता का ज्ञेय कहाँ से हो? क्योंकि स्वरूपग्राही ज्ञान, अभेदग्राही ही होता है। फिर चाहे वह ध्येय को विषय बनाये या स्वज्ञेय को विषय बनाये।

प्रश्न : ज्ञानी धर्मात्मा, द्रव्य से परिणाम को सर्वथा भिन्न कहे, वह तो ठीक है, क्योंकि उनको तो कथंचित् का ज्ञान है परन्तु अज्ञानी, परिणाम को सर्वथा भिन्न कहे तो वह खतरा नहीं कहलायेगा?

उत्तर : बिल्कुल खतरा नहीं है। कथंचित् में था, वह खतरा था; सर्वथा में आया तो शुद्धनय के पक्ष में आया.... जो अनादिकाल से शुद्धनय के पक्ष में आया नहीं था। उसने परमागम के आधार से और गुरुगम से, अपनी श्रद्धा को मजबूत किया है। अपने आत्मा को श्रद्धा के पहलू से देख रहा है। इतना ज्ञानी-अज्ञानी के बीच में अंतर है। दोनों में तारतम्यता है। गुरु के पास से सुना है, खुद को बात बैठी है और अन्दर में पलटा हुआ है; वही ऐसा कहेगा, वरना प्रमाण के पक्षवाले की तो जीभ भी नहीं चलेगी। अनन्तकाल से जो बात नहीं बैठी थी, वह उसकी योग्यता पकने पर बैठ गई। उसे ख्याल आया कि- द्रव्य को परिणाम से अभिन्न मानता था, वही विपरीत दृष्टि थी। परिणाम सत् है; इसलिए द्रव्य से सर्वथा भिन्न है। परिणाम का कर्ता परिणाम है और मैं तो अकर्ता हूँ। परिणाम प्रगट होता है परन्तु उसका मालिक नहीं बनता। अभी अनुभव नहीं हुआ है। बन्ध-मोक्ष के परिणाम मुझसे सर्वथा भिन्न होने से... मैं उनका करनेवाला नहीं हूँ... ऐसी तैयारीवाला मानसिक ज्ञान होता है। शुद्धात्मा की भावना के सन्मुख

हुआ है, अर्थात् सविकल्प स्वसंवेदन की भूमिका में आया होने से... शुद्धात्मा को मन से जान लेता है।

प्रश्न : तुझे कथंचित् भिन्न-अभिन्न का ज्ञान हुआ है?

उत्तर : वह मुद्दे का जवाब देता है कि - हो जायेगा! सर्वथा भिन्न के जोर में हो जायेगा। जिसे समकित होने का स्वकाल पकता है, वह सर्वथा भिन्न में आये बिना रहता ही नहीं। वह कथंचित् का पक्ष छोड़ देता है। प्रमाण में से नय में आ जाता है। नय का विषय सम्यक् एकान्त है... और सम्यक् एकान्त में आते ही ज्ञानानुभूति होगी, उसमें निर्मल परिणाम से कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न - ऐसा स्याद्वाद का पहलू सहज ही आ जायेगा। स्याद्वाद के साथ सुसंगत ऐसी दृष्टि के द्वारा आत्मा प्राप्त होता है। अब उसे कथंचित् भिन्न की दृष्टि नहीं है और सर्वथा भिन्न का ज्ञान नहीं है, अर्थात् दृष्टि में कथंचित् नहीं होता, सर्वथा ही होता है; ज्ञान में सर्वथा नहीं होता, कथंचित् ही होता है। सारांश यह है कि दृष्टि में 'कथंचित्' जहर है और ज्ञान में 'सर्वथा' जहर है।

यहाँ तो श्रीगुरु की बात पर जिसे निःशंक श्रद्धा है, ऐसी योग्यतावाला अज्ञानी लेना। गुरु ने कहा कि द्रव्य से पर्याय सर्वथा भिन्न है। द्रव्य को पर्याय छूती ही नहीं न! द्रव्य निष्क्रिय होने से परिणाम का कर्ता तो है ही नहीं परन्तु अनुभव से पहले परिणाम का ज्ञाता भी नहीं है। इसका न्याय ११४ गाथा में दिया है कि 'पर्यायार्थिक चक्षु सर्वथा बन्द होते हैं।' कथंचित् बन्द करे तो आत्मानुभूति होती है - ऐसा नहीं कहा। इस न्याय से भी द्रव्य से परिणाम सर्वथा भिन्न है- ऐसा सिद्ध होता है। शिष्य तैयारीवाला है, इसलिए जानता है कि- अनुभव से पहले कथंचित् भिन्न-अभिन्न नहीं हो सकता। सर्वथा भिन्न लेने में श्रद्धा का गुण प्रगट होता है। इसप्रकार अनुभव के पहले जीव, सर्वथा भिन्न के पक्ष में आ जाता है। शुद्धनय के पक्ष में आया है... परन्तु अभी पक्षातिक्रान्त हुआ नहीं है। ऐसे शुद्धनय के पक्ष में आया है कि उसे पक्षातिक्रान्त होकर अनुभव होगा और कथंचित् भिन्न-अभिन्न का ज्ञान हो जायेगा, क्योंकि सर्वथा भिन्न का फल ही कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। श्री निहालभाई सोगानीजी का जोर सर्वथा के ऊपर ही था।

प्रश्न : सर्वथा भिन्न कहनेवाले को दृष्टि का विषय हाथ में आ जायेगा?

उत्तर : हाँ, सर्वथा भिन्न कहनेवाले को ही दृष्टि का विषय हाथ में आता है। कथंचित् भिन्न-अभिन्न के पक्ष में खड़े रहनेवाले को दृष्टि का विषय हाथ में आता ही नहीं। सर्वथा अकर्ता माननेवाले को, कथंचित् अकर्ता का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि सर्वथा अकर्ता माने बिना, कर्ताबुद्धि नहीं छूटती... और दृष्टि अन्दर में नहीं आती। अकर्ता के लक्ष से दृष्टि अन्दर आते ही, ज्ञान प्रगट होता है, जो अकर्ता-कर्ता को जान लेता है। अनुभव ज्ञान में ही निश्चय-व्यवहार समाता है।

प्रश्न : परिणाम से सर्वथा भिन्न लेने से दृष्टि निर्मल होती है तो उसके पहले अज्ञानी कथंचित् ले तो उसका ज्ञान निर्मल नहीं होगा?

उत्तर : निर्मल नहीं होकर ज्यादा मलिन होगा। कथंचित्, वह प्रमाण का अर्थात् व्यवहार का पक्ष है; इसलिए कथंचित् के बहाने उसका मिथ्यात्व दृढ़ होगा। जबकि सर्वथा भिन्न लेने से मिथ्यात्व गलने लगेगा। गलेगा तो जायेगा, यह एकदम मुद्दे की बात है। यदि सर्वथा भिन्न कहोगे तो जीव स्वच्छन्दी हो जायेगा - ऐसा तर्क करनेवाले भी होते हैं न? अरे! तुझे पता नहीं... उसमें तो स्वतन्त्र होगा। नाटक समयसार का दृष्टान्त, द्रव्यदृष्टि प्रकाश में दिया है कि - तोता ऐसा मानता है कि यदि मैं इस नलिनी को छोड़ दूँ तो नीचे गिरकर मर जाऊँगा, इसलिए वह उस नलिनी को छोड़ता नहीं और दुःख का कोई पार नहीं है। नलिनी छोड़ने से तू मरेगा नहीं परन्तु उड़ जायेगा, क्योंकि उड़ना तो तेरा स्वभाव है। ऐसे जिसे व्यवहार की पकड़ है, उसे छोड़े तो सम्यग्दर्शन होवे। 'पर्यायार्थिक चक्षु बन्द कर' उसका अर्थ ही यह है कि उसने व्यवहार को सर्वथा छोड़ दिया। सामान्य को अवलोकन करने से अनुभूति हो गई।

प्रश्न : सर्वथा भिन्न कहने से आत्मा कैसे जानने में आता है? इससे कथंचित् भिन्न यथार्थ नहीं है?

उत्तर : पहले कथंचित् यथार्थ नहीं है। पहले सर्वथा में आओ। परिणाम, आत्मा नहीं; अनात्मा है। परिणाम में जो आत्मबुद्धि थी, वह सर्वथा भिन्न लेने से छूट जाती है। श्रद्धा, विषय के बिना तो रहती नहीं। पहले श्रद्धा, परिणाम में अहं करती थी, अब श्रद्धा ऐसा स्वीकार करती है कि परिणाम मुझसे सर्वथा भिन्न है... और मैं तो चिदानन्दमूर्ति हूँ.... वहाँ दृष्टि द्रव्य के ऊपर आ जाती है और स्वानुभव हो जाता है। अब जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, वह कथंचित् भिन्न-अभिन्न को जैसा है वैसा जानेगा। उसे ज्ञान के ऊपर छोड़ दे न!

परिणाम से सर्वथा भिन्न मानने से ज्ञान का द्रोह हो जायेगा... ऐसे भय ही भय में रह गया। अरे! श्रद्धा सच्ची होगी तो ज्ञान भी सच्चा होगा - ऐसा क्यों नहीं लेता! जिसमें शीघ्रता से साध्य की सिद्धि हो, उसे तुरन्त समझ लेना।

एक दूसरा न्याय यह भी है कि - श्रद्धा निर्विकल्प है; इसलिए श्रद्धा बलवान है। जबकि ज्ञान सविकल्प है; इसलिए कमजोर है, क्योंकि उसमें कथंचित् आता है और कथंचित् कहते ही वह कमजोर हो जाता है, जबकि सर्वथा कहते ही दृष्टि बलवान हो जाती है।

प्रश्न : आत्मा, परिणाम से सर्वथा भिन्न है, ऐसा मानने में हमें विरोध है, यदि आप सर्वथा भिन्न कहोगे तो आनन्द नहीं आयेगा।

उत्तर : ज्ञानी कहते हैं कि मैं सर्वथा भिन्न मानता हूँ तब ही आनन्द आता है। कथंचित् भिन्न कहने से किनारे आई हुई खजूर की टोकरियाँ डूब जाएंगी। कथंचित् भिन्नवाला ज्ञान सच्चा करने जाता है, परन्तु जाने हुए का श्रद्धान होने से; उसकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, इसका पता नहीं चलता। जब कथंचित् अभिन्न बोल रहा है, तब मान रहा है परिणाम से सर्वथा अभिन्न। अब उसको परिणाम में से एकत्व तुड़वाने के लिए सर्वथा भिन्न का ही हाई डोज़ (high dose) देना

पड़ता है। गुरु को ख्याल आ गया है कि शिष्य स्याद्वाद के पक्ष में चढ़ गया है। वह कथंचित् अभिन्न के बहाने सर्वथा अभिन्न मानने लगा है।

प्रश्न : हम स्याद्वादी हैं, इसलिए कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध ऐसे स्याद्वाद में ज्ञान तो बढ़ गया न?

उत्तर : आत्मा परिणाम से सहित है, वह व्यवहार का पक्ष होने से परिणाम की कर्ताबुद्धि में उसका ज्ञान आवृत हो जाता है, ज्ञान खुला ही नहीं तो ज्ञान बढ़ने की तो बात / सवाल ही नहीं है। स्याद्वाद के लोभ में चढ़ जाने से उसे व्यवहार का पक्ष है। वह स्याद्वाद के रहस्य को जानता नहीं। यदि स्याद्वाद के रहस्य को जाने तो प्राप्त करे। प्रमत्त-अप्रमत्त से सर्वथा भिन्न, अनन्त गुणमय अभेद आत्मा को दृष्टि में लेने से अनुभव होता है। अनुभव के समय ही दृष्टि और ज्ञान का युगल प्रगट होता है। वह सम्यक् प्रमाण ज्ञान, शुद्ध परिणाम आत्मा से कथंचित् भिन्न-अभिन्न है - ऐसा जान लेगा; इसलिए सबसे पहले परिणाम से सर्वथा भिन्न आत्मा को दृष्टि में लेना। सर्वथा भिन्न का जोर आता है तो आत्मा जानने में आता है, आता है और आता ही है। कथंचित् भिन्न में आत्मा नहीं जानने में आयेगा परन्तु राग जानने में आयेगा।

समयसार, ३२० गाथा, दृष्टि के विषय की गाथा है। परिणाम से भेदविज्ञान कराने के लिए आचार्यदेव ने तीन शब्द रखे हैं। द्रव्य में परिणाम का अभाव है। द्रव्य, परिणाम से रहित है। निष्क्रिय परमात्मा, बन्ध-मोक्ष के कारण से शून्य है। परिणाम को क्यों नहीं करता? 'तद्रूपो न भवति।' अज्ञानी को जिस समय परिणाम से सहित दिखता है, उसी समय अन्तरदृष्टिवाले को परिणाम से रहित दिखता है। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।' परिणाम से सहित आत्मा को उपादेय माननेवाले की वाणी वीतराग की नहीं है, वह तो कागवाणी है। परिणाम से सहित माने... तो भी निष्क्रिय कारण जीव, एक समय भी सक्रीय परिणाम से सहित नहीं होता... इसलिए उसका अध्यवसान अवस्तुरूप है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि का कोई विषय ही नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने दृष्टि की प्रधानता से ही प्रतिपादन किया है। उनकी वाणी में द्रव्यदृष्टि की तीक्ष्णता थी। द्रव्य, पर्याय की सर्वथा भिन्नता की बौछार बरसती थी, दृष्टि की जमावट की बात अनेकों बार जमती थी... परन्तु व्यवहार का प्रबल पक्ष होने से, वह अपूर्व बात लक्ष में आती नहीं। **समयसार गाथा १३ के भावार्थ के प्रवचन में कहते हैं पर्याय, द्रव्य में गई नहीं। पर्याय अखण्ड तत्त्व नहीं है। पर्याय में द्रव्य आया नहीं और पर्याय में द्रव्य है नहीं, अर्थात् पर्याय में द्रव्य रहता नहीं।**

द्रव्य में पर्याय का अभाव है - ऐसा जब सन्त फरमाते हैं, तब समझ जाना चाहिए कि- यहाँ केवल परम पारिणामिकभाव स्वरूप परमात्मद्रव्य ही बताना है। जब ऐसा कहें कि- द्रव्य से परिणाम भिन्न है... वहाँ द्रव्य, पर्याय के बीच भेदविज्ञान कराना है। परिणाम है सर्वथा भिन्न और तू मान बैठा है सर्वथा अभिन्न, इससे तेरी दृष्टि में द्रव्य वास्तव में तिरोभूत ही रहता है। यहाँ कथंचित् का शल्य उठेगा तो यह भाव समझ में नहीं आयेगा।

'सर्वथा भिन्न' के जोर से 'सर्वथा अभिन्न' का मिथ्यात्व गलने लगता है, वही सच्चा उपाय है। सच्चे विचार में मिथ्यात्व गलता है, और अनुभव होने पर मिथ्यात्व टलता है। जब 'सर्वथा' का पाठ चलता हो, तब कथंचित् का शल्य उठाएगा तो 'सर्वथा' का पाठ पक्का तो नहीं होगा, परन्तु कच्चा भी नहीं होगा। एक बार 'सर्वथा भिन्न' में आकर मजा तो देख! तुझे ऐसा लगेगा कि **मैं तीन लोक के ऊपर तैरनेवाला सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हूँ।** स्वयं तैरता पदार्थ है, उसे तैरना नहीं है। 'सर्वथा भिन्न' बिना वह जितनी भी कोशिश करे, श्रद्धा सम्यक् नहीं होगी।

सामान्य में विशेष का सर्वथा अभाव कहो, तब ही सामान्य एक भाव की सिद्धि होती है। द्रव्य सत् और परिणाम सत्, इन दोनों को परस्पर निरपेक्ष लेने से ही दोनों की भिन्नता भासित होती है... और तब ही श्रद्धा को उसका विषय स्पष्ट मिलने से... श्रद्धा में बल आता है। परिणाम की कर्ताबुद्धि जाते ही श्रद्धा करवट बदलती है। दृष्टि की कीमत कितनी है, वह अनुभवी पुरुष ही जानते हैं, बिन अनुभवी कुछ भी नहीं जानता।

श्रद्धा का गुण प्रगट करने के लिए स्यात् की शरण मत लेना। 'सर्वथा भिन्न' वह मिथ्यात्व के दोष को निकालनेवाला है, इसलिए सर्वथा भिन्न का पाठ प्रयोग है और उसमें श्रद्धा सुलट जाती है। दृष्टि सम्यक् होते ही साथ में ज्ञान प्रगट होता है, वह कथंचित् भिन्न-अभिन्न को बिना पुरुषार्थ के जान लेता है। अज्ञानी, व्यवहार के नाम पर परिणाम से सहित हूँ, ऐसा पुष्ट करता रहता है। कथंचित् के नाम पर उसे एकता भासित होती है। परिणाम से सहित कहा, वहाँ हेतु पर से भिन्न बताने का है। हेतु की मर्यादा को समझ। यदि तू परिणाम से सहित देखेगा तो तेरा अज्ञान दृढ़ होगा। प्रथम सहित का व्यवहार नहीं है। परिणाम से रहित में आये बिना, सहित का व्यवहार नहीं होता।

स्याद्वाद के पक्षपाती का ऐसा तर्क है कि- 'रुक जाओ साहब!' जैनदर्शन में सर्वथा नहीं होता! इसलिए कथंचित् रखो! कथंचित् लगाओगे तो अनेकान्त और स्याद्वाद रहेंगे। हमारा स्याद्वाद जिन्दाबाद है। अनेकान्त तो जैनदर्शन का ट्रेडमार्क है... इसलिए उसका निषेध नहीं होता।

सबसे पहले तू ये बता कि तेरे पास स्याद्वाद आया कहाँ से? क्योंकि स्याद्वाद तो सम्यग्ज्ञान का लक्षण है। तथा अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त का नाश करके नहीं प्रगट होता। जिसमें स्याद्वाद नहीं है, उसमें तू स्याद्वाद लगाने लग गया... इसलिए तेरी मान्यता विपरीत है।

जैसे कि अग्नि स्वयं स्वभाव से सर्वथा उष्ण है। अब उसमें कथंचित् लगाना क्या उचित है? अग्नि कथंचित् उष्ण और कथंचित् शीतल - ऐसा रखो तो क्या होगा? जो धर्म वस्तु में नहीं है... उस धर्म की वस्तु में स्थापना करना वह विपर्यास है।

सिद्ध भगवान सर्वथा आनन्द के भोक्ता हैं। अब परिणाम धर्म में कथंचित् लगाओ? तेरा प्रश्न है ना कि जैनदर्शन में सर्वथा नहीं होता? मैं पूछता हूँ कि सिद्ध भगवान कथंचित् आनन्द के

भोक्ता हैं, ऐसा कथंचित् लग सकता है क्या? तुझे अनेकान्त चाहिए तो ऐसा ले कि सिद्ध भगवान आनन्द के सर्वथा भोक्ता हैं और दुःख के भोक्ता नहीं हैं।

शुद्धनयावलम्बी कहता है → 'मैं परमात्मा हूँ'। तो व्यवहारालम्बी कहता है→ कथंचित् परमात्मा कहो!? वरना एकान्त हो जायेगा। पिता सर्वथा होते हैं या कथंचित्? अगर पिता में कथंचित् लगे तो परमात्मा में कथंचित् लगे, ले! जिसे कथंचित् परमात्मा दिखता है, उसे राग के दर्शन होंगे, परन्तु परमात्मा के दर्शन नहीं होंगे।

प्रश्न : तब तो कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध का खण्डन हो जायेगा?

उत्तर : उसका यथार्थ मण्डन हो जायेगा। क्योंकि आत्मा कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध नहीं है; वह तो सर्वथा शुद्ध ही है। आस्रव को आत्मा के साथ मिलाकर आगमप्रमाण से कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध कहा, परन्तु वह व्यवहार का कथन है। निश्चय की दृष्टि से देखो तो... आत्मा सर्वथा शुद्ध है। आत्मा मिथ्यादृष्टि हुआ ही नहीं है। तू यह बात लाया कहाँ से? आत्मा तो सच्चिदानन्द महाप्रभु है। अनादि-अनन्त शुद्ध है।

प्रश्न : तो तो व्यवहार का लोप हो जायेगा?

उत्तर : अरे, तुझे पता नहीं है, उसमें निश्चय प्रगट हो जायेगा।

यदि आत्मा वास्तव में अशुद्ध हो गया हो तो भेदज्ञान का उपदेश निरर्थक जायेगा और यदि वर्तमान परिणाम में अशुद्धता नहीं हो तो फिर भेदज्ञान के उपदेश की जरूरत ही नहीं रहती। किसी को परिणाम में मलिनता वर्तती है और माने कि मुझे सम्यग्दर्शन हो गया, तो उसे भी भेदज्ञान करना रहता नहीं है।

श्री समयसार, गाथा ७२ की टीका में आचार्यदेव लिखते हैं कि **'भगवान आत्मा सदा अति निर्मल अत्यन्त शुचि, पवित्र है।'** आत्मा को निर्मल नहीं कहकर 'अति निर्मल' कहा। वैसे ही शुचि नहीं कहकर आगे 'अत्यन्त' शब्द जोड़ा। सदा, अति, अत्यन्त इत्यादि विशेषण सर्वथा के सूचक हैं, एवं कथंचित् के व्यवहार का परिहार करनेवाले हैं। आश्रय योग्य भगवान आत्मा कथंचित् पवित्र होता है या सर्वथा पवित्र होता है? जो स्वभाव से ही अनादि-अनन्त पवित्र है, उसे कथंचित् शुचि कैसे कह सकते हैं? कथंचित् पवित्र कहकर परमात्मा को गाली मत दे! अत्यन्त शब्द में तो बहुत माल भरा है। कथंचित् का व्यवहार उपादेयभूत द्रव्य में लगता ही नहीं, इसलिए आचार्यदेव ने 'अत्यन्त' विशेषण लगाया। यह 'अत्यन्त' विशेषण तो दृष्टि को निःशंकपने द्रव्य तक ले जानेवाला है।

कृतकृत्य चैतन्यबिम्ब परमात्मा जो स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, उसे कथंचित् शुद्ध कैसे कह सकते हैं? कथंचित् शुद्धता मोक्षमार्ग का धर्म है, और कथंचित् अशुद्धता आस्रव का धर्म है... अर्थात् अनात्मा का धर्म है। जो स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, ऐसे पूर्णानन्द के नाथ को कथंचित्

शुद्ध मानकर आत्मानुभव का प्रयत्न करे... उसे धर्म प्रगट होगा या अधर्म? ऐसे स्याद्वाद का फल तो मिथ्यात्व आया। भगवान आत्मा सर्वथा पवित्र है, उसमें आस्रव के साथ सम्बन्ध छूट गया। आस्रव के साथ की जो अज्ञान जन्य कर्ताकर्म की प्रवृत्ति थी, उससे भेदज्ञान होते ही सम्यक् प्रकार से कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति शुरु हुई। इसमें एकान्त कहाँ हुआ? इसलिए कहा है कि- सिर्फ विधि से काम पूरा नहीं होता, परन्तु व्यवहार के निषेध से पूर्ण होता है। आत्मा सर्वथा शुद्ध है, वह निश्चय होने से भूतार्थ है। जबकि कथंचित् शुद्ध, वह व्यवहार होने से अभूतार्थ है। सर्वथा शुद्ध के आश्रय से जीव सुदृष्टि निश्चय होता है। इसलिए सर्वथा ग्रहण का फल मोक्ष जानकर निश्चयनय का उपदेश प्रधानता से किया है।

जैनदर्शन का प्राण ऐसी समयसार की ११वीं गाथा में कहा कि- **'शुद्धनय एक एव',** शुद्धनय एक ही भूतार्थ है। ऐसा कहकर सम्यक् एकान्त किया। 'समस्त व्यवहार अभूतार्थ' का अर्थ अमृतचन्द्रदेव ने ऐसा किया कि - द्रव्य में पर्याय नहीं है, इसलिए पर्याय अभूतार्थ है। पर्याय, पर्याय में हो तो हो। जयसेन आचार्यदेव ने असत्यार्थ का अर्थ किया कि - परिणाम में त्रिकाली द्रव्य स्वभाव आता नहीं, इसलिए पर्याय असत्यार्थ है। कोई विरल जीव ही व्यवहार के वचनों को उल्लंघकर शुद्धनय के विषय तक पहुँचता है।

पंचाध्यायीकर्ता ने यह सवाल उठाया है कि आप समस्त व्यवहार को अभूतार्थ कहते हो... तो भूतार्थ किसे कहते हो? परम ज्ञायक तत्त्व का अवलम्बन लेने पर; गुण परिणाम से अन्वय ऐसे अद्वैत का अनुभव होता है; परिणामी, परिणाम का भेद छूटकर अभेद का अनुभव होता है, वहाँ अभूतार्थ किसको कहना?

जयसेनाचार्य भगवान ने समयसार में खुलासा किया कि - आत्मा स्यात् अकर्ता नहीं है, परन्तु 'अकर्ता एव' है। स्यात् अशुद्ध की तो बात ही नहीं है। निश्चय की बात में दृष्टि प्रधान कथन में 'ही' का और 'सर्वथा' का प्रयोग होता है। यह 'ही' है, वह अस्ति-नास्ति अनेकान्तरूप है। इसलिए वह द्रव्यस्वभाव का उद्‌घोषक है। दृष्टिप्रधान 'ही' और ज्ञानप्रधान 'ही'; इसमें एक द्रव्य का निश्चय और एक परिणाम का निश्चय; दोनों की मैत्री होने पर स्वानुभव प्रगट होता है।

जब प्रमाणज्ञान के विषय में भेदज्ञान कराना हो, तब 'ही' लगाये तो निश्चय का जन्म होता है। सम्यक् अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त की अपेक्षा रखता है। सम्यक् एकान्त का नाश करके अनेकान्तिक ज्ञान प्रगट नहीं होता। तू चिन्ता नहीं करना कि - हाय! हाय! एकान्त हो जायेगा तो!! यह एकान्त की बात है - ऐसी अज्ञानी की बात मत सुनना!! कृपालुदेव ने कहा है कि 'अनेकान्तिक ज्ञान भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के अलावा अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।'

श्री नियमसार गाथा १९ की टीका में भावि तीर्थाधिनाथ ने...! एक ही वाक्य में निश्चय बोधक दो विशेषण लगाये। **द्रव्यार्थिकनय से देखने पर समस्त जीवराशि परिणाम से 'सर्वथा' व्यतिरिक्त 'ही' है।** यहाँ 'सर्वथा व्यतिरिक्त' और 'ही' ऐसे दो शब्द लगाये। यदि सर्वथा

व्यतिरिक्त कहने में कोई दोष होता तो क्या वे सम्यक् एकान्त सूचक विशेषण का प्रयोग करते? सर्वथा शब्द तो स्वभाव को प्रसिद्ध करनेवाला है। यह 'ही' है, वह जिनशासन का उत्पादक है और व्यवहार का प्रतिषेधक है। जैनदर्शन में आकर भी 'सर्वथा' तक नहीं पहुँचा। दृष्टिप्रधान बात तीखी और उग्र होती है। जबकि ज्ञानप्रधान बात मतार्थ के खण्डन के लिये, और किसी को एकान्त का दोष लगता है तो उसके लिए औषधि है।

भूतार्थ द्रव्यस्वभाव के लक्ष से आनन्दानुभूति होती है। चैतन्य ध्रुव सत्ता में 'अहं' होते ही निर्विकल्पध्यान प्रगट होता है। उसमें ही निर्विकल्प निश्चयनय और निर्विकल्प प्रमाण का जन्म होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस समय सम्यक् एकान्त में आता है, उसी समय सम्यक् ज्ञान में स्याद्वाद प्रगट हुआ। ऐसा सम्यक् ज्ञान किसे होता है? जिसे सम्यक् दर्शन हो उसे। सम्यक् दर्शन किसे होता है? भूतार्थ का आश्रय हो उसे। इसलिए अनुभव के पहले का सविकल्प प्रमाण, सविकल्प अनेकान्त, सविकल्प स्याद्वाद और सविकल्प निश्चयनय, इस समस्त व्यवहार का निषेध होते ही ज्ञान सविकल्प स्वसंवेदन में आता है। अनुभव के पहले वह ज्ञान मध्यस्थ हो जाता है। द्रव्य के प्रति राग नहीं, पर्याय के प्रति द्वेष नहीं है; फिर भी वह विकल्पात्मक होने से नय में जाता है। वहाँ अभेद प्रमाण नहीं है; क्योंकि आनन्द आया नहीं है। पक्षातिक्रान्त ज्ञान में स्याद्वाद प्रगटता है.... जिसका लक्षण स्यात् है।

स्यात् कहाँ लगता है? प्रमाणज्ञान सिद्ध करना हो, तब स्यात् लगता है; नयज्ञान सिद्ध करना हो, तब 'ही' अथवा 'एव' शब्द लगता है। आत्मा नित्य है और अनित्य नहीं, यह नय का वाक्य है। जबकि प्रमाणज्ञान का कथन ऐसे आता है कि आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। इस प्रमाणभूत द्रव्य में ही विधि-निषेध रहा हुआ है। द्रव्य सामान्य को उपादेय करता है, और व्यवहार का निषेध करता है, तब प्रयोजन की सिद्धि होती है। प्रयोजनपूर्वक ही पदार्थ की सिद्धि होती है। यह सम्यग्ज्ञान स्यात् का छेद नहीं करता। यदि स्यात् का छेद करे तो वह मिथ्याज्ञान हो गया। स्याद्वाद में सर्वथा का अभाव है। क्योंकि परस्पर विरोधी अनन्त धर्म-कथंचित् एक, कथंचित् अनेक, उन्हें एक समय में अक्रम से जाननेवाला है। उभयनय विरोध का नाश करनेवाला है, क्योंकि अनन्त धर्म सापेक्ष हैं; इसलिए स्यात् लगता है। धर्म के परिणाम नहीं होते, गुण के परिणाम होते हैं; इसलिए गुण निरपेक्ष है, और धर्म सापेक्ष है; इसलिए उसमें स्यात् अवश्य लगता है। ज्ञान में स्यात् नहीं लगाये तो जैनदर्शन ही नहीं रहता... तो वह मिथ्यादृष्टि अजैन है।

अब अनुभव के पहले श्रद्धा के या ज्ञान के विषय में स्यात् लगाने से ज्ञान चक्कर खाता है। श्रद्धा एवं ज्ञान की पर्याय, अपने अहं के विषय में स्यात् का स्वीकार ही नहीं करती। श्रद्धा का विषय त्रिकाली गुणमय है, इसलिए वह निरपेक्ष होने से उसमें स्यात् नहीं लगता। अज्ञानी बिना समझे, कहीं भी स्यात् लगाकर अपने स्वभाव को तिरोभूत करता है। दो बेटे हों तो उसमें स्यात् लगता है कि - यह छोटा है और यह बड़ा है; परन्तु एक ही बेटा हो तो स्यात् कैसे लगे? वैसे ही

शुद्धनय एक ही है, तो उसमें स्यात् कैसे लगे? ज्ञान का ऐसा स्वरूप समझने के लिए भी उसकी तैयारी चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री की करुणा तो देखो! कौन-सी विवक्षा कहाँ लगती है, यह समझाते हैं। नाटक समयसार, प्रवचन नम्बर १३१ में फरमाते हैं कि ज्ञान कथंचित् ज्ञानरूप रहे, और कथंचित् ज्ञेयरूप हो जाये - ऐसा तीन काल में कदापि नहीं हो सकता। ज्ञान तो त्रिकाल अपने ज्ञानस्वरूप से ही रहता है। **'सो तो और रूप न होई सर्वथा'** - भाषा देखी? सर्वथा शब्द जैन में नहीं होता न? जैन में ही होता है। द्रव्य सर्वथा द्रव्यरूप से नित्य है और पर्यायरूप से सर्वथा अनित्य है। यहाँ कथंचित् नहीं लगता। जहाँ (प्रमाण का विषय कहना हो) द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु में भेद किये बिना कहो तो कथंचित् लगता है; जब भेद करके कहते हैं, तो सर्वथा लगता है। द्रव्यानुयोग सूक्ष्म है, भाई!

हमारे ऊपर मुमुक्षु समाज का आरोप था कि लालचन्दभाई द्रव्य-पर्याय के टुकड़े करने को कहते हैं। क्या द्रव्य-पर्याय के टुकड़े हो सकते हैं? हाँ, भाई! हो सकते हैं। तू नय विभाग की युक्ति को जानता नहीं। द्रव्य-पर्याय के टुकड़े, अर्थात् हेय-उपादेय होता है। पदार्थ में विधि-निषेध होने पर दृष्टि का विषय, दृष्टि में आता है। तू तो कुछ जानता नहीं, और अनुभवी की बात मानता नहीं। प्रमाण में कथंचित् लगता है और नय में सर्वथा लगता है। प्रमाण, पर से भिन्नता बताता है और नय, परिणाम से भिन्नता बताता है। तू पूज्य गुरुदेवश्री की श्रद्धा से तो तेरी श्रद्धा बना। तेरे मिथ्या आग्रह को अभी डिपोज़िट (deposit) रख दे। गुरुदेव की बात जब सच लगे, तब तू अपने मिथ्या दुराग्रह को फेंक देना।

दूसरी एक और बात सुन! हम सिर्फ टुकड़े करने को ही नहीं कहते; सिलाई भी करते हैं। सिलाई हुई यह तुझे क्यों नहीं दिखा!! ज्ञान का द्रोह नहीं हो, वैसे श्रद्धा उसके विषय की श्रद्धा कर लेती है... उस समय ज्ञान में निर्मल परिणाम, वह आत्मा - ऐसा जोड़ होता है परन्तु वह जोड़ दिखता नहीं है, क्योंकि वहाँ विकल्प ही नहीं है तो जोड़ कैसे दिखे?

स्वात्मानुभव मनन में आता है कि **ग्रन्थ का अभ्यास करने से ग्रन्थ का रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसकी कुंजी तो गुरु के हाथ में होने से अनुभवी गुरु के पास से ही मिलती है। 'ग्रन्थ शास्त्र सूत्र बना गये, सो ते हस्ति का बाहिर दांतवत्' समझना, असल आशय उनको अब गुरु बिना नहीं होता।** जैनदर्शन की शुरुआत सर्वथा से होती है, और उसका पूर्ण विराम कथंचित् भिन्न-अभिन्न फल आये तब होता है। जो अभेद ज्ञेय होता है, वह जानने में नहीं आया तो सर्वथा भिन्न, वह गलत है। जिसको अनुभव होता है, उसे कथंचित् भिन्न-अभिन्न लागू होता है। परिणाम से भिन्न तो कायम रहेगा और निर्मल परिणाम से कथंचित् भिन्न-अभिन्न का ज्ञान होगा। अनुभव प्रगट करने के लिए सर्वथा भिन्न लागू होता है। कथंचित् का धर्म श्रद्धा में नहीं है तो श्रद्धा के विषय में कहाँ से होगा?... इसलिए श्रद्धा में कथंचित् लगाने से मचक आती है। इसलिए जिसमें साध्य की सिद्धि हो, उसे अग्रता देनी चाहिए।

शास्त्र पाठी विद्वानों का ऐसा तर्क है कि न्याय के ग्रन्थ में हमें पढ़ने में ऐसा कहीं भी नहीं आया कि आत्मा परिणाममात्र से सर्वथा भिन्न है; इसलिए सर्वथा मानने में एकान्त का दोष लगता है, इसलिए हम परिणाम से कथंचित् भिन्न-अभिन्न मानते हैं। यदि आप राग से सर्वथा भिन्न कहो, तब तो बराबर है, परन्तु निर्मल परिणाम से सर्वथा भिन्न कहो तो वह न्याय संगत नहीं है। जिनागम में कोहीनूर के हीरे भरे पड़े हैं, परन्तु वहाँ उसकी दृष्टि नहीं पहुँचती। कृपालुदेव ने कहा है कि 'शास्त्र में मार्ग बताया है, परन्तु उसका मर्म तो ज्ञानियों के हृदय में रहा हुआ है'। मर्म को समझे बिना मार्ग का स्वरूप ख्याल में आता ही नहीं। परिणाम से सर्वथा भिन्न मानने से निश्चयाभासी नहीं होता, उसका एक ऊँचा आधार है।

श्री देवसेन आचार्य नयचक्र में फरमाते हैं कि **'निश्चयनय तो उपनय से रहित है। अभेद और अनुपचार जिसका लक्षण है, और जो अर्थ का निश्चय कराता है, वह निश्चयनय है। वह (उपनय) स्यात् पद से रहित होने पर भी उसमें निश्चयाभास नहीं होता'।** आत्मा में स्याद्वाद का अभाव है और आत्मज्ञान में स्याद्वाद का सद्भाव है, समय एक ही है। यह एक समय में है, उसका मूल्य है। यह बात सबसे पहले जामनगर में कही थी। बहुत से अभ्यासी जीव बैठे थे, किसी ने ऊहा-पोह नहीं किया। कैसे करें? आत्मा में स्याद्वाद नहीं है - ऐसा लेने से तो श्रद्धा सुलट जाती है। मिथ्यात्व का दोष निकल जाता है। निश्चयनय कहता है कि मैं सर्वथा शुद्ध हूँ, सर्वथा मुक्त हूँ, सर्वथा परिपूर्ण हूँ। इसलिए स्याद्वाद कहता है वैसा उपादेय तत्त्व का स्वरूप ही नहीं है। इसलिए स्यात्पद के अभाव में निश्चयाभासपना आता ही नहीं। स्याद्वाद स्वयं व्यवहार है, और आश्रय के लिए वह व्यवहार अभूतार्थ होने से, आत्मा की अनुभूति हो सकती है। शुद्धनय, उपनय से रहित होने से निश्चयाभास का दोष नहीं लगता। यह तो अनुभव होने की बात है, उसमें निश्चयाभासी कैसे होंगे? यदि दोष लगता हो तो भावलिंगी सन्त लिखेंगे ही क्यों?

परिणाममात्र से सर्वथा भिन्न, यह शब्द तो जड़ी-बूटी है। इसमें द्रव्य, पर्याय की भिन्नता दृष्टि में आने से परिणाम की कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि और ज्ञाताबुद्धि छूटती है। परिणाम में से एकताबुद्धि छूटने का उपाय भेदविज्ञान ही है। दृष्टिप्रधान दृष्टि सर्वथा में ही अहं करती हुई परिणमती है; तब ज्ञान में कथंचित् भिन्न-अभिन्न आता है तो सर्वथा सच है, अन्यथा सर्वथा गलत है। एक कहता है अन्य है, उस समय दूसरा कहता है, अनन्य है, दोनों सच्चे हैं क्योंकि ऐसा स्वरूप है। दृष्टि को सिद्ध करना हो, तब अन्य ही है और अनुभव को सिद्ध करना हो तब अनन्य है। ज्ञानपर्याय अनन्य होकर जानती है, तब श्रद्धा अन्य को ही स्वीकार करती हुई; कथंचित् अनन्यरूप से परिणमती है। इसप्रकार दृष्टि और ज्ञान की सन्धि है।

कोई जीव ऐसा कहे कि - परिणाम से सर्वथा भिन्न लेने से तो निश्चयाभास होता है, सांख्य, वेदान्त होता है। सन्त उसे जवाब देते हैं कि तू वस्तु के स्वभाव को यथार्थरूप से समझता ही नहीं, अथवा समझना चाहता नहीं है। हाँ, अज्ञान अवस्था में... केवलज्ञान, सिद्धदशा स्वयं को प्रगट हुई है - ऐसा मानने लगे तो निश्चयाभास है परन्तु श्रद्धा-ज्ञान में द्रव्यस्वभाव जैसा है, वैसा ही स्थापना करे तो उसमें कदापि निश्चयाभास होता ही नहीं... परन्तु निश्चय का अभ्यासी होता है।

कथंचित् अभिन्न के नाम पर सर्वथा अभिन्न मान रहा है, इसलिए समकित नहीं हो रहा है। समकित के बिना तू अन्यमती रह गया, यह क्यों ख्याल में नहीं आता?!

सांख्यमती तो अनित्यधर्म को मानता ही नहीं। वह तो एकान्त नित्य-कूटस्थ को ही मानता है। बौद्धमती सिर्फ अनित्यधर्म का ही स्वीकार करता है। वह नित्य.. टिकती हुई वस्तु को मानता ही नहीं। इसलिए एकान्त द्रव्य के पक्षवाला वेदान्ती सांख्य है, और एकान्त परिणाम के पक्षवाला बौद्ध है। जबकि आत्मार्थी जीव, अनुभव से पहले मध्यस्थ हुआ है। वह जानता है कि नित्य का निर्णय करनेवाला अनित्य है। अनित्य परिणाम... अनित्य स्वभाव में रहते हुए, नित्य द्रव्य में अहं करते हुए व्यय हो जाते हैं। नित्य वस्तु सत् है और अनित्य वस्तु भी सत् है। इसप्रकार रहितपूर्वक सहित होता है, वह सच्चा जैन है। जैनदर्शन ऐसा अद्भुत और अपूर्व है कि वह वेदान्ती और सांख्यमती नहीं होकर, आत्मानुभवी होता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में उदाहरण दिया है कि 'मिश्री खाने से गधे की मौत होती है, तो क्या मनुष्य को भी नहीं खाना'? उसी प्रकार उपादेयभूत शुद्धात्मा, परिणाम से सर्वथा भिन्न होने पर भी, तू कथंचित् भिन्न मानेगा तो भी मरेगा, क्योंकि तू प्रमाण के विषय में अटक गया है और जाने हुए का श्रद्धान होने से, उसके फल में तो मिथ्यात्व ही है। यह तो प्रमाण का पक्ष छूटकर और निश्चय के पक्ष में आकर; निश्चय के पक्ष से अतिक्रांत हो जाये, ऐसा परमामृत है। इतनी बात सच है कि परिणाम से सर्वथा भिन्न का प्रथम पाठ पक्का किया और ज्ञान के पहलू की अर्थात् परिणामसहित की बात का निषेध करे... ज्ञेय के पहलू में से भी परिणाम को उड़ा दे तो ज्ञान का द्रोह होता है। जिसका ज्ञान खोटा उसकी दृष्टि भी खोटी ही है।

अनुभव के काल में श्रद्धा और ज्ञान दोनों हाथ मिलाते हैं। ध्येय + ज्ञेय की मित्रता होती है। श्रद्धा कहती है – 'मैं मोक्ष की पर्याय से रहित हूँ।' सम्यग्ज्ञान कहता है - 'मैं सम्यग्दर्शन से सहित हूँ।' अनुभूति तो आत्मा है। हमें तो जितना वेदन में आया उतना आत्मा है। जिस समय श्रद्धा का विषय पूरा होता है, उसी समय ज्ञान का विषय भी पूरा होता है। दो समय नहीं लगते। क्रम पड़े तो निर्विकल्पता नहीं रहती। ज्ञान का उपादेय विषय सामान्य ज्ञायकभाव मिले, और साथ में विशेष न मिले; तो वह जैनमती नहीं हुआ, वह तो सांख्यमती है।

'धार तलवार की दोह्यली सोह्यली, चौदहवें जिन की चरण सेवा'। यह तो उबले हुए दूध में जामन की बात है। एक बिन्दु दही का डालने से दूध पूरा ही दही बन जाता है। उबले हुए दूध को अग्नि से उतारकर एक तरफ रखकर छोड़ दो, तो एक दिन बीतने पर खराब हो जाता है। मात्र उबला हुआ दूध भी कार्यकारी नहीं है।

प्रश्न : जीव के परिणाम से जीव सर्वथा भिन्न है?

उत्तर : हाँ, जीव के परिणाम से जीव सर्वथा भिन्न है।

(१) भेद को जीव के परिणाम कहा; परन्तु द्रव्यदृष्टि से तो वे पुद्गल के परिणाम होने से... आत्मा उससे सर्वथा भिन्न है।

(२) व्यवहार से उन्हें जीव के परिणाम कहा, निश्चय से तो वे अजीव के परिणाम हैं। अ-जीव अर्थात् जीव नहीं।

(३) किसी भी परिणाम में जीव का लक्षण - परमपारिणामिकभाव घटित नहीं होता, इसलिए उससे जीव सर्वथा भिन्न है।

(४) एक समय की नाशवान पर्याय में अनन्त गुण व्याप्त नहीं होते इसलिए जीव से जीव के परिणाम सर्वथा भिन्न हैं। तथा

(५) पर्याय, कर्म के सद्भाव- अभाव से सापेक्षता रखती है, जबकि जीव, कर्मोपाधि से निरपेक्ष तत्त्व होने से, परिणामों से सर्वथा भिन्न है।

खास ध्यान रखना कि निश्चयनय से भिन्न और व्यवहारनय से अभिन्न; ऐसा व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है, क्योंकि कथंचित् कहते ही व्यवहार में आ जाता है। दृष्टिप्रधान प्रतीत में, 'कथंचित्' विष है क्योंकि उसमें स्याद्वाद समाता ही नहीं। कथंचित् के बहाने अज्ञान का पक्ष रह जाता है, उसका पता ही नहीं चलता; इसलिए स्याद्वाद के लोभ को छोड़ दे। स्याद्वाद में अटकनेवाला स्याद्वाद के रहस्य को जानता ही नहीं।

प्रश्न : मोक्ष की पर्याय से आत्मा अत्यन्त भिन्न है?

उत्तर : हाँ, अत्यन्त भिन्न है। यदि अत्यन्त भिन्न नहीं हो तो मोक्ष के परिणाम का व्यय होने पर... द्रव्य का भी नाश हो जाएगा। यदि पहले से ही प्रमाण के विषय को आगे करते रहोगे, अर्थात् ज्ञान को सच्चा करने के लोभ में दृष्टि विपरीत रह जायेगी तो वह अनन्तानुबन्धी लोभ है। चलते-फिरते दवाई नहीं खाई जाती, खुराक खाई जाती है। वैसे दृष्टि का विषय खुराक है। श्रद्धा सच्ची होने के बाद ज्ञान की निर्मलता के लिए स्याद्वाद है। वह भी सविकल्पदशा है, तब तक। वास्तव में तो उसमें श्रद्धा भी बढ़ती नहीं और ज्ञान भी बढ़ता नहीं। स्याद्वाद को याद करते रहने से बार-बार अनुभव नहीं होगा। इसलिए दृष्टि के विषय का लक्ष होने से और उसमें ही बार-बार उपयोग एकाग्र होने से पूर्णता होती है।

नवतत्त्वों में मोक्षतत्त्व आया या नहीं? समयसार ३८ वीं गाथा की टीका में आचार्यदेव क्या लिखते हैं....? आत्मा कैसे शुद्ध है, उसका रहस्य बताते हैं। **'व्यवहारिक नवतत्त्वों से अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ।'** हमें पता है **'अत्यन्त भिन्न'** शब्द व्यवहार के पक्षवालों को खटकता है। दृष्टि प्राप्त करवाने के लिए क्या लिखें? 'कथंचित्' तो ज्ञान का धर्म है, इसलिए उसमें तो स्याद्वाद आ गया। दृष्टि के विषय में या दृष्टिप्रधान दृष्टि में स्याद्वाद होता ही नहीं। दर्शन, ज्ञान, और चारित्ररूप से परिणमित आत्मा ऐसा अनुभव करता है कि निर्विकल्पध्यान की दशा से...

ध्येय चिदानन्द प्रभु अत्यन्त भिन्न है। जीव के विशेषों को कहकर और सभी दशाओं को उसमें लेकर, और उन दशाओं से भगवान एकदम भिन्न है, निराला है। निरावरण प्रभु की प्रगाढ़ता में, भेदों का विस्मरण हो गया। विशेषों के मध्य में रहा हुआ, एक सामान्य तत्त्व जो अनुपम है; वह वास्तव में आत्मा है। उसके ऊपर दृष्टि स्थिर होते ही अनुभव होता है। अनुभव के बाद, विशेष में आत्मबुद्धि हुए बिना, उसका ज्ञान सहज हो जाता है। परिणाम से अत्यन्त भिन्न चैतन्य ज्योति में आते ही, निर्मल दृष्टि के साथ सम्यक् ज्ञान हुआ; उसमें कथंचित् का पहलू सहज ही आ जाता है। नवतत्त्व को परद्रव्य कहा है न! इसलिए परद्रव्य और स्वद्रव्य के बीच में कथंचित् बंटवारा करेगा तो परिणाम की एकत्वबुद्धि नहीं छूटेगी... कथंचित् के बहाने व्यवहार का पक्ष रहता है। दूसरा, निर्मल परिणाम से कथंचित् अभिन्न मानने से दोष आ जाता है। निर्मल पर्याय से पहले मिथ्यात्व, आस्रव के मलिन परिणाम थे, तो उनसे अभिन्नता आ जायेगी।

मैं मुम्बई वर्ली में रहता था, तब की बात है। सोनगढ़ में रात्रि चर्चा चल रही थी। उसमें गुरुदेव ने एक प्रश्न किया। 'आत्मा नव तत्त्व से अत्यन्त भिन्न है' ऐसा शास्त्र में कहीं आता तो है, पर याद नहीं आ रहा। स्वयं ने काले रंग का चश्मा पहना हुआ था, इसलिए वे किसकी तरफ देख रहे हैं; उसका सभाजनों को ख्याल ही नहीं आये! इतना सा वाक्य कहकर बात को खत्म कर दिया। सभा में से कोई उत्तर नहीं आया कि कौन से शास्त्र में है? थोड़े समय बाद बाबूभाई झवेरी मुम्बई आये। उन्होंने मुझे बताया कि गुरुदेव को विकल्प उठा है - 'आत्मा नवतत्त्वों से अत्यन्त भिन्न है' ऐसा शास्त्र में कहीं है, पर अभी याद नहीं आ रहा। मैंने समयसार खोलकर ३८ वीं गाथा की टीका पढ़ाई। उन्होंने तुरन्त ही टेलीफोन उठाया। मैंने पूछा - कहाँ फोन कर रहे हो? मैं अभी ही सोनगढ़ यह समाचार भेज देता हूँ... गुरुदेव को विकल्प उठा है। मैंने कहा- बाबूभाई! आप कहान कन्हैया को पहचानते नहीं हो। वे तो सारे परमागमों को घोलकर ज्ञान में पी गये हैं। उन्होंने तो आप सबकी परीक्षा की थी कि यह बात किसे ग्रहण हुई है। ज्ञानी बनने के लिये, परिणाममात्र से सर्वथा भिन्न एक ज्ञायकभाव है, वहाँ से आरम्भ कर। क्योंकि सर्वथा भिन्न, वह निश्चय है, और कथंचित् भिन्न-अभिन्न, वह निश्चयपूर्वक का व्यवहार है। व्यवहार क्यों कहा? उसमें द्रव्य के साथ परिणाम भी आये, इसलिए... जैसा प्रमाण वैसा व्यवहार हुआ।

व्यवहार के पक्षवालों को सर्वथा भिन्न कहने में एकान्त की दुर्गन्ध लगती है, परन्तु सम्यक् एकान्त की सुगन्ध है; इसका पता नहीं चलता। सर्वथा शुद्ध है, उसमें सम्यक् एकान्त होते ही; सर्वथा शुद्ध हूँ और अशुद्ध नहीं - ऐसा अनेकान्त प्रगट होगा। श्रद्धा का विषय एकान्त है और ज्ञान का विषय अनेकान्त है। एकान्त और अनेकान्त प्रगट होने का सम काल है; इसलिए ज्ञान में एकान्त नहीं होता और श्रद्धा में अनेकान्त नहीं होता। यह दृष्टिप्रधान श्रद्धा की बात चल रही है। यदि ज्ञान में एकान्त हो तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है, अर्थात् अनेकान्त का ज्ञान नहीं हो तो ज्ञान भी झूठा और श्रद्धा भी झूठी है। श्रद्धा को सम्यक् नाम नहीं मिलता। और कोई जीव पहले से ही अनेकान्त के विषय में चढ़ जाये तो भी श्रद्धा मिथ्या है... इसलिए ज्ञान भी मिथ्या है। इसलिए जो श्रद्धा का विषय है, वह ज्ञान का उपादेय ज्ञेय तो है ही, परन्तु ज्ञान का दूसरा सविकल्प जानने का स्वभाव होने से... अनेकान्त का विषय मिलता है तब ज्ञान का सम्पूर्ण विषय

हुआ। ज्ञान, स्वभाव से ही सविकल्प होने से, उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय एक समय में जानने में आ जाते हैं। ज्ञान द्रव्य को... द्रव्यरूप, गुण को... गुणरूप, पर्याय को... पर्यायरूप जान लेता है। सम्यक् एकांत का आश्रय लेने से, अनेकान्त का जो ज्ञान हुआ, उसी का नाम ही स्याद्वाद है। इस प्रकार पहले से ही श्रद्धा का विषय कितना! और ज्ञान का विषय कितना? उसे भिन्न रखकर समझना। प्रमाणज्ञान के विषय में ही विधि-निषेध करते-करते, विज्ञानघन स्वभाव में दृष्टि की स्थापना करनी है। इसलिए सर्वथा में भेदज्ञान का बलवानपना है। उसमें ही द्रव्य, पर्याय की अत्यन्त भिन्नता ख्याल में आती है। जबकि कथंचित् भिन्न-कथंचित् अभिन्न में भेदज्ञान की ध्वनि नहीं है; वहाँ तो जानने की प्रधानता रही हुई है।

प्रश्न : स्याद्वाद कैसे प्रगट हो, उसकी विधि बता रहे हो?

उत्तर : हाँ, उसकी विधि बता रहे हैं। परिणाममात्र से भिन्न स्थिर चैतन्यबिम्ब में श्रद्धा होने पर... स्वानुभूति प्रगट होती है, ऐसे साधक पुरुष को, कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न, स्याद्वाद ज्ञान प्रगट होता है। सर्वथा भिन्न के बिना, कथंचित् भिन्न-अभिन्न का ज्ञान नहीं होता... परन्तु परिणाम की कर्ताबुद्धि और भोक्ताबुद्धि होती है। अनादि से जो मिथ्यामान्यता चली आती थी, उसमें परिणाम से कथंचित् भिन्न-अभिन्नपना वह थोड़े ही मानता था!! वह तो सर्वथा अभिन्न ही मानता था, इसलिए उसकी मिथ्यामान्यता को टालने के लिए सर्वथा भिन्न ही लेना पड़ेगा। सर्वथा भिन्न के भेदज्ञान में ही दृष्टि और ज्ञान निर्मल प्रगट होते हैं। बाद में भिन्न-अभिन्न का ज्ञाता रहता है। स्याद्वाद का जन्म, अनुभवज्ञान में होता है, इसलिए द्रव्य, पर्याय को ज्ञान अक्रम से जानता है।

ध्येय के पहलू से देखने पर ज्ञानपर्याय, द्रव्यस्वभाव से भिन्न दिखती है -भिन्न श्रद्धा होती है। ज्ञेय के पहलू से देखने पर ज्ञानपरिणाम आत्मा से अभिन्न जानने में आते हैं। भिन्न है, अभिन्न है- ऐसे विकल्प अनुभवज्ञान में नहीं हैं।

पर्यायदृष्टि से परिणाम आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है → यह अज्ञान सिद्ध किया। शास्त्र में राग के परिणाम को भी कथंचित् भिन्न कहा है। इसमें दो न्याय हैं। (१) जड़ कर्म का उदय आया, इसलिए राग हुआ - ऐसे नहीं है। वहाँ दो द्रव्य की भिन्नता बतानी है। (२) पर्यायदृष्टिवाला अज्ञानी, स्वच्छन्दता का पोषण न करे, इसलिए जीव के परिणाम कहा है; वरना तो चैतन्य की जाति के परिणाम में ही कथंचित् भिन्न-अभिन्न लगता है। ज्ञान का द्रोह न हो; इस प्रकार दृष्टि.... अपने उपादेय विषय की श्रद्धा कर लेती है। स्याद्वाद के साथ सुसंगत ऐसी दृष्टि ज्ञानी को प्रगट हुई है।

श्रद्धा सम्यक् होने के बाद, ज्ञान की संशुद्धि के लिए स्याद्वाद है। इसलिए सिद्धांत बाँधा कि- आत्मज्ञान में स्याद्वाद होता है, होता है और होता ही है। शास्त्र में स्याद्वाद नहीं है, वाणी में स्याद्वाद नहीं है; खण्ड-खण्ड भावेन्द्रियज्ञान में भी स्याद्वाद नहीं है। दृष्टिप्रधान श्रद्धा में, या श्रद्धा का विषय ध्रुव ज्ञायक, उसमें भी स्याद्वाद नहीं है।

जैसे नयरूप अनेकान्त में अस्ति-नास्ति होती है, वैसे स्याद्वाद में विधि-निषेध होता है। कलश टीका के प्रवचन - साध्य साधक अधिकार, दिनांक १९-०९-१९६८ के प्रवचन में पूज्य गुरुदेव स्याद्वाद और अनेकान्त की परिभाषा इस प्रकार से करते हैं 'तू स्याद्वादी पूर्णो भवन जीवति।' सम्यग्दृष्टि स्याद्वादी की व्याख्या ही यह की है कि पर्याय, द्रव्य में नहीं है। द्रव्य, द्रव्य में है - ऐसा माननेवाला स्यावादी, अनेकान्त दृष्टि है। पर्याय द्रव्य में नहीं है और एक समय की पर्याय जितना द्रव्य नहीं है, द्रव्य अखण्डानन्द पूर्ण है, उसमें पर्याय नहीं है। पर्याय में द्रव्य नहीं है, पर्याय, द्रव्य में नहीं है। एक समय की पर्याय में, द्रव्य नहीं, और एक समय की पर्याय, द्रव्य में नहीं... इसका नाम अनेकान्त सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त को साथ रखकर चलता है।

वर्णादिमान... गुणस्थानान्त भावों को व्यवहार से जीव के कहे हैं; परन्तु उनमें से कोई भी भाव निश्चय से जीव के नहीं हैं। व्यवहार से जीव के हैं और निश्चय से जीव के नहीं हैं, इसका नाम स्याद्वाद है। यह स्याद्वाद अस्ति-नास्तिरूप होने से व्यवहार का निषेधक है। दूसरा स्याद्वाद ऐसा है कि- संसारी जीव कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध है। द्रव्य से शुद्ध और पर्याय से अशुद्ध कहनेवाला आगम प्रमाणरूप स्याद्वाद है।

पूज्य गुरुदेवश्री विधि-निषेधवाला स्याद्वाद फरमाते हैं। नाटक समयसार, साध्य साधक अधिकार, श्लोक ४२-४३ के प्रवचन में 'त्रिकाली वस्तु में, एक समय की पर्याय नहीं है, उसका नाम स्याद्वाद है।'

स्याद्वादी वस्तु के परस्पर विरोधी अनन्त धर्मों को एक काल में जानता है। ज्ञान अकर्ता धर्म को जानता है, कर्ता धर्म को जानता है। जो अकर्ता धर्म को जानता नहीं, वह कर्ता धर्म को भी नहीं जानता। वह तो कर्ता धर्म का ज्ञाता न होकर, कर्ता धर्म का कर्ता (स्वामी) बन जाता है। स्याद्वाद-कथंचित् यह तो सम्यक् ज्ञान का लक्षण होने से सत्यार्थ है। वह विरोधी धर्मों में स्यात् लगाता है। जानने के स्वभाव में से किसी धर्म, किसी अंश की कमबत्ती नहीं होती। इसलिए एकान्त द्रव्य, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; और एकान्त पर्याय भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। पर्याय नहीं स्पर्शती हुई स्पर्श लेती है। साधक का पर्यायस्वभाव दो प्रकार से है। थोड़ी वीतरागता प्रगट हुई है, और थोड़ा रागांश है; वह पर्याय धर्म को भी जानता है। साधक सविकल्प में आया, तब कथंचित् का प्रयोग करता है। 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वह ही।'

सारांश इतना ही है कि- द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है... वह एक, अनेक को जानता है। आश्रय एक का और ज्ञान अनंत का; समय एक। इस प्रकार साधक बनने के लिए नयपूर्वक ही सम्यक् प्रमाण होता है। कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि- प्रमाणपूर्वक नय होता है, तो वह कथनमात्र है।

मोक्ष में भी परिणाम से सर्वथा सहित नहीं है।

यदि निर्मलपरिणाम से सर्वथा अभिन्न माने तो दृष्टि का विषय ध्रुव नहीं रहता; ध्रुव तो क्षणिक हो गया। यदि सर्वथा अभिन्न माने तो मोक्षपर्याय का व्यय होने पर द्रव्य के नाश का प्रसंग उद्भव होता है। यदि परिणाम सर्वथा अभिन्न हो गये तो आनन्द का वेदन कौन करेगा? मोक्षमार्ग में निश्चयरत्नत्रय के परिणाम प्रगट हुए, वे सर्वथा अभिन्न हो जाए तो शुद्धि की वृद्धि नहीं होगी। संवर के बाद निर्जरा और निर्जरा के बाद मोक्ष नहीं होगा। निर्मलपरिणाम प्रगट हुए, वे आत्मा के साथ कथंचित् अनन्य होकर रहते हैं। आनन्द प्रगट हुआ, वह सर्वथा सहित नहीं है। सम्यक्ज्ञानी स्याद्वादी होने से उसका ज्ञान सर्वथा रहित या सर्वथा सहित का स्वीकार ही नहीं करता। मोक्ष में भी द्रव्य-पर्याय की वस्तुगत भिन्नता तो कायम रहती है... परन्तु परिणाम मान्यता की अपेक्षा से सर्वथा अभेद हुए। इसलिए मोक्ष में भी कथंचित् भिन्न-अभिन्न छूटता नहीं। ध्रुव को परिणाम रहित जानता है? हाँ! ध्रुव को परिणाम सहित जानता है? हाँ! यह रहित रह गया और सहित हो गया, उसका नाम जैनदर्शन है। द्रव्य का अस्तित्व, परिणाम से रहित होकर ही रहता है, और जितनी शुद्धता प्रगट हुई, उतनी सहित होकर रहती है। ऐसी स्थिति मोक्ष में भी रहती है।

रहित में आया क्या और सहित हुआ क्या (अर्थात् रहित में आते ही सहित हो गया)!! यह एकदम नई बात लगती है। इस रहित-सहित में ही जैनदर्शन समाया है। परिणाम से रहित रह गया और स्वजाति के परिणाम से सहित हो गया। अज्ञान में जो सहित माना था, वह गलत था। ज्ञानी का जो सहित हुआ, वह सच्चा हुआ। ज्ञान में सर्वथा नहीं है और दृष्टि में कथंचित् रहित-सहित नहीं है। ऐसा रहित-सहितपना सिद्ध भगवान को भी रहता है।

परमात्मप्रकाश में उत्कृष्ट दृष्टान्त दिया है। तीर्थंकर परमात्मा जब छद्मस्थ अवस्था में ध्यान करते हैं, तब उत्पाद-व्यय से सहित होने पर भी, उत्पाद-व्यय से रहित ध्रुव परमात्मा का ध्यान करते हैं। इसलिए शुद्धि ध्रुव के लक्ष से, शुद्धि की वृद्धि- निर्जरा ध्रुव के लक्ष से और पूर्ण शुद्धता भी ध्रुव के लक्ष से होती है। उत्पाद-व्यय से रहित ध्रुव आत्मा को और उत्पाद-व्यय से सहित ध्रुव आत्मा को एक समय में जानते हैं। उसमें भी यह रहस्य है कि दृष्टि का विषय जो द्रव्य है, वह तो अनादि-अनन्त परिणाममात्र से रहित ही रहता है। यह मूल बात रखकर कथंचित् सहित हुआ, ऐसे अभेद ज्ञेय को जानता है। ज्ञान सर्वथा रहित जाने तो ज्ञान गलत, तो श्रद्धा भी मिथ्या है। सम्यक् ज्ञान तो उसे कहते हैं जो वस्तु की स्थिति को जैसी हो, वैसी जाने। द्रव्य से परिणाम सर्वथा रहित है, ऐसे ज्ञान जानता ही नहीं। द्रव्य, परिणाम से सर्वथा सहित हो जाये, तो परिणाम स्वयं द्रव्य हो गये।

पंचाध्यायी की तो यह पुकार है कि- द्रव्य वह निश्चय और परिणाम वह व्यवहार। परिणाम को उपादेय आत्मा माननेवाला भ्रान्ति के भँवर से कब छूटेगा वह तो सर्वज्ञ परमात्मा ही जानें!! नियमसार १०२ गाथा में कहा है कि त्रिकाल ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप जीव है, बाकी के संयोग लक्षणवाले भाव, बहिर्भाव हैं। पंचास्तिकाय गाथा १७-१८ में उत्पाद को संयोग और व्यय को वियोग कहा है। चारों तरफ से मिलान करो तो सभी ज्ञानियों का एक ही अभिप्राय प्रगट

होता है। कृपालुदेव ने कहा है वह यथार्थ है। दिगम्बर के तीव्र वचन के कारण रस जीवंत रहता है।

पंचास्तिकाय की ५६ वीं गाथा में पारिणामिकभाव का लक्षण निष्क्रिय बताया है। वही बात जयधवल में बताई है कि पारिणामिकभाव, जो दृष्टि का विषय है, उसका लक्षण निष्क्रिय है। 'आत्मलाभ हेतु पारिणामिक' आत्मा का अस्तित्व... उसका स्वरूप पारिणामिकभाव से है।

समयसार गाथा ३१ में सर्वथा शब्द तीन जगह लगाया है - भावेन्द्रिय को अपने से सर्वथा भिन्न जाने। शिष्य कहता है- सर्वथा में एकान्त हो जायेगा, इसलिए कथंचित् भिन्न कहो? भाई! सम्यक् एकान्त के बिना प्रमाणज्ञान सच्चा नहीं होगा। तेरा प्रमाणज्ञान, प्रमाणाभास में जाता है, क्योंकि उसमें व्यवहार का निषेध करने की शक्ति का ही अभाव है। प्रमाण में विधि-निषेध होता ही नहीं, इसलिए प्रमाण पूज्य नहीं है।

देवसेन आचार्यदेव ने तत्त्वसार गाथा ८ में उत्पाद-व्यय से भिन्न दृष्टि का विषय दिया। परमागमों के आधार से जीवों की श्रद्धा निशंक और बलवान होती है। **'वास्तव में उत्पत्ति और व्यय का अभाव होने से एवं सदाकाल स्थायी रहने से आत्मा का शुद्धस्वभाव नित्य है। तत्त्वज्ञ भव्य पुरुषों को निरन्तर उसका अनुभव करना चाहिए।'** पूज्य गुरुदेवश्री ने तो डंके की चोट पर... प्रमुख स्थान पर दृष्टि का विषय परोसा है। चैतन्य विज्ञानघनस्वभाव में परिणाम प्रवेश नहीं कर सकते। ध्रुव में उत्पाद-व्यय का अभाव है, यह अध्यात्म का 'अभाव' है।

पूज्य गुरुदेवश्री तो शासन के स्थापक थे... इसलिए उनका प्रभावना योग... महान आचार्य जैसा प्रवर्तता था। चारों तरफ से बहुत ही स्पष्टता करते थे, तो भी प्रयोजनभूत विषय तो सदा मुख्य ही रहता था। एक बार मुझे ऐसा कहा था कि लालभाई! सोगानीजी को तो अपना काम करके निकल जाना था, उन्हें पीछे मुड़कर कहाँ देखना था!! इसलिए उन्होंने एकमात्र द्रव्यदृष्टि की जमावट की ही बात कही। जबकि हमें तो शासन को ध्यान में रखकर... कहना पड़ता है! इसलिए आगे-पीछे ज्ञान और बीच में दृष्टि का विषय रख देते हैं...! जिसको समझना हो, वह समझे! मुझे मन में लगा कि कहान कन्हैया! तेरी इस लीला को कौन पहचानेगा!!

द्रव्य, परिणाम से कहता है - तू... द्रव्य में समाकर ही रह। नये-नये उत्पादरूप न हो। तब पर्याय कहती है- उत्पन्न होना तो मेरा स्वभाव है... इसमें मेरी और तुम्हारी दोनों की प्रसिद्धि होती है। यदि मैं उत्पादरूप से प्रगट नहीं होऊँ, तो न तो तेरी प्रसिद्धि होगी और न तो मेरी सिद्धि होगी। इसलिए मैं तो उत्पन्न होऊँगी ही और दोनों को प्रसिद्ध करती हुई तुझमें ही समा जाऊँगी। द्रव्य, पर्याय से कहता है - मैं तो अमृत का सागर हूँ। तेरी जितनी ताकत हो, उतना आनन्द पी ले! और फिर से मुझमें समा जा! निर्मल परिणाम की लहर उठकर... द्रव्य में व्याप्त होकर... अभेद होकर... आनन्द का उपभोग करती है, तथापि पूरे द्रव्य को भोग नहीं सकती।

परिणाम से सर्वथा भिन्न दृष्टिप्रधान निश्चयनय में आ गया... और ज्ञानप्रधान निश्चयनय, यदि उसके ज्ञान में न आये तो भी अनुभव नहीं होगा। श्रद्धा के लोभ में सर्वथा भिन्न मान बैठा, परन्तु कथंचित् अभिन्न ऐसा ज्ञानप्रधान निश्चय उसके ख्याल में से छूट जाये तो मिथ्यात्व ही रहेगा। सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका में टोडरमलजी साहब ने द्रव्यानुयोग के पक्षपाती को सूक्ष्माभासी में डाला है। ज्ञानप्रधान निश्चय में परिणाम, द्रव्य से अभिन्न होता है। यदि परिणाम, द्रव्य से अभेद होवे ही नहीं तो शुद्धपर्याय का व्यवहार ही उत्पन्न नहीं होता। कोई ही प्राप्त करता है, उसका कारण यह है कि —> उन्हें सन्धि करनी नहीं आती।

शुद्ध परिणाम, द्रव्य में अभेद हुए, वह भी व्यवहार है क्योंकि वे वास्तव में अभेद होते नहीं। जैसे राग की पर्याय पुद्गल से अभेद नहीं होती, वैसे शुद्धपर्याय भी ध्रुव द्रव्य में अभेद नहीं होती। उसी समय ज्ञान के पक्ष से विचार करे तो पर्याय, द्रव्य में तन्मय भी होती है। ज्ञानी, श्रद्धा के विषय को अधिकपने रखकर, ज्ञान के विषय को भलीभाँति जानता है। इसलिए ज्ञान की बदहजमी और अतिरेक नहीं होता, क्योंकि सम्यग्ज्ञान मध्यस्थ ज्ञान है।

जैनदर्शन बारह अंग में फैला हुआ है। उन बारह अंगों में शुद्धात्मा प्रसरा हुआ है। श्लोक में कहा कि- '**जिन वचसि रमन्ते**'। दिव्यध्वनि में एक शुद्धात्मा को ही उपादेय कहा है। आनन्दमय स्वानुभूति में बारह अंगों का सार समा जाता है। बारह अंगों को समझना हो तो आत्मानुभव... बस! यही एक चाबी है।

ध्येय पूर्वक ज्ञेय को माननेवाली,
सम्यक् एकान्तपूर्वक सम्यक् अनेकान्त जाननेवाली,
अकर्ता के लक्षपूर्वक कर्ता-कर्म की अभेदता का अनुभव करनेवाली
निश्चयनयपूर्वक सम्यक् प्रमाण का प्रकाश करनेवाली
स्वप्रकाशपूर्वक स्वपरप्रकाशक शक्ति प्रगट करनेवाली,
रहितपूर्वक सहित की सन्धि साधनेवाली
वीतरागीधारा जयवन्त वर्तो.... जयवन्त वर्तो।

मंगलाचरण

ग्रन्थ – श्री ज्ञानसमुच्चयसार

जिनतारणतरण स्वामी विरचित
अनुवादक : ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी

अन्वयार्थ :

शुद्ध निश्चयनय से न तो जीव में कोई शब्द है, न कोई चिह्न है जिसे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जा सके। न उसमें क्रिया है, न हलन चलनादि है, न उसमें निश्चय से कोई उत्पत्ति है, न कोई व्यय है। वह तो ध्रुव शुद्ध है (सुद्धम् सुद्ध सरूवं) वह परम शुद्धस्वरूप है। शुद्ध अर्थात् निश्चल तीन लोकमात्र असंख्यात प्रदेशी है व सर्व कर्ममल रहित है।

(गाथा ७७४)

आप्तमीमांसा

श्री समन्तभद्राचार्य विरचित

अर्थ : धर्म और धर्मी के अविनाभाव है, सो तो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध है। धर्म बिना धर्मी नाहीं। बहुरि धर्म, धर्मी का स्वरूप है। सो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध नाहीं है। स्वरूप है सो स्वतः सिद्ध है। आप ही पहलैं ही स्वयमेव सिद्ध है...

(आप्तमीमांसा, पंचम परिच्छेद, गाथा ७५ का अर्थ)

समयसार

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य रचित
टीकाकार - अमृतचन्द्रसूरि रचित

टीका : जो (पुरुष) पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है और शेष सर्व भावों को दूसरों के जानता है। ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावों को 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा? (नहीं कहेगा;) क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्व-स्वामी सम्बन्ध का असम्भव है। इसलिए, सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करने योग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं—ऐसा सिद्धांत है।

(समयसार, गाथा ३०० की टीका में से)

श्री नियमसारजी

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित
टीकाकार - पद्मप्रभमलधारिदेव

श्लोकार्थ : जीवतत्त्व क्वचित् सद्‌गुणों सहित विलसता है — दिखाई देता है, क्वचित् अशुद्धरूप गुणों सहित विलसता है, क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसता है और क्वचित् अशुद्ध पर्यायों सहित विलसता है। इन सबसे सहित होने पर भी जो इन सबसे रहित है ऐसे इस जीवतत्त्व को मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ।

(नियमसार, कलश २६ का श्लोकार्थ)

श्री परमात्मप्रकाश

योगीन्द्रदेव विरचित
टीकाकार ब्रह्मदेवजी

यद्यपि पर्यायार्थिकनयकर उत्पादव्ययकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर उत्पादव्ययरहित है, सदा ध्रुव (अविनाशी) ही है, वही परमात्मा निर्विकल्प समाधि के बल से तीर्थंकरदेवों ने देह में भी देख लिया है, ऐसा कहते हैं.....

(गाथा ४३ की टीका में से)

हे योगीश्वर, निश्चयनयकर विचारा जावे, तो यह जीव न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, और न बन्ध-मोक्ष को करता है, अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से बन्ध-मोक्ष से रहित है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

(गाथा ६८ में से)

स्वात्मानुभव मनन

धर्मदासजी क्षुल्लक

जैसे अंधेरे की अपेक्षा प्रकाश है और प्रकाश की अपेक्षा अंधेरा है, **वैसे ही बन्ध की अपेक्षा मोक्ष है और मोक्ष की अपेक्षा बन्ध है। अपेक्षा रहित होकर केवल ज्ञानस्वरूपी परमात्मा को देखिये तो न बन्ध है और न मोक्ष है।** अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छह द्रव्य हैं ताका न सात पाँच होवे और न-सात पाँच होवेगा और न-सात पाँच है, छह का छह ही है सो है। इसी वास्ते यह बन्ध, मोक्ष भी विभ्रम ही है। **मैं तो बन्ध मोक्ष से सर्वथा प्रकार भिन्न हूँ।** कोई पर विद्या पदारूढ़ पण्डित बन्ध मुक्त मानता है तो भले मानो। मैं तो अमूर्तिक निराकार मूल से ही हूँ। **मेरे कदाचित् भी बन्ध मोक्ष नहीं।**

(स्वात्मानुभव मनन, पृष्ठ ६२)

● सैंतालीस नय में शुद्धनय-अशुद्धनय है। निर्मल पर्याय सहित द्रव्य को देखो तो उसे अशुद्धनय कहते हैं, क्योंकि व्यवहार हुआ न? भगवान कहते हैं ऐसा सुनो भाई! मोक्ष की पर्याय जो है, केवलज्ञान की पर्याय है वह द्रव्य को स्पर्शती नहीं। (भले) पूर्ण हो गयी... परन्तु है तो पर्याय न!

श्रोता : दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभाव है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव... ऐसे चार प्रकार के अभाव हैं, वह नहीं। यह तो अध्यात्म का अभाव है। राग का और (पर्यय का अभाव, वह) अध्यात्म का अभाव है। समयसार में आता है राग और आत्मा को अत्यन्त अभाव है। यह तो अध्यात्म की चीज है। द्रव्य में पर्याय नहीं है - यह अध्यात्म का अभाव है। थोड़ा परन्तु सत्य यह है।

(परमात्मा प्रकाश, गाथा ६८, दिनांक २०.७.७६ के प्रवचन में से)

बूँद-बूँद में अमृत

(१)

अमृतचन्द्र आचार्य की ताकत अजब-गजब की है। समयसार की टीका करने से पूर्व प्रथम श्लोक और दूसरे श्लोक में पूर्ण समयसार कह दिया। प्रथम श्लोक में दृष्टि का विषय द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न बताया। दूसरे श्लोक में अनेकान्तमूर्ति आत्मा बताया। दो श्लोक में - 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय' का स्वरूप कह दिया। 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय' यह नाम ही चमत्कारिक और रहस्यमय है। 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय' में बारह अंग समा गए हैं।

(२)

प्रश्न : विधि से शुरुआत होती है या निषेध से?

उत्तर : अन्दर में जाये, तब विधि से जाता है, परन्तु उससे पहले व्यवहार का तीव्र निषेध आ जाता है।

(३)

प्रश्न : अकर्ता ऊँचा या ज्ञाता?

उत्तर : एक अपेक्षा से ज्ञाता ऊँचा, क्योंकि ज्ञाता में सर्व गुण आ जाते हैं। दूसरी अपेक्षा से अकर्ता ऊँचा, क्योंकि ज्ञाता में तो स्व-पर की अपेक्षा भी आती है।

(४)

ज्ञान अभेदपने परिणमकर जानने में आये तो स्वज्ञेय है। और वही ज्ञान भेद से परिणमकर जानने में आये तो परद्रव्य है। परिणाम को परद्रव्य कहा है; इसलिए परद्रव्य को जानने से ज्ञान भी नहीं होगा और सुख भी नहीं होगा।

(५)

पर्याय, ध्रुवदल से ऊपर उठता भाव होने से वह द्रव्य से सर्वथा अलग है; इसलिए प्रतीति में वह सर्वथा अलग हो जाती है।

(६)

हीरे से जड़ी हुई बात → व्यवहार की बात में 'भी' लगाने से निश्चय का जन्म होता है। निश्चय की बात में 'भी' न लगाना। अगर वहाँ 'भी' लगाएगा तो व्यवहार का जन्म होगा; इसलिए निश्चय की बात में 'सर्वथा' और 'ही' लगाना।

(७)

तेरे में परिणाम नहीं है → एक बात। परिणाम को जाननेवाला ज्ञान तेरे पास नहीं है दूसरी बात। क्योंकि पर्याय है, वह आत्मा नहीं है और पर्याय को, अर्थात् भेद को जाने, वह ज्ञान नहीं।

(८)

व्यवहारनय हमेशा कहता है कि आत्मा, परिणाम से सहित है, परन्तु परिणाम प्रगटते हैं, वह गुप्त परद्रव्य है.... वैसा निश्चयनय हमेशा कहता है।

(९)

मूल बात आत्मा, परिणाम से रहित है - ऐसा जानो और मानो। क्योंकि जाने हुए का श्रद्धान होता है। ज्ञान जिसको जाने, उसको वह अपना मानता है, मानता है और मानता है।

(१०)

जैनदर्शन में परिणाम को भिन्नरूप से जानने की कोई व्यवस्था ही नहीं है। जैनदर्शन में तो परिणाम का लक्ष छूटकर और परिणामी आत्मा जो हुआ, वह जानने में आता है।

(११)

जैसा सामान्य, वैसा ही विशेष, उसे पदार्थ कहने में आता है। सामान्य से जो परिणाम की जाति अलग पड़ती है, वह सामान्य का विशेष नहीं।

(१२)

(१) 'गुण समुदायो द्रव्यम्' → यह दृष्टि का प्रमाणभूत द्रव्य है।

(२) 'शुद्धाशुद्ध पर्याय का पिण्ड, वह द्रव्य' → यह आगमप्रमाणभूत द्रव्य है।

(३) 'निर्मल परिणाम से सहित द्रव्य' → यह अध्यात्मप्रमाणभूत द्रव्य है।

(१३)

मूल बात समझने जैसी। शास्त्र में जीव के लक्षण तीन प्रकार से कहे गये हैं।

(१) गुण लक्षण, (२) सामान्य उपयोग लक्षण, (३) शुद्धोपयोग लक्षण।

(१) परमपारिणामिकभाव → गुणरूप लक्षण में उपादेय तत्त्व ख्याल में आता है।

(२) उपयोगरूप लक्षण में → राग से भिन्न पड़कर और परिणामी 'समय' नाम का आत्मा हाथ में आता है।

(३) शुद्धोपयोगरूप लक्षण → यह साधक का सच्चा लक्षण है। आनन्द आया तो आनन्दमूर्ति की सच्ची प्रतीति हुई।

(१४)

आश्रय की अपेक्षा से द्रव्य को कारणपरमात्मा कहा; वास्तव में तो वह अकारणपरमात्मा है। आत्मा में, परिणाम के कर्तापने होने का और परिणाम का कारणपने होने के धर्म का अभाव है।

(१५)

अभेद, वह निश्चय; अभेद का भेद (गुण), वह व्यवहार, बस। निषेध करने के लिए भी पर्याय में नहीं जाना। पर्याय को आत्मा के संग किसी भी प्रकार का, यानि निश्चय या व्यवहार से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

(१६)

दुःख में अपनापना छोड़ना हो, तो उसका दूसरा कोई स्वामी खोज डालो। दुःख, पुद्गल से अनन्य है... यह अध्यात्म की पराकाष्ठा है।

(१७)

सम्यक्त्वसन्मुख जीव कहीं पर अटकता है, मगर वह दोष देखने नहीं रुकता, क्योंकि उसे पता है कि दोष खोजने जाने से निर्दोष आत्मा जानने का रह जाएगा! इसलिए दोष के बदले वस्तुस्थिति को देखो।

(१८)

व्यवहार के पक्षवाले ने बाजी हाथ में से गँवा दी है; भले ही नौवें ग्रैवेयक जाये। जबकि निश्चय के पक्षवाले के हाथ में बाजी है; भले ही वह नरक में जाये।

(१९)

पूज्य गुरुदेव, व्यवहार की बात संभालपूर्वक कहते थे। कहीं सुननेवाले को व्यवहार का पक्ष दृढ़ न हो जाये, उसका ध्यान रखते.... रखते व्यवहार की बात करते थे।

(२०)

श्रद्धा सच्ची हो और ज्ञान खोटा भी हो तो वह वापस सुल्टा हो जायेगा, क्योंकि सच्ची श्रद्धा है, वह सच्चे ज्ञान को खींच लाएगी। यह बात जबरदस्त है।

(२१)

ध्रुव का ध्यान और उत्पाद-व्यय का ज्ञान, समय एक। 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय' उसमें सम्पूर्ण जैनदर्शन है।

(२२)

(१) पुद्गल में आत्मा नहीं जाता; इसलिए उसे करता नहीं। (२) राग में आत्मा नहीं जाता, इसलिए उसे करता नहीं। (३) संवर, निर्जरा की पर्याय में आत्मा नहीं जाता, इसलिए उसे करता नहीं।

(२३)

(१) शुभाशुभभाव करना, वह अज्ञान है, (२) भेदज्ञान का विचार करना, वह व्यवहार है, (३) अभेद का विचार करना, वह निश्चय है।

(२४)

(१) पर्याय, पर्याय को करती है → सूक्ष्मतर। (२) पर्याय हुआ करती है → सूक्ष्म। (३) पर्याय है → सूक्ष्मतम।

(२५)

(१) एकान्त से परद्रव्य ही जानने में आता है → वह मिथ्या एकान्त।

(२) स्व और पर दोनों जानने में आते हैं → वह मिथ्या अनेकान्त।

(३) जाननहार ही जानने में आ रहा है → वह सम्यक् एकान्त।

(४) जाननहार ही जानने में आ रहा है, वास्तव में पर नहीं जानने में आता → यह सम्यक् (अस्तिनास्ति) अनेकान्त।

(२६)

निर्मलपर्याय का कर्ता और जाना हुआ प्रयोजनवान, इसमें सातवें से छठवें गुणस्थान) में आ गया (चारित्र का दोष खड़ा हुआ, यह चारित्र का गुण नहीं है।)

(२७)

उत्पाद-व्यय, पर्याय का स्वभाव है; इसलिए पर्याय अपने स्वभाव से ही परिणमती है। पर्याय को पर्याय के स्वभाव से देखने पर आत्मा, व्यवहार से पर्याय को करता है, यह कर्तापने का उपचार निकल जाता है।

(२८)

मोह की व्याख्या दो प्रकार से → (१) एकांत पर को जानना, यह मिथ्यात्व का दोष है। (२) अपने को जानते... जानते पर को जाने, यह चारित्र का दोष है।

(२९)

साधक, व्यवहार से पर को जानता है.... अर्थात् कौन जानता है? पर को कौन जानता है? आत्मज्ञान जानता है? या इन्द्रियज्ञान? थैले (बोरे) में पनसेरी नहीं चलेगी। थैले (बोरे) में है, वह मारता है तो पीठ टूट जाती है। इसी प्रकार 'जाना हुआ प्रयोजनवान' आगे करे तो मिथ्यात्व की पनसेरी, ज्ञान की पीठ को तोड़ देती है।

(३०)

एक समय का इन्द्रियज्ञान, लक्षपूर्वक स्व-पर दोनों को नहीं जानता। एक समय का अतीन्द्रियज्ञान, लक्षपूर्वक स्व-पर दोनों को नहीं जानता। (लक्ष बिना जाने) प्रतिभास स्व-पर दोनों का हो, मगर छद्मस्थ को एक समय में लक्ष एक का ही होता है। अब स्व का लक्ष, मोक्ष का कारण; पर का लक्ष, बन्ध का कारण है।

(३१)

आत्मार्थी जीव सूक्ष्म बोध का अभिलाषी ही होता है। यह भी उसका बहिर्भूत लक्षण है; अन्तर्भूत लक्षण नहीं।

(३२)

उत्पाद - व्यय, वह पर्याय का स्वभाव है; इसलिए यह बन्ध मोक्ष का कारण नहीं। पुण्य-पाप का भाव, उत्पाद की उपाधि है और बन्ध का कारण है। वीतरागभाव, वह भी उत्पाद की उपाधि है; इसलिए वह मोक्ष का कारण है। उपाधि का अर्थ बढ़ी हुई चीज। (यह बात पंचाध्यायी, भाग-२ में है।)

(३३)

उसे दो बात समझने की है (१) आत्मा का स्वरूप, (२) ज्ञान का स्वरूप। अपरिणामी को श्रद्धे और परिणामी को जाने, वह जैनदर्शन है।

(३४)

ज्ञान कहो तो भी जाननहार; ज्ञेय कहो तो भी जाननहार; ज्ञाता कहो तो भी जाननहार। नाम तीन होने पर भी वस्तु तो एक है।

(३५)

आत्मा, पर को जानता है, इसका नाम व्यवहार नहीं है। इसका नाम मिथ्यात्व है - भ्रान्ति है। आत्मा, आत्मा को जानता है, उसका नाम व्यवहार है। आत्मा तो आत्मा ही है, ऐसा अनुभव करना, उसका नाम निश्चय है।

(३६)

ज्ञान कभी भी भेदरूप नहीं होता। ज्ञान स्वयं आत्मा होने से... अभेद परिणामी द्रव्य ही है। भेद है ही नहीं, उसमें आत्मलाभ होगा। भेद करे तो होगा - ऐसा भी नहीं।

(३७)

(१) ज्ञान, आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है। (२) ज्ञान, आत्मा को प्रसिद्ध करता है। (३) ज्ञान, आत्मा से तादात्म्य होता है।

(३८)

इन्द्रियज्ञान, वह कर्म का भोग है। वह ज्ञेय के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला भाव होने से नोकर्म का परिणाम है। राग है, वह द्रव्यकर्म का परिणाम है। संसार की शुरुआत इन्द्रियज्ञान को ज्ञान मानने से ही होती है। (१) इन्द्रियज्ञान को ज्ञान मानना, यह ज्ञान सम्बन्धी भूल। (२) परपदार्थ को ज्ञेय मानना, वह ज्ञेय सम्बन्धी भूल।

(३९)

'ज्ञेयाकार ज्ञान', ज्ञान का निरपेक्ष स्वभाव होने से उसमें ज्ञेयों की अपेक्षा भी नहीं, और ज्ञेयों का लक्ष भी नहीं। पर के अवलम्बन बिना ज्ञेयाकार ज्ञान समझाया नहीं जा सकता। किन्तु ज्ञेयाकार ज्ञान, है तो निरालम्बी।

(४०)

ज्ञेयों का प्रतिभास, ज्ञेयों के कारण नहीं होता, परन्तु ज्ञेयों का प्रतिभास, ज्ञान के कारण से होता है। (ज्ञेय से ज्ञान नहीं) इसलिए ज्ञेयों के प्रतिभास में ज्ञेय जानने में नहीं आते, परन्तु ज्ञेयों के प्रतिभास में ज्ञान जानने में आता है।

(४१)

प्रश्न : परमार्थवचनिका में आता है कि इन्द्रियज्ञान, वह केवलज्ञान का अंश है, यह किस प्रकार?

उत्तर : ज्ञानपर्याय के साथ द्रव्य-इन्द्रिय का सम्बन्ध रखो तो वह भाव-इन्द्रिय है; इसलिए वह ज्ञान का अंश ही नहीं। अब, उसमें से इन्द्रिय की उपाधि हटाकर देखो तो वह ज्ञान ही है। इसलिए वह ज्ञान, केवलज्ञान का अंश है।

(४२)

आत्मा का लक्षण उपयोग। उपयोग का लक्षण स्वपरप्रकाशक। अब, उसमें से सम्यग्ज्ञान का लक्षण → स्वप्रकाशक एकान्त से। मिथ्याज्ञान का लक्षण → परप्रकाशक एकान्त से।

(४३)

उपयोग को बदलने का प्रयत्न करेगा तो कर्ताबुद्धि का दोष लगेगा। जैसा स्वरूप है, वैसी रुचि होने से उपयोग सहज पलट जायेगा। श्रद्धा के बल से उपयोग अन्दर आता है; इसलिए श्रद्धा, वह निश्चय और ज्ञान, वह व्यवहार।

(४४)

उत्पाद, व्यय और ध्रुव – उन तीनों को एक समय में न जाने तो ज्ञान का विषय पूरा नहीं होता; अतः इच्छा रह जाती है। श्रुतज्ञानी का केवलज्ञानी के संग मेल किया है। एक समय में श्रद्धा-ज्ञान दोनों अन्तर्मुख होते हैं और जब दोनों का विषय पूरा होता है, तब ज्ञान शांत हो जाता है। आत्मा ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय – ऐसा अभेद पूर्ण प्रमाण का विषय ज्ञान में ज्ञेय होता है।

(४५)

'एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर; समल विमल न विचारिये, यही सिद्धि नहीं और।' इसमें यह कहते हैं कि जो श्रद्धा का ज्ञान का विषय है; उसे ही चारित्र का विषय बनाओ। दूसरा यह कहा कि 'एक जानिये' अर्थात् एक ही जानने में आता है, दूसरा जानने में नहीं आता। जानते हुए भी, जानता नहीं; चलते हुए भी, चलता नहीं; देखते हुए भी, देखता नहीं।

(४६)

'आत्मा, पर का कर्ता नहीं' → इस पर से पात्र जीव क्या निकालता है? वह ये निकालता है कि पर के सामने देखना व्यर्थ है। अपात्र जीव क्या निकालता है? केवली भी लोकालोक को जानते हैं; इसलिए पर को जानना मेरा स्वभाव है। केवलज्ञान में से उसने ऐसा ग्रहण किया कि

उसकी बहिर्मुखता कायम बनी रहेगी और पात्र जीव ने 'पर का कर्ता नहीं हूँ' ऐसे सादे सिद्धांत में से ऐसा तत्त्व निकाला कि बहिर्मुखता रखनी हो तो भी रहे नहीं।

(४७)

अध्यात्मप्रमाण में भी शुद्धपर्याय से सहित हूँ - इतना ही आता है; राग से सहित हूँ – वैसा आता ही नहीं। जो अध्यात्मप्रमाण में रहेगा, उसे श्रेणी जल्द ही आयेगी। सैंतालीस शक्तियाँ और उनका परिणमन, यह दोनों अध्यात्मप्रमाण के विषय में आ जाते हैं।

(४८)

राग से असंयुक्त होने पर भी, संयुक्त जैसा प्रतिभासता है, यह प्रतिभास ही संसार का बीज है। इसलिए राग से सहित हूँ, यह अज्ञान है; व्यवहार नहीं। 'राग से रहित हूँ' ऐसा जोर करके उठा था अनुभव से पहले; फलत् राग से सहित हूँ, वैसा उसे आता ही नहीं। शुद्धपर्याय से सहित हूँ, वैसा नया व्यवहार प्रगट होता है।

(४९)

एक समय अकर्ता की धुन लगी, तब पढ़ा कि आत्मा, ज्ञानक्रिया का कर्ता है। यह पढ़ के पिताजी को पूछा कि – कुन्दकुन्दाचार्य ने, आत्मा, अकर्ता होने के बावजूद, कर्ता है – ऐसा क्यों लिखा? पिताजी ने कहा - तेरी बात तो सच्ची है। व्यवहार के दृष्टिकोण का ज्ञान कराते हैं। ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होने से, निषेध नहीं किया गया है। (यह बात पूज्य भाईश्री को खटकी।)

(५०)

अकर्ता हूँ, ऐसी श्रद्धा तो हो गयी, फिर भी करने का विकल्प आया करता है, यह बात अटपटी है। करने का विकल्प गृहस्थ को छूटता नहीं, परन्तु मैं कर सकता हूँ – ऐसा मिथ्या अभिप्राय तो छूट जाता है।

(५१)

अनुभव के काल में पर्याय जानने में ही नहीं आती.... इसकी दो अपेक्षा अथवा दो कारण है।

(१) द्रव्य में पर्याय नहीं.... इसलिए पर्याय जानने में नहीं आती।

(२) जितना उपोदय तत्त्व है, उतना ही जानने में आता है; जो उपादेय नहीं, वह जानने में नहीं आता। यहाँ उपादेय की विवक्षा से बात है; जानने की विवक्षा से नहीं।

(५२)

अकेला उपादेय तत्त्व जानने में आवे, हेय तत्त्व जानने में न आवे, तब वह हेय हो जाता है।

(५३)

पर्यायदृष्टि का चश्मा उतार कर देख तो सत्य नजर में आयेगा। यदि वह चश्मा पहनकर देखता रहेगा तो भ्रांति दृढ़ होगी।

(५४)

नव तत्त्व को जीवपने तो नहीं, जीव के परिणामपने भी नहीं; पुद्गल के परिणामपने देखोगे तो आत्मा हाथ में आयेगा। नव तत्त्व के भेद, वह अजीव का विस्तार है; जीव का विस्तार ही अशक्य है।

(५५)

अजीव अधिकार में, आत्मा को और शुद्धपर्याय को दूध और पानी के समान संयोग सम्बन्ध है। शुद्धपर्याय और द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं, यह गूढ बात इसमें आ गयी है। दूध और पानी जैसी दोनों की जुदाई है। सामान्य में विशेष की नास्ति है, ऐसी भिन्नता जब तक नहीं भासती, तब तक आत्मा हाथ में नहीं आता।

(५६)

आत्मा के घोलन-मनन में ऐसा चढ़ जाता है कि कोई आकार खबर दे कि 'आपके घर चक्रवर्ती पधार रहे हैं' तो उसे लगता है कि ऐसा परीषह कैसे आ गया?

(५७)

श्री समयसारजी में गुणभेद का निषेध करनेवाली गाथा ७ और १४ है तथा पर्यायभेद का निषेध सारे समयसार में कराया है। उसका कारण यह है कि... गुणस्वभाव के निर्णयवाला जीव, गुणभेद ऊपर खड़ा नहीं रहता; अनुपचरित सद्भूत व्यवहार का निषेध करके गुणी में चला जाता है। अब वह अन्दर के भेद के अफर निर्णय में भी नहीं आता। पर्याय के उत्पाद-व्यय धर्म को ही आत्मा माना करता है, इसलिए उसका निषेध जगह-जगह पर किया है।

(५८)

मिथ्यात्व होने पर भी, मिथ्यात्व को वेदता नहीं, ऐसा कहकर भेदज्ञान की गजब बात कही है। अस्थिरता को नहीं वेदता ऐसा कहे तो ठीक परन्तु मिथ्यात्व को नहीं वेदता - ऐसा कहा है। यह तीखी दृष्टिवाले की बात है। अन्दर में डुबकी मारनेवाला जीव यह भी नहीं देखता कि पुद्गलद्रव्य, पुद्गलकर्म को करता है।

(५९)

(१) राग, भावक का भाव है – ऐसा जाने, तब भाव्य-भावक का दोष मिटे।

(२) जाननेवाला ही जानने में आता है, वास्तव में पर नहीं; तब ज्ञेय-ज्ञायक का संकर दोष मिटता है।

(६०)

एक 'ज्ञायक' शब्द में बारह अंग का सार है क्योंकि दृष्टि के विषय में 'ज्ञायक' और ज्ञान के विषय में भी 'ज्ञायक'। एक 'ज्ञायक' निर्मलपर्याय से रहित और वही का वही 'ज्ञायक' निर्मलपर्याय से सहित, 'ज्ञायक' में ही अनुभव का विषय है और 'ज्ञायक' में ही अनुभव की विधि रही हुई है।

(६१)

दृष्टि का विषय ख्याल में आता हो और अनुभव नहीं होता हो तो उसे जाँच करना चाहिये कि ज्ञान के विषय में कहीं भूल रह गयी है। कितनी ज्ञानप्रधान बातें भी अनुभव में सहायक होती है; जैसे कि कर्ता-कर्म का अनन्यपना, वह अनुभव होने में सहायक है।

(६२)

दोषों को स्वीकारे ही नहीं तो ज्ञान झूठ हो जाता है। दोष को ही स्वरूप माने तो श्रद्धा झूठी होती है।

(६३)

शुभाशुभभाव और उसके फल में तो नहीं फँसता... मगर आनन्द की भर्ती (ज्वार) आए उसमें भी नहीं फँसता। उससे उदास हूँ। यह दृष्टि की दौलत दिखाई जाती है।

(६४)

क्रोध, मान, द्रव्यकर्म में होता है; उनको आत्मा में नहीं स्थापो। आत्मा में ज्ञान होता है - ऐसा स्थापो। क्रोध, मान, वह द्रव्यकर्म का भावकर्म है। यह ज्ञान में प्रतिभासता है, तब ज्ञान पर नजर न होने से, मैं क्रोधित हूँ - ऐसा भ्रम से मानता है, तब जीवप्रत्ययरूप भावकर्म की उत्पत्ति होती है।

(६५)

मैं अकर्ता हूँ - ऐसा दृष्टि के विषय के पक्ष में आया। फिर आत्मा कर्ता भी है, यह बात ख्याल में आने से; अकर्ता हूँ - ऐसा श्रद्धा का बल वैसा का वैसा ही रख कर, अकर्ता के सम्बन्ध का रागवाला पक्ष क्रम-क्रम से विलय होता हुआ नाश हो जाता है। यह ज्ञान का पहलू समझने लायक है। यदि यह नहीं समझे और अकेला दृष्टि के विषय के पक्ष में रहेगा तो दृष्टि के विषय का राग रहेगा, किन्तु अनुभव नहीं होगा। अनन्त भव करने पड़ेंगे। यह दूसरा पैरा छठवीं गाथा का है वह अद्भुत रहस्यमय है। यह व्यवहार भी समझने लायक है। दृष्टि के विषय के पक्ष से भी अनुभव नहीं होता और कर्ता-कर्म का भेद दिखे तो भी अनुभव नहीं होता।

(६६)

सब जगह क्रमबद्ध का साम्राज्य है। होता है, उसे कौन करे? टलते हुए को कौन टाले? आत्मा का स्वभाव अकर्ता-ज्ञायक है।

(६७)

परिणाम से सहित मानेगा, तब तक आत्मा कर्तारूप ही भासेगा। प्रमाण में या व्यवहारनय में 'रहित हूँ' - ऐसा दिखाने की शक्ति ही नहीं है। निश्चयनय में ही वह शक्ति है।

(६८)

एक बार पूज्य गुरुदेवश्री ने क्षमापना के दिन फरमाया कि – 'वैसे तो हम सबको भगवान आत्मा ही देखते हैं... परन्तु कभी भी कोई जीव को पर्याय की मुख्यता से देखा हो तो क्षमा करना।' देखो! यह गजब की बात, अद्भुत क्षमा की बात। यह सुन के मुझे ऐसा लगा कि इन धर्मात्मा की विशालता कितनी है! इसको कौन जाने? देखो! इस व्यवहार क्षमापना की बात में भी उन्होंने द्रव्यदृष्टि सिखा दी।

(६९)

प्रश्न : श्रुतज्ञान को आत्मा कहने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर : श्रुतज्ञान, वह पर्याय है, उसमें जब तक भेद की भ्रांति रहती है, तब तक अनुभव नहीं होता; इसलिए श्रुतज्ञान को आत्मा कहा है। यह अनादिकाल के मिथ्यात्व का जहर उतारने का मन्त्र है।

(७०)

प्रवचनसार, गाथा १२४ में ऐसा आता है कि – 'अर्थ विकल्पात्मकं ज्ञानम् प्रमाणम्।' पंचाध्यायी में पण्डित राजमलजी ने इस ज्ञान को असत् लक्षण कह दिया। आहाहाहा! कुन्दप्रभु की कही हुई बात को 'असत् लक्षण' कह डाला; यह गजब की बात है। इसमें रहस्य है। यहाँ आचार्यदेव को झूठा बताने की बात नहीं है परन्तु जब तक ऐसा भासन होगा कि स्व और पर जानने का मेरा स्वभाव है, तब तक परज्ञेय को जानने के लिये ज्ञेयाकार ज्ञान, अर्थात् इन्द्रियज्ञान का ही आविर्भाव होता रहेगा। प्रमाण का पक्ष छुड़वाने के लिये ऐसा कहा है। एक बार भी

अन्दर से बल नहीं आये कि 'मैं पर का जाननहार नहीं', तब तक उपयोग अन्दर में नहीं आयेगा।

(७१)

दो टुकड़े निर्दयता से कर दो कि मेरे में पर्याय नहीं है। भले सांख्यमती हो जाओ....परन्तु पर्याय मेरे में नहीं... ऐसा जोर लाओ। एक बार तो ऐसा सम्यक् एकान्त का पक्ष आना चाहिए कि कोई निश्चयाभासी कह दे तो कह दो।

(७२)

समकित सन्मुख जीव ने स्वरूप का ऐसा निर्धार किया है कि श्रीगुरु भी व्यवहारनय से स्वरूप का वर्णन करें तो उन्हें अन्दर से ख्याल आता है कि निश्चय से मैं ऐसा नहीं हूँ, अन्दर से जोर आता है।

(७३)

समयसार, गाथा ११ में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा, इस बात को सर्वत्र लक्ष में रखे तो उसे निश्चय का पक्ष आ जाता है। समयसार, गाथा ५६ में इसका और ज्यादा खुलासा किया है।

(७४)

व्यवहारनय कहता है कि जो आत्मा नहीं, उसी को मैं आत्मा कहूँगा, यही मेरा धर्म है। तुम मुझ पर किसलिए भरोसा करते हो? **व्यवहारनय झूठ बोलता है।**

(७५)

यह बात मैं बार-बार बार-बार कहता हूँ कि अनुभव का विषय ठीक से समझना, अनुभव के विषय के साथ अनुभव बँधा हुआ है। परिणाम से कथंचित् भिन्न में अनुभव का विषय रहता है। परिणाम से कथंचित् अभिन्न में अनुभव आता है।

(७६)

शुद्धभाव अधिकार में द्रव्य के लिये 'होने से' विशेषण बहुत आया है। 'होने योग्य' (परिणमन) ऐसा नहीं आया। शुद्धभाव की तीक्ष्ण बात चलती हो वहाँ 'स्यात्पद' से विपरीतता आ जाती है।

(७७)

द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ – ऐसा भी नहीं है। मैं तो निरपेक्ष शुद्ध हूँ।

(७८)

अनेक प्रकार की पर्याय में भगवान आत्मा आता ही नहीं। सामान्य स्वभाव अपनी सीमा छोड़कर पर्याय में आता ही नहीं, इसलिए वह उसका कर्ता नहीं है।

(७९)

आत्मा में दुःख का त्रिकाल अभाव होने से; उसके अभाव करने से दुःख का अनुभव नहीं आता क्योंकि दुःख उसमें नहीं है। दुःख अभूतार्थ होने के कारण सुखस्वरूपी आत्मा की अनुभूति हो सकती है - यह १४ वीं गाथा का रहस्य है।

(८०)

आत्मा में चैतन्यपना व्याप्त है। चैतन्यशक्ति से व्याप्त है, उतना ही यह जीव है, चित्शक्ति से शून्य जो ये भाव हैं, वे सब पौद्गलिक है। वे जीव तो नहीं, किन्तु जीव के परिणाम भी नहीं। सामान्य चैतन्यशक्ति उनमें नहीं व्यापती; फलतः वे पौद्गलिक हैं। नाशवान भाव मेरा स्वभाव नहीं, वह पौद्गलिक है। झटका लगनेवाली बात है। जब झटका लगे, तब जागृत होगा। सर्वज्ञ भगवान ने उनको कर्मकृत पुद्गलजन्य कहा है।

(८१)

जहाँ तक नयपक्ष है, वहाँ तक राग है। निश्चयनय के पक्ष में आया, तो भी वह राग है, उसमें शान्ति नहीं है। दृष्टि के विषय की दृढ़ता होने के पश्चात् वह ज्ञान के विषय की तरफ जाता है। वहाँ ज्ञान मध्यस्थ होने से राग-द्वेष का जोड़ा नाश को प्राप्त हो जाता है। दृष्टि के विषय का जोर रंचमात्र कम नहीं होता, परन्तु दृष्टि के विषय का राग निकल जाता है। पहले पर्याय को भिन्न किया था, अब यदि सर्वथा भिन्न ही करने में आवे तो मिथ्या एकान्त हो जाता है। जहाँ तक पक्ष है, वहाँ तक सम्यक् एकान्त नहीं था।

(८२)

अकर्ता का जोर आया, फिर भी पक्ष है, वहाँ तक आकुलता है। निश्चय का पक्ष आया उससे क्या? पक्ष में रह गया तो अनुभव नहीं होगा। उससे क्या? ऐसा कहकर तेरे हाथ में कुछ नहीं आया, यह कहना है। तू क्या द्वैत की लड़ाई करने लगा? यह कहना है।

(८३)

ज्ञायक पर झुकाव आया → 'जाननहारा ही जानने में आ रहा है।' उससे कर्ता भी मैं और कर्म भी मैं। अकर्ता + कर्ता-कर्म का अनन्यपना = अनुभव। परिणामी द्रव्य ही कर्ता और परिणाम कर्म; फिर परिणामी द्रव्य कर्ता और परिणामी द्रव्य ही कर्म। निर्मल पर्याय परिणत स्वरूप मैं।

(८४)

प्रश्न : तो क्या पहले से ही मध्यस्थ होना?

उत्तर : यह मध्यस्थ होने की बात डिपोजिट में रखनी अच्छी है। यदि इस ज्ञेय की बात में मीठापन लगता है तो तकलीफ पड़ जाए - ऐसा है। यह बात समझने पर ध्यान रखना कि यह ज्ञेय की बात है, अर्थात् व्यवहार की बात है; ध्येय की नहीं।

(८५)

(१) ज्ञानप्रधान निश्चय → मिट्टी कर्ता है। (२) दृष्टिप्रधान निश्चय → मिट्टी अकर्ता है। (३) ज्ञानप्रधान निश्चय → परिणामी द्रव्य कर्ता है। (४) दृष्टिप्रधान निश्चय → अपरिणामी द्रव्य अकर्ता है।

(८६)

कलश-टीका श्लोक ९ : (१) प्रमाण → द्रव्य से द्रव्य से शुद्ध, पर्याय से अशुद्ध, (२) नय में → एक को मुख्य करके, दूसरे को गौण करके। (३) निक्षेप → उपचार घटनारूप ज्ञान, वह विकल्प, (४) (लक्षण) जानना → शुद्ध हूँ, अशुद्ध नहीं। (५) विकल्प → (A) खण्डज्ञान, (B) राग, चारित्र की विकारी पर्याय। (६) प्रथम अवस्था में भला है, स्वरूपमात्र का अनुभव करने पर झूठे हैं।

(८७)

पाप का ग्रहण करके पुण्य का त्याग नहीं कराया... परन्तु ज्ञान का ग्रहण करके, पुण्य का एकत्व छुड़वाया है। यह ऊपर-ऊपर चढ़ने की बात है।

(८८)

इन्द्रियज्ञान में स्वरूप का निर्णय होता है, इसलिए उसे तू सर्वथा न उड़ा देना। जो सविकल्प भेदज्ञान करता है, उसे निर्विकल्प होने का अवकाश है।

(८९)

(१) आत्मा, शुद्धपर्याय का कर्ता है → यह जहर है।

(२) आत्मा, शुद्धपर्याय का अकर्ता है → यह अमृत है।

(३) अज्ञानी को ऐसा लगता है कि → यह स्याद्वाद को उड़ाता है; परन्तु वह श्रद्धा को पुष्ट करता है, उसका ख्याल नहीं आता।

(९०)

उपयोग के प्रयोग अनुसार कषाय होती हैं। जितनी मात्रा में उपयोग पर में जुड़ता है, उतनी कषाय होती है परन्तु मूल बात तो यह है कि → पर को जाने तो पर में जुड़े न? (मूल में चोट मारी है।)

(९१)

कलश-टीका श्लोक ८ में ऐसा नहीं लिया कि चेतना लक्षण से पर्याय को जानता है। वहाँ ऐसा कहा कि जीव को जानता है। भले ही भेद पड़ता है, परन्तु जानता अभेद को है। भेद, भेद को नहीं देखता, वह अभेद को देखता है। मन के द्वारा समझ लेता है, यह बात है। सविकल्प स्व-संवेदन से आत्मा को जानता है। यदि प्रेक्टीस बढ़ जाए तो नींद में भी यही आवे → जाननेवाला जानने में आ रहा है... जाननेवाला जानने में आ रहा है।

(९२)

देखो ज्ञान की मध्यस्थता! पर्याय अपने घर की व्यक्ति होने पर भी, उसे हेय की कोटि में रखा। जब छह द्रव्य अपने घर के व्यक्ति नहीं हैं, फिर भी उन्हें ज्ञेय की कोटि में रखा।

(९३)

जो वास्तव में परमात्मा नहीं है, उनमें परमेश्वरपने की स्थापना हो सकती है, तो जो वास्तव में परमेश्वर द्रव्य है, उनमें परमेश्वरपने की स्थापना क्यों नहीं करनी?

(९४)

जैसे कमाने की रुचि के सामने खाने का प्रयोजन भूल जाता है, वैसे द्रव्य के रस के सामने आनन्द का प्रयोजन भूल जाता है। 'आनन्द लहेंगे मगर ज्ञाता रहेंगे' अर्थात् आनन्द के प्रयोजन के प्रति उदासीनता रहती है।

(९५)

ज्ञान में ज्ञान अटका; वहाँ केवलज्ञान हो गया।

(९६)

राम का वेष ले तो सीता रीझेगी परन्तु जब मैं राम का वेष लेता हूँ, तब मेरे भाव ही पलट जाते हैं; इसी तरह द्रव्य का वेष लेने से, पर्याय को सुधारूँ – ऐसा भाव ही नहीं रहता।

(९७)

जैसे कोई शादीशुदा पुरुष की नजर बच्चों पर जाती है कि कितने बच्चे हैं? वैसे ही आत्मा को कर्ता मानने से कर्म पर ही नजर जाती है। इसका फल संसार है।

(९८)

मैं पर को मारता हूँ, और पर को जिलाता हूँ, यह अभिप्राय जैसे अध्यवसान है; वैसे ही पर्याय को उत्पन्न करता हूँ और व्यय करता हूँ - यह अभिप्राय भी अध्यवसान है।

(९९)

साधक को मोक्ष के अनन्त सुख का ख्याल आया है, फिर भी उसके बिना जी सकता है, यह भिन्नता के भान का प्रताप है। यदि आस्रव से भिन्नता का भास न हुआ होता तो साधकपना का काल निकालना बहुत कष्टवाला हो जाता।

(१००)

जो प्रमाणज्ञान के विषय को श्रद्धा का विषय बनाता है, वह स्थूल और स्पष्ट मिथ्यादृष्टि है।

(१०१)

द्रव्य से शुद्ध पर्याय से अशुद्ध, इसमें जानने का आया; परन्तु इसमें हेय-उपादेय नहीं आया! इसलिए यह अज्ञान है। हेय-उपादेय की ताकत नय में है; इसलिए प्रमाण, आत्मा का पक्षातिक्रान्त कराके अनुभव नहीं करा सकता।

(१०२)

व्यवहारनय के विषय का पक्ष छोड़ने लायक है, परन्तु उसका ज्ञान छोड़ने लायक नहीं। यह तो ज्ञान का स्वभाव है; उस पर बलात्कार कैसे कर सकते हैं?

(१०३)

आत्मा उपादेय होता है, तब पुण्य हेय हो जाता है। समय एक होने पर भी उसका हेय पर लक्ष नहीं है। पुण्य ज्ञेय तो है न? - ऐसे पुण्य को ज्ञेय बनाएगा तो आत्मा कब ज्ञेय बनेगा?

(१०४)

मैं कर्मों से तो निरपेक्ष, परन्तु कर्म सापेक्ष सात तत्त्वों से भी निरपेक्ष हूँ। पुण्य - पाप, कर्मकृतभाव है, आत्मकृत नहीं। क्योंकि कर्म के सम्बन्ध से होते हैं, इसलिए निमित्त सापेक्ष गिनकर उन्हें कर्मकृत कहने में आता है। कारण जैसा कार्य गिनकर उन्हें पुद्गल के कहे हैं। यहाँ प्रयोजन सिद्ध करना है न!

(१०५)

जानने की बात में प्रथम आत्मा को जाने और दूसरे नम्बर पर पर्याय को जाने, तीसरे नम्बर में दोनों को युगपद साथ में जाने। इन तीन नम्बर के अतिरिक्त आत्मा बाहर जा ही नहीं सकता।

(१०६)

मैं ज्ञाता हूँ → वहाँ सब प्रकार के विकल्प विराम पाते हैं। फिर नयपक्ष के विकल्प रहते हैं, परन्तु 'ज्ञानस्वरूप' में इस नयपक्ष को स्थान ही नहीं है।

(१०७)

नय, आत्मा में नहीं; ध्यानावली आत्मा में नहीं; शुक्लध्यान भी आत्मा में नहीं; श्रुतज्ञान का भी आत्मा में अभाव है - तो फिर प्रमाणज्ञान भी आत्मा में नहीं। नय, प्रमाण का आत्मा में अभाव है।

(१०८)

ज्ञान का विषय युगपद निर्विकल्प ध्यान में पूर्ण होता है। ज्ञान का विषय सविकल्प में पूर्ण नहीं होता, इसलिए विकल्प उठता है। क्रम-क्रम से जानना हो, उसमें दोष है।

(१०९)

जीव सामान्य और अजीव सामान्य के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं होता। समस्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का मेरे में सम्पूर्ण अभाव है, ऐसा दृष्टि में लेते यह निमित्त- नैमित्तिक सम्बन्ध (विभाव) पर्याय, पर्याय के बीच का है, वैसा जानने में आता है।

(११०)

ज्ञानी तो अपनी तथा परपरिणति को जानता हुआ परिणमता है। ध्रुव के ऊपर लक्ष रखते हुए उत्पाद, व्यय को जानता है। नहीं तो पर्यायदृष्टि हो जाती है।

(१११)

पर का ज्ञाता? या स्व का ज्ञाता? वहाँ नयपक्ष उत्पन्न होगा। **'मात्र ज्ञाता'** इसमें ज्ञान मध्यस्थ होगा।

(११२)

मिथ्यात्व भी आत्मा को प्रसिद्ध करता है। कर्तृत्व, ज्ञातृत्व को प्रसिद्ध करता है।

(११३)

व्यवहार का निषेध नहीं करे तो क्या दोष आवे? तो आत्मा का निषेध होता है। इसलिए सर्व व्यवहार के निषेध में ही सम्यक् व्यवहार प्रगट होता है।

(११४)

प्रकाश, घड़े को ही प्रसिद्ध करता है? या दीपक को प्रसिद्ध करता है? यदि तू दीपक तक पहुँच गया तो घड़े की प्रसिद्धि छूट जायेगी। उसी तरह ज्ञान, परज्ञेय को प्रसिद्ध करता है? या स्वज्ञेय को प्रसिद्ध करता है? यदि तू ज्ञायक तक पहुँच जायेगा तो परज्ञेय की प्रसिद्धि छूट जायेगी।

(११५)

जैसे भोजन ग्रहण करके चम्मच छोड़ देता है, वैसे ज्ञेय जानने में आता है, वह चम्मच थी। ज्ञायक जानने में आता है, यह खुराक है।

(११६)

प्रश्न : आत्मा का ध्यान न हो, तब तक और कुछ करना है या नहीं?

उत्तर : तू हमारी बात समझा ही नहीं। पहले श्रद्धा में तो ले, फिर भले रह न सके तो शुभभाव आयेगा। यह शुभभाव आवे, उसका ऋण भी चुकाना पड़ेगा। वस्तु की स्थिति किसी जीव को नहीं छोड़ेगी।

(११७)

दूसरा कुछ तो गुणस्थान की श्रेणी अनुसार आयेगा तो जरूर न? तुझे वास्तव में आत्मा की रुचि नहीं है। तू हमारी बात सुन तो सही! परिणमन भले ही बाद में हो। जैसे श्रीमद्जी की बात ग्वाले ने ग्रहण कर ली। वह समझ गया कि - मुझे मन्त्र दे रहे हैं → 'मैं भगवान हूँ' मुश्किल से समय मिला है... इसलिए मूल बात पर ध्यान केन्द्रित करने लायक है। एक रामबाण लगे तो अंतर में भेद हो जाये ऐसी बात है।

(११८)

दुःख, स्वभाव में नहीं है। पर्याय में अनन्त दुःख है और स्वभाव में अनन्त सुख है। यह जैनदर्शन की अपूर्वता है।

(११९)

कहनेवाले (ज्ञानी) स्वभावग्राही ज्ञान से कहते हैं और देखनेवाला पर्याय को देखता है; इसलिए झगड़ा होता है। श्रद्धा में, पानी ठण्डा है, ऐसे लेगा तो पानी के पर्यायधर्म को ठण्डा करने का प्रयत्न करेगा। ठण्डे पानी को लक्ष में लेनेवाले को उष्णता अग्नि की दिखती है, पानी की नहीं, क्योंकि वह पानी से अनमेल भाव है। उष्णता जिसके सम्बन्ध से हुई है, इसलिए वह उसका भाव है। राग, पुद्गल का है और ज्ञान, आत्मा का है।

(१२०)

अनुभव के पूर्व कैसा विकल्प हो - इसका कोई नियम नहीं है, क्योंकि विचार, औदायिकभाव है। इतना जरूर है कि स्वभाव सम्बन्धी विचार होता है।

(१२१)

(प्रमाणभूत द्रव्य में) दोनों तत्त्व विरोधी भाव से है; इसलिए विधि-निषेध है। वे दोनों तत्त्व विरोधी स्वभाव से हैं, इसलिए हेय-उपादेय है। पर्याय सक्रिय है, द्रव्य निष्क्रिय है। दोनों का विरोध मिट जाये, तब अनुभव होता है।

(१२२)

आत्मा अकारक और अवेदक है - यह जैनदर्शन की मूल बात निर्णय करने जैसी है। तभी ही पर्यायदृष्टि छूटेगी। पैंतालीस वर्ष के घोलन के बाद पूज्य गुरुदेवश्री ने बात बाहर कही है कि → 'अकर्तापना, यह जैनदर्शन की पराकाष्ठा है।'

(१२३)

अनुभवी के आत्मा में से जो बात आती है, वह बात सर्वज्ञ के ज्ञान में होती ही है।

(१२४)

दो बात एक ही शास्त्र में कही है (१) नियम से करने योग्य कार्य निश्चय रत्नत्रय के परिणाम, वह प्रगट करने की विवक्षा से कहा। (२) आत्मा, निर्मल परिणाम का कर्ता, कारियता, कारण, अनुमन्ता नहीं, यह बात आश्रय की अपेक्षा से कही है।

(१२५)

जब उपयोग आत्मा में डूब जाये, तब यह उपयोग और यह उपयोग का विषय - ऐसा कुछ नहीं रहता।

(१२६)

शुभ की अपेक्षा से शुद्धपर्याय की महिमा है, परन्तु त्रिकाली की अपेक्षा रखकर उसकी महिमा है। त्रिकाली की महिमा आवे, तब ही शुद्धपर्याय प्रगटती है, फिर अशुद्ध की अपेक्षा से शुद्धपर्याय की महिमा कहलाती है। एकान्त से शुद्धपर्याय की महिमा आवे तो जीव नीचे गिर जाता है।

(१२७)

उपयोग में आत्मा का प्रतिभास होता है, इसलिए उसे बानगी कहा। राग में आत्मा का प्रतिभास नहीं होता, इसलिए उसे बानगी नहीं कहा।

(१२८)

आत्मध्यान को अतिरिक्त अन्य द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विकल्प उठते हैं, वह अन्यवश है।

(१२९)

यदि ज्ञान, ज्ञान को नहीं जानता होता तो यह... पेड़ नहीं ज्ञात होता। ज्ञान में ज्ञानत्व है और पेड़ में अकेला ज्ञेयत्व है। खाली जानना, वह वास्तव में जानना नहीं है। उपादेयरूप जानना, वह जानना है।

(१३०)

(पंचाध्यायी में कहा) 'स्वपरप्रकाशक असत् लक्षण है।' यह बात किसको हजम होगी? अकेला पर को जानता है, वह व्यवहार नहीं; अज्ञान है। अब स्व और पर दोनों को जानता है, यह भी व्यवहार है। वह भी आगम का व्यवहार है। अध्यात्म का व्यवहार तो, अपनी ज्ञानपर्याय को जानता है, वह है।

(१३१)

स्वप्रकाशक लक्षण से आत्मा लक्षित होता है, यह उपादेय की मुख्यता से है और आनन्द को जानता है, वह जानने की मुख्यता से कथन है।

(१३२)

व्यवहार की बातें हैं, वे काम, भोग, बन्धन की कथा है। पर्याय की बात में अर्थात् काम, भोग, बन्धन की कथा में अभी 'हाँ' आती है, परन्तु जीव में मिथ्यात्व के परिणाम होने अशक्य हैं।

(१३३)

पर्याय में अज्ञान है, तब आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञेय जानने में आते हैं, तब भी जाननहार ही जानने में आ रहा है.... इसलिए ज्ञेयकृत अशुद्धता आती नहीं है। यदि आत्मा जानने में न आवे तो 'मैं ही दु:खी' - ऐसी ज्ञेयकृत अशुद्धता आ जाए।

(१३४)

मूल श्रद्धा में हुई है, इसलिए सच्ची श्रद्धा न हो तो नव (तत्त्व) की श्रद्धा मिथ्या हो जाती है। सच्ची श्रद्धा हो तो नव (तत्त्व) की श्रद्धा को व्यवहार श्रद्धा कहते हैं। दूसरे पहलू का ज्ञान, वह अज्ञान नहीं है, परन्तु साथ में उसकी श्रद्धा कर लेता है, वह भूल है।

(१३५)

श्रद्धा, ज्ञान को कहती है कि मुझे तेरे साथ चर्चा ही नहीं करनी। मेरा कार्य तो प्रतीति करना है। चर्चा तो जो सविकल्प ज्ञान है, वह करे।

(१३६)

तुझे व्यवहार से देखने की आदत हो गयी है। इसलिए तू उस चक्षु को सर्वथा बन्द कर दे! 'मैं कौन हूँ' वह खोजना है। जिसको समकित प्रगट करना हो, उसे समकित का विषय खोजना चाहिए।

(१३७)

कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध - ऐसा जानकर अब क्या करना? कहते हैं- शुद्ध हूँ और अशुद्ध नहीं; वैसे द्रव्य ऊपर नजर रखकर निषेध करना।

(१३८)

ज्ञान है, वह दर्पण के स्थान पर है। जैसे दर्पण गरम नहीं होता; वैसे ज्ञान में राग आता नहीं। नजर दर्पण ऊपर, अर्थात् दल ऊपर है, बिम्ब सामने तो नहीं, मगर प्रतिबिम्ब सामने भी नहीं।

(१३९)

श्रद्धा निर्विकल्प, उसका विषय भी निर्विकल्प; इसलिए श्रद्धा बलवान है। जबकि ज्ञान अपने स्वभाव से सविकल्प है। उसका विषय भी सविकल्प और निर्विकल्प

(१४०)

निर्विकल्प निश्चय, निर्विकल्प व्यवहार, निर्विकल्प प्रमाण सब ही निर्विकल्पता में प्रगट होता है। निर्विकल्प निश्चय = स्वप्रकाशक, निर्विकल्प व्यवहार = कथंचित् निश्चय स्वपरप्रकाशक, कथंचित् व्यवहार स्वपरप्रकाशक। निर्विकल्प प्रमाण = भावश्रुत प्रमाणज्ञान।

(१४१)

ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, यह निश्चय है। इसमें ज्ञान पर को जानता है, ज्ञान आत्मा को जानता है; इन दोनों व्यवहार का निषेध हो गया।

(१४२)

ज्ञान की पर्याय का निश्चय क्या!? ज्ञान की पर्याय का निश्चय आत्मा है। अभेदनय से ज्ञान की पर्याय निश्चय है। निर्विकल्पध्यान में जो स्थिति होती है, उसका नाम निश्चय है।

(१४३)

महा सिद्धांत → "जैसे आत्मा का ज्ञान होने से, ज्ञान, वह आत्मा ही है" ऐसा लिखा है परन्तु ऐसा नहीं लिखा कि → 'ज्ञान स्व-पर का होने के कारण ज्ञान, वह आत्मा है।' जिसके संग तादात्म्य (सम्बन्ध) हो, उसी की मुख्यता होती है। जिसके साथ तादात्म्य (सम्बन्ध) नहीं होता, वह ज्ञात होने पर भी ज्ञात नहीं होता।

(१४४)

वैद्य का अर्थ ज्ञेय, वेदक का अर्थ जाननेवाला। स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता, उसमें कालभेद नहीं है।

(१४५)

राग, पुद्गलाश्रित है; ज्ञान, आत्माश्रित है; इसलिए राग कर्ता का कर्म नहीं होता परन्तु ज्ञेय होता है। राग का कर्ता प्रतिभासता है, मगर कर्ता है नहीं। मैं, होते हुए राग का भी जाननेवाला और जाननेवाले का भी जाननेवाला। फिर तो अकेला जाननेवाले का जाननेवाला; फिर तो जाननेवाले का भी जाननेवाला नहीं, 'मात्र जाननेवाला'।

(१४६)

इन तीन बातों का विचार करना - (१) यदि पर्याय में ज्ञान न होता होवे तो आत्मा जड़ हो जाता, (२) यदि पर्याय में भी राग न होवे तो वह सिद्ध हो गया होता (३) यदि ज्ञान और राग एक हो गया होता तो भेदज्ञान ही नहीं होता।

(१४७)

प्रश्न : सम्यक्त्वसन्मुख जीव के लक्ष में प्रयोजन क्या होता है? अनुभव करना है - ऐसा प्रयोजन होता है या नहीं?

उत्तर : अनुभव करना है - ऐसा प्रयोजन नहीं होता। द्रव्य ही उसका प्रयोजन है। मुझे अनुभव करना ही नहीं है।

(१४८)

ज्ञान, ज्ञेय को प्रसिद्ध करता है, वह व्यवहार है - ऐसा नहीं। ज्ञेय, ज्ञान को प्रसिद्ध करता है, यह वस्तुस्थिति है। उसमें निश्चय, व्यवहार का कुछ काम नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान को ही प्रसिद्ध करता है, इसलिए ज्ञान, ज्ञेय को तो प्रसिद्ध करता ही नहीं परन्तु ज्ञेय, ज्ञान को प्रसिद्ध करता है। इसमें न्याय है - (१) ज्ञान, ज्ञेय को प्रसिद्ध नहीं करता। (२) ज्ञेय, ज्ञेय को प्रसिद्ध नहीं करता। (३) ज्ञेय, ज्ञान को प्रसिद्ध करता है। ज्ञान, ज्ञेय को प्रसिद्ध करे तो उसमें पर्यायदृष्टि होती है। ज्ञेय, ज्ञान को प्रसिद्ध करता है, उसमें द्रव्यदृष्टि होती है। ज्ञानी बनना है तो व्यवहार का निषेध करना पड़ेगा। ज्ञानी होने के बाद भी ज्ञान के कल्लोल ही जानने में आते हैं; ज्ञेय नहीं। यह अपूर्व बात है।

(१४९)

दो नय हैं, उसमें प्रयोजन की सिद्धि नहीं, परन्तु जानने की सिद्धि है। जबकि शुद्धनय एक ही है; उसमें जानने के उपरान्त प्रयोजन की सिद्धि भी होती है।

(१५०)

द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में चैतन्य लक्षण ही व्याप रहा है – ऐसा कहकर, राग भिन्न द्रव्य है, ऐसा कहा है।

(१५१)

समयसार, २७० वीं गाथा में - स्व ही तेरा ज्ञेय है। पर जानने में आता है, यह अध्यवसान है। यह भावबन्ध की पराकाष्ठा है, क्योंकि पर को जाननेवाली तीसरी चक्षु ही नहीं है।

(१५२)

अमृतचन्द्रदेव ने निर्जरा अधिकार में कहा कि 'आहार को जानता हूँ।' इस बात को जयसेन आचार्य ने खोला कि आहार को किस तरह जानता है? आहारादिक का ज्ञान भी दर्पणवत होता है। यह बहुत गम्भीर बात है, बिन अनुभवी को यह बात बैठेगी नहीं। जैसे श्रुतज्ञान में केवलज्ञान जानने में आता है, यह बात अनुभवी को ही समझ में आती है; वैसे यह विषय 'दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान आहारादिक का ज्ञायक ही है।' अतींद्रियज्ञान द्वारा

ही इन्डायरेक्ट पर जानने में आता है। इसमें ज्ञान जरा भी परसन्मुख नहीं होता; फिर भी भासित होता है, यही अज्ञानी की भूल है।

(१५३)

प्रश्न : हम कहाँ पर अटकते हैं?

उत्तर : व्यवहार के निषेध का जितना वीर्य उठना चाहिए, उतना उठता नहीं है। पहले तो सामान्य का पक्ष आना चाहिए कि विशेष मेरे में है ही नहीं। पक्ष आने के बाद बारम्बार उसका झुकाव होना चाहिए। जिसका मैं स्वामी नहीं, कर्ता नहीं; उसको जानने से मुझे क्या लाभ होगा? पर्याय को करना, वह अज्ञान है। द्रव्य को जाने बिना पर्याय को जाने, यह भी अज्ञान है।

(१५४)

ज्ञानी कहाँ देखते हैं, वह मुख्यता से निश्चय करने योग्य है। डायरेक्ट पर को जाने तो पर का अवलम्बन आता है, तो ज्ञेयार्थ परिणमन कर्मपने वेदने में आता है, तो ज्ञान वेदन में नहीं आता। आहाहाहा! क्या उन्होंने लिख दिया? दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान केवल आहारादिक का ज्ञायक ही रहता है।

(१५५)

चौबीसों घण्टे ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञेय के सन्मुख दौड़ता है... तो परज्ञेय का तो ज्ञान हुआ? नहीं, ज्ञान हुआ ही नहीं।

(१५६)

आत्मा में जाने के लिए यह मंगलाचरण है → सुनो! खट्टे-मीठे का ज्ञान, इन्द्रियज्ञान से भी नहीं होता... तो फिर अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान उससे कैसे हो सकता है? इन्द्रियज्ञान से आत्मा को जाने, वैसे आत्मा को हम आत्मा ही नहीं कहते; वह तो अनात्मा है।

(१५७)

समयसार की ग्यारहवीं गाथा को हृदय में उत्कीर्ण करके शास्त्र पढ़ना। निगोद का जीव दुःख को भोगता ही नहीं है। यहाँ पर द्रव्यदृष्टि करवाने का प्रयोजन है। जहाँ-जहाँ पर व्यवहार आता है, वह सब ही अभूतार्थ है, वैसा समझना। इस बात ऊपर एप्लाय करना। यदि ग्यारहवीं गाथा न लिखी होती तो जीव को मार्ग ख्याल में ही नहीं आता।

(१५८)

व्यवहार का पक्ष अनादि का है। दूसरा व्यवहार तो ठीक, परन्तु स्वपरप्रकाशक का पक्ष छूटना कठिन है। प्रमाण से विचारवाले को निश्चय हाथ में आता ही नहीं। वह स्वपरप्रकाशक का निषेध नहीं कर सकता।

(१५९)

(जो) मैं मानता हूँ, उससे आप अलग कहते हो, फलत: (मैंने) माना कि → आप ज्ञानी हैं। मेरी मान्यता से जो शत-प्रतिशत अलग कहे वह ज्ञानी। इलाज वहीं से शुरू होता है कि मैंने जो माना था, वह सब काल्पनिक और झूठा था।

(१६०)

हीरे जड़ित बात → ज्ञानी और अज्ञानी को पदार्थ के प्रतिभास में अंतर है। (१) राग का कर्ता प्रतिभासता है → यह अज्ञान। (२) राग का अकर्ता प्रतिभासता है → यह ज्ञान।

(१६१)

आँख केवल जानती ही है, वैसे ही मैं केवल ज्ञायक ही हूँ, कर्ता नहीं। (राग की) क्रिया का मैं कर्ता नहीं, उसे पुद्गल ही करता है। चक्षु के दृष्टान्त में कथंचित्पना नहीं है तो सिद्धांत में भी

कथंचित्पना नहीं है। यह बात सिद्धांत में उतारी है। शुद्धज्ञान और शुद्धज्ञानपरिणत जीव; पर्याय होती है, ऐसा जानता है, करता नहीं। ज्ञाता - द्रष्टा के मन्त्र में वीतरागता है।

(१६२)

'ही' में आवे तो धर्म का जन्म होता है।

'ही' को छोड़कर 'भी' में आवे तो गिर जाता है।

'ही' को तूने पकड़ा नहीं और 'भी' को पकड़ते गिर गया।

दूसरी नय को मानने गया और तेरी दृष्टि शुद्धात्मा से खिसक गई।

(१६३)

निर्णय के समय शास्त्र की अपेक्षा छूट जाती है, क्योंकि यह जो निर्णय है, वह स्वाश्रित है।

(१६४)

यह अकेली परमार्थ की बात है कि ज्ञान की पर्याय को, ज्ञान की पर्याय भी करती नहीं। 'पर्याय है' बस। पर्याय सत् अहेतुक भासे, तब कर्ताबुद्धि छूट जाती है।

(१६५)

द्रव्यदृष्टिप्रकाश बोल नंबर २२३, **प्रश्न :** उपयोग को अपनी तरफ झुकाने का एक कार्य करना है न? **उत्तर :** पर्याय की अपेक्षा से तो वैसा ही कहा जाता है क्योंकि उपयोग दूसरी तरफ है; उसे इस ओर लाओ - ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो 'मैं स्वयं ही उपयोगस्वरूप हूँ', उपयोग कहीं गया ही नहीं, ऐसी दृष्टि होने पर उपयोग स्वसन्मुख आयेगा ही। पर तरफ उपयोग है, उसे ऐसा कहते हैं कि पर तरफ जो उपयोग है, उसे स्वसन्मुख करो। उपदेश कैसे दिया जाये? उपदेश के बिना तो समझ में नहीं आयेगा। वास्तव में यह बात है कि 'मैं उपयोग स्वरूप हूँ' मैं स्वयं ही ज्ञानमय हूँ। मेरा ज्ञान कहीं गया ही नहीं।

(१६६)

प्रश्न : अपने अस्तित्व का निर्णय कैसे करना?

उत्तर : बहिनश्री ने कहा कि इसको जानता हूँ... उसको जानता हूँ, वैसे नहीं परन्तु यह रहा मैं सबसे अलग जाननेवाला, इस रीति से करना।

पूज्य बहिनश्री ने कहा कि - ज्ञान, आत्मा को छोड़कर बाहर कहीं नहीं जाता है न! तो फिर बाहर किसको जाने? तो फिर पर को जानने का प्रश्न ही कहाँ रहा? स्व से बाहर जावे तो पर को जाने न! कैसा अलौकिक उत्तर दिया। अरे! ज्ञानी को कब क्या भाव आ जायें! और कभी कह भी दे! यथार्थ बात पकड़नेवाले पकड़ लेते हैं। ज्ञान आत्मा के बाहर जाता ही नहीं, तो पर को कैसे जाने? इसलिए वास्तव में ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है और उसमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब को जानता है। उसको ऐसा ज्ञान ही जानने में आता है। निश्चय से तो ज्ञान की पर्याय जानने में आती है, ऐसा कहा।

(१६७)

आहाहा! (ज्ञानी) आहार, पानी को जाने तो उसका अवलम्बन आ जाए! केवली भगवान लोकालोक को जानें तो उसका अवलम्बन आ जाए। लोकालोक ज्ञात हो, तब वे किसे जानते हैं? आत्मा को; नजर दर्पण के सामने है। केवली भगवान के लिए दर्पण का दृष्टान्त शास्त्र में बहुत जगह दिया है।

(१६८)

(१) राग है, वह आत्मा से अनन्य परिणाम नहीं, इसलिए वह जीव का परिणाम नहीं।

(२) राग है, वह जीव को प्रसिद्ध नहीं करता; इसलिए जीव का परिणाम नहीं।

(३) राग है, वह जीव के आश्रय से उत्पन्न नहीं होने के कारण वह परिणाम, जीव का नहीं।

जब उपयोग आत्मा है इसलिए -

(१) उपयोग आत्मा से कथंचित् अनन्य होता होने से उपयोग, वह आत्मा है।

(२) उपयोग आत्मा को प्रसिद्ध करता होने से उपयोग, वह आत्मा है।

(३) उपयोग आत्मा के आश्रय से होता होने से उपयोग, वह आत्मा है।

(१६९)

समयसार, गाथा ९२-९३ में वस्तुस्थिति क्या है? उस पर वजन दिया है। दोनों गाथा में दृष्टान्त समान और दोनों की बात समान है। अन्त में इतना कहते हैं कि ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ विशेष अपेक्षा से राग का कर्ता बन जाता है। वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी जाने तो ज्ञान, ज्ञानरूप परिणाम से परिणम जाता है। ९२ गाथा में, 'ज्ञान को अज्ञानरूप करता हुआ' - ऐसा लिखा। ९३ गाथा में 'करता' नहीं लिखा, 'ज्ञानरूप परिणमता हुआ' - लिखा।

(१७०)

यदि ज्ञान ठण्डा हो जाये तो आत्मा जड़ हो जाये। तब तो ज्ञान की पर्याय आत्मा से भिन्न हो जाये। भव्य-अभव्य सभी को, ज्ञानपर्याय और ज्ञानपर्याय परिणत आत्मा से ठण्डा-गरम अवस्था अत्यन्त भिन्न है। इतना अन्दर में बैठ जाये तो आगे इससे भी सूक्ष्म आयेगा। राग-द्वेष परिणाम, वह पुद्गल के परिणाम हैं। इनके सम्बन्ध से होनेवाला ज्ञान, आत्मा से अभिन्न है और जो दु:ख है, वह आत्मा से भिन्न है। यह राग है, वैसा ज्ञान हुआ, वह आत्मा से अभिन्न है। इस कारण राग है, वह आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। ऐसी वस्तुस्थिति होने के बावजूद भी, भेदज्ञान न करके और एकता करके दोष खड़ा करता है। संक्षिप्त में वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी जाने तो ज्ञानी हो जाये और जो वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं करता है, वह अज्ञानी बन जाता है।

(१७१)

सविकल्प प्रमाण का विचार करने से आत्मा, पर से अलग हो जाता है। कर्म से, नोकर्म से अलग हो जाता है। कर्म, नोकर्म से मैं भिन्न हूँ परन्तु रागादि परिणाम से मैं सहित हूँ। उसका अर्थ कि – मैं अपने स्वभाव को भूलकर रागरूप परिणमता हूँ। कोई कर्म का उदय क्रोध नहीं कराता; यह आगम प्रमाण हुआ। अब अध्यात्म प्रमाण में, राग से मैं भिन्न हूँ, परन्तु वीतरागी परिणाम से मैं अभिन्न हूँ। ऐसे अध्यात्म प्रमाण में आकर, बाद में नय का सहारा लेना कि शुद्धनय से मैं देखता हूँ तो शुद्ध-अशुद्ध पर्याय से मैं भिन्न हूँ।

(१७२)

आत्मा से अनन्य अनुभूति हुई, वह पर्याय को पर्यायपने जानता है। यह मैं, ऐसे पर्याय को उपादेयपने जानता नहीं; इसलिए पर्यायदृष्टि होती नहीं। आश्रय एक का, ज्ञान अनन्त का। निर्मल पर्याय से सहित मैं हूँ - ऐसे जानने से दृष्टि का विषय ढीला पड़ जाता है, ऐसा अज्ञानी को लगता है परन्तु बिल्कुल ढीला नहीं होगा, अपितु यह विषय पक्का होगा... तब समकित होगा, नहीं तो समकित नहीं होगा, एकान्त हो जाएगा।

(१७३)

प्रज्ञा से अर्थात् शुद्धोपयोग से। प्रज्ञा से जान लिया कि मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं राग नहीं। परिणाम ने अपरिणामी को उपादेयपने जाना। षट्कारकरूप परिणमते परिणाम ने आत्मा को, अनन्त गुणों को, अनन्त धर्मों को जान लिया। प्रमाणज्ञान में कोई बात बाकी नहीं रहती; पूरा प्रमेय ज्ञान में जानने में आता है। द्रव्य-गुण-पर्याय सब जानने में आता है। आगम प्रमाण में राग भी आता है क्योंकि राग मेरे में है - ऐसा जानता है तो राग मिटाने का प्रयत्न करता है। आगम

प्रमाण में राग अनन्य है और अध्यात्म प्रमाण में निश्चयनय में राग अन्य है। जहाँ जिस प्रकार से हो, वहाँ उस प्रकार से समझना चाहिए। धर्मभेद, गुणभेद कथंचित् हो तो हो! वह कथंचित् हैं, सर्वथा नहीं। अभेद में भेद नहीं।

(१७४)

अभेद दो प्रकार के हैं। नित्य अभेद जो ध्येय है, वह दृष्टि का विषय है। वह अनन्त गुण से तादात्म्य एकरूप अपरिणामी है; उसके ऊपर दृष्टि जाने से शुद्धोपयोगरूप परिणमन, वह क्षणिक अभेद है। शुद्धोपयोग और उसका विषय अभेद हो गया। उसको अनित्य तादात्म्य कहो या क्षणिक अभेद कहो; जुदाई होने के बावजूद जुदाई दिखे नहीं, उसका नाम अभेद है।

(१७५)

अनुभूतिरूप ज्ञेय में द्रव्य-गुण- पर्याय के भेद नजर नहीं आते। कर्ता, कर्म, क्रिया के भेद तो हैं, परन्तु भेद भासते नहीं। यदि भेद दिखें तो आत्मा कर्ता और शुद्धपर्याय कर्म दिखे। शुद्धपर्यायपरिणत द्रव्य कर्ता और शुद्धपर्यायपरिणत द्रव्य कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। प्रवचनसार, गाथा १६ में यह बात है।

(१७६)

आत्मा और राग को अलग किया तो शुद्धपर्यायरूप परिणमता है। तो शुद्धपर्याय से सहित हूँ, वैसा ज्ञेय ज्ञान में आता है। शुद्धपर्याय भेदरूप होने पर भी ज्ञान के ज्ञान में वह अभेद है। निश्चयनय से शुद्धपरिणाम से आत्मा अन्य है और व्यवहारनय से अनन्य है। अन्य है, अनन्य है, वह तो समझाने के लिए है, वरना इन दोनों का ज्ञान एक समय में हो जाता है। ज्ञान जैसा है, वैसा एक साथ जानने का काम करता है। अन्य भी हूँ और अनन्य भी हूँ; उसमें एकान्त नहीं हुआ।

(१७७)

सम्यक् एकान्तपूर्वक अनेकान्तिक ज्ञान प्रगट हुआ, उसमें दृष्टि और ज्ञान की सन्धि है। अकेली दृष्टि के लोभ में खिंच जाये और ज्ञान का द्रोह करे तो अनुभव नहीं होता और यदि ज्ञेय का जो पक्ष आवे अर्थात् कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' वह उपादेय द्रव्य है, तो व्यवहार का पक्ष हो गया, तो दृष्टि का द्रोह हो गया। श्रद्धा नहीं बदलती। मैं तो ध्रुव ही हूँ और अनुभव में अभेद ज्ञेय होता है।

(१७८)

वास्तव में निर्विकल्पध्यान में ही निश्चय और व्यवहार प्रगट हो जाते हैं। निर्विकल्पध्यान के पहले निश्चय और व्यवहार हैं ही नहीं। शुद्धपर्याय को द्रव्य छूता नहीं और निर्मलपरिणाम से अनन्य, वह आत्मा है - यह स्याद्वाद की लीला है। अद्भुत बात है, अटपटी बात लगती है; फिर भी दोनों कथन सत्यार्थ हैं।

(१७९)

जिसने दो नय के निश्चय को पकड़ा है, वह कभी भी नयाभासी नहीं होता। द्रव्य का निश्चय पकड़ा है, उससे व्यवहारभासी नहीं होता और पर्याय का निश्चय पकड़ा है, उससे निश्चयाभासी नहीं होता; परन्तु अनुभवी होता जाता है।

(१८०)

अज्ञानी का ज्ञान भी ज्ञेयोंरूप अर्थात् अन्य-अन्यरूप परिणमता नहीं। ज्ञेयों का तो प्रतिभास होता है। ज्ञान तो ज्ञानरूप है। ज्ञानी को धारावाही ज्ञान प्रगट रहता है। जैसे दर्पण के दल में ज्ञेयों के प्रतिबिम्ब प्रवेश नहीं होते, मात्र सपाटी पर प्रतिबिम्ब होते हैं। वैसे ही ज्ञायक दल में ज्ञेयाकार ज्ञान प्रवेश नहीं होता, वह तो ऊपर-ऊपर ज्ञानाकार में ही होता है।

(१८१)

कर्ता-कर्म का अनन्यपना है, इसलिए ज्ञायक है। अनन्यपना में ज्ञातापना है। अन्यपना होगा तो ज्ञातापना नहीं रहेगा। कर्ता-कर्म का अनन्यपना अनादि-अनन्त है; किन्तु... उसका ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान समयसार, गाथा ६ में कराया है। अनन्यपना हुआ, तब द्रव्यदृष्टि सम्यक् होती है, वहाँ कर्ता-कर्म का अनन्यपना है। कर्ता, कर्म अक्रम से है। यदि क्रम से हों तो कर्ताबुद्धि होकर, पक्ष होता है। नामभेद है, परन्तु वस्तुभेद नहीं। एक वस्तु है, इसलिए अक्रमिक है। एक भासती है, इसलिए अनन्य है। मैं स्वयं जाननेवाला अर्थात् कर्ता और स्वयं जानने में आया अर्थात् कर्म। यह अनन्यपना जानने से अनुभवी होता है। कर्ता-कर्म का अनन्यपना होने से वह ज्ञायक ही है।

(१८२)

प्रश्न : परिणामी द्रव्य ही ज्ञाता और परिणामी द्रव्य ही कर्ता, इन दोनों में क्या अंतर है?

उत्तर : अपरिणामी के एकत्व बिना, अकर्ता के एकत्व बिना, वह कर्ता होता ही नहीं। ज्ञाता उसे ही कहते हैं कि जो ज्ञायक के साथ अनन्यपने परिणमे, वह ज्ञाता और उसका नाम ही कर्ता। वही ज्ञाता और वह ही जानने में आया; इसलिए वह ही कर्म अर्थात् ज्ञेय।

प्रश्न : कर्ता और ज्ञाता में क्या अंतर है?

उत्तर : कर्ता में परिणमन कहना है और ज्ञाता में जानना लेना है।

प्रश्न : आत्मा कर्ता है या ज्ञाता?

उत्तर : कर्ता नहीं, ज्ञाता ही है। कर्ताधर्म का भी कर्ता नहीं है। ज्ञाता में कर्ता के कर्ता का निषेध है। कर्ताधर्म का स्वीकार करता है और ना कहता है कि मैं कर्ता नहीं। कर्ता का ज्ञाता तो है परन्तु कर्ता का कर्ता नहीं। कर्ता का पक्ष नहीं, कर्ता का ज्ञान हुआ है, इसलिए कर्ता का ज्ञाता है। अकर्ता के पक्ष से रहित वह ज्ञायक है। अकर्ता + ज्ञाता = ज्ञायक।

प्रश्न : ज्ञानी किसका भोक्ता है - सुख का या दुःख का?

उत्तर : किसी का भी नहीं; वह तो ज्ञाता ही है।

(१८३)

रागादि भाव पुद्गल के सम्बन्ध से होते हैं, इसलिए पुद्गल की जाति है। वे अचेतन हैं, जड़ हैं - ऐसा भेदज्ञान का विचार करके स्वभाव में घुस जाने से; मिथ्यात्व, अवस्तु हो जाता है। उसके पहले कथंचित् जीव के, कथंचित् पुद्गल के, परन्तु अब तो है ही नहीं तो किसके कहना?

(१८४)

(१) हमें तो रागादि जीव के परिणाम हैं, उसका ज्ञान करने नहीं रुकना।

(२) वे पुद्गल के परिणाम हैं, वैसा ज्ञान करने के लिये नहीं रुकना।

(३) हमें तो अवस्तु करने का काम है।

(१८५)

जानने की आकांक्षा में रहेगा, तब तक विकल्प की जाल रहेगी। एक ज्ञायक को जानने से सब जानने में आ जायेगा। अभेद को जानने में सर्व भेद ज्ञात हो जाएँगे। अभेद को जानने से अनन्त भेद का ज्ञान उसमें आ जायेगा। भेद को जानने की आकांक्षा, व्यवहार का पक्ष होने से रहा करता है। भेद को जानने से ज्ञान बढ़ रहा है, वैसा लगता है, परन्तु उसमें आत्मा गुम हो जाता है। ज्ञान बढ़ा ही नहीं; परंतु अज्ञान बढ़ा है। भेद के लक्ष से भेद का ज्ञान होता ही नहीं। अभेद के लक्ष से भेद का ज्ञान सहज होगा। केवली भगवान जितने भेदों को जानते हैं, उतने भेदों को साधक ने जान लिया है। ज्ञेयाकार होने के बावजूद ज्ञान, ज्ञानाकार ही रहता है।

(१८६)

मैं अकर्ता हूँ और कर्ता नहीं - ऐसा निश्चयनय का पक्ष आया... परिणाम के ऊपर से दृष्टि हट गई और अकर्ता के पक्ष में आया जरूर; फिर जाननेवाला ही जानने में आता है - वैसी अन्तर्मुख की स्थिति आती है... तब निश्चयनय के पक्ष का जो राग; और पर्याय का मैं कर्ता नहीं- वैसा द्वेष; यह राग-द्वेष का जोड़ा एक साथ जन्मा था, वह जोड़ा एक साथ मरता है, अर्थात् अस्त हो जाता है।

(१८७)

प्रश्न : निश्चयनय के पक्ष में आने के बाद भी ज्ञान मध्यस्थ नहीं होता, इसका कारण क्या है?

उत्तर : वह कारक के भेद में अटक जाता है। मैं कर्ता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान मेरा कर्म। गुरु से ज्ञान होता है, उस भिन्नकारक से तो छूट गया है, किन्तु भेदरूप कारक में अटका हुआ है। मैं कर्ता और शुद्धपर्याय मेरा कर्म। मैं धर्मी कर्ता और धर्म के परिणाम मेरे कर्म, वैसे भेदरूप कारक में बुद्धि जब तक अटकती है; ज्ञेय में कर्ता, कर्म का भेद दिखता था, उस भेदकारक को उल्लंघता है। मैं ही कर्ता और मैं ही कर्म। भेदकारक में विकल्प का जन्म होता था। अब अभेद में आया तो भेदरूप कारक का निषेध हुआ। इसलिए वहाँ अनन्यपना हुआ। अन्य अर्थात् अकर्ता + अनन्य फलत् कर्ता-कर्म का अनन्यपना=अनुभव।

(१८८)

'कर्ता, कर्म, क्रिया भेद नहीं भासतु है' अर्थात् भेद है तो सही, किन्तु भेद भासता नहीं, इसलिए विकल्प नहीं होता। अकर्ता को तो प्रथम लक्ष में लिया परन्तु ज्ञान की तरफ आया तो मैं कर्ता और भेदरूप परिणमन मेरा कर्म, यह भेदरूप कारक है। परिणाम को कर्म बनाने जाता है और बन जाता है विकल्प, कर्म। क्योंकि भेदरूप विकल्प में अटक गया! तो कर्ता-कर्म का अनन्यपना नहीं हुआ। बहुत गम्भीर बात है। यह बात लिख लेना और बार-बार विचार करना।

(१८९)

ध्यान के ध्येय में परिणाम आते ही नहीं - ऐसी ध्येयपूर्वक ज्ञेय की अपूर्व सन्धि है। ज्ञानी को अभेदकारक से अनुभूति हुई, उसके बाद वे सविकल्पदशा में आते हैं, तब वे उपदेश देते हैं कि क्रोधादि क्रिया निषेधने में आई है, किन्तु ज्ञानक्रिया निषेधने में नहीं आई; इसलिए आत्मा कर्ता, ज्ञान कर्म है। शुभाशुभ, आत्मा का कर्म नहीं, उसका फल तो आकुलता और दुःख है, इसलिए दुःख को कर्म न बनाना। तो क्या करना? ज्ञान को कर्म बनाओ। आत्मा कर्ता और ज्ञान कर्म, वह निषेधने में नहीं आया।

,

(१९०)

दृष्टि का विषय तो उसको (सविकल्प प्रतीति में) आ गया, किन्तु ज्ञान के ज्ञेय में भेद करता था कि - आत्मा कर्ता और सम्यग्दर्शन मेरा कर्म - ऐसा जहाँ भेदरूप कर्म दिखा, वहाँ समुच्चय कर्ताबुद्धि होती ही है।

(१९१)

(१) अपरिणामी अकर्ता, वह पहला पाठ। (२) कर्ता-कर्म का अनन्यपना, वह दूसरा पाठ। (३) प्रथम अकर्ता का पक्ष गलता है। (४) ज्ञान अवस्था में आया तो अब भेदकारक का पक्ष छूटता है। (५) जब भेदकारक का पक्ष छूट गया, वहाँ ज्ञान मध्यस्थ हो गया। (६) मध्यस्थ का अर्थ - निश्चय और व्यवहार का जैसा स्वरूप है, वैसा जान लेना।

(१९२)

एक समय में अपरिणामी को जाना और परिणामी का जो परिणमन हुआ तो वह अभेदरूप से एक ज्ञेय हो गया; दो ज्ञेय नहीं है, एक अभेद ज्ञेय है। कोई पूछे कि अनुभव के काल में छद्मस्थ दो ज्ञेयों को किस प्रकार से जान सकता है? तो उसका उत्तर देना कि परिणामी द्रव्य एक ही ज्ञेय है। वहाँ परिणामी और अपरिणामी अलग नहीं है। यह ज्ञानप्रधान अपेक्षा से एक ज्ञेय की बात है।

(१९३)

अन्य को तो सुरक्षित रखा, अब अनन्य को उस ज्ञान के पहलू से देखता है, तो परिणाम से मैं अनन्य हूँ। यह विषय व्यवहार का है, किन्तु निश्चयपूर्वक व्यवहार आ जाता है। निश्चयपूर्वक व्यवहार का ज्ञान, वही ध्येय पूर्वक ज्ञेय की अपूर्व सन्धि। सम्यक् एकान्तपूर्वक सम्यक् अनेकान्त आ गया। स्याद्वाद की सिद्धि हो गयी। परिणाम से कथंचित् अन्य और कथंचित् अनन्य आ जाये, वह व्यवहार। शुभभाव, व्यवहार नहीं है।

(१९४)

परिणाम मेरे में नहीं है, पर्याय परद्रव्य है, उसमें पर्याय प्रति द्वेष आ गया तो परिणाम का ज्ञान नहीं हुआ। जब यह द्वेष छूटता है, तब पर्याय का ज्ञान हो जायेगा। द्वेष छूटने से वीतरागभाव से पर्याय का ज्ञान होता है। राग-द्वेष का जोड़ा एक समय में छूटता है। यह राग-द्वेष का जोड़ा अनन्तानुबन्धी कषाय में से जन्मता था। वह सूक्ष्म राग-द्वेष नष्ट होता है। **फिर सविकल्पदशा में से राग-द्वेष खड़े होते हैं परन्तु उसकी जाति बदल गयी। अज्ञानजन्य राग-द्वेष गये और अस्थिरताजन्य राग-द्वेष हुए हैं।**

(१९५)

निश्चयनय के पक्ष के दो प्रकार हैं - एक ऊपर-ऊपर का धारणा ज्ञानवाला पक्ष है। वह तो अनन्त बार आ गया। जब समकित होने का काल पकता है, तब निश्चयनय का अपूर्व पक्ष आ जाता है, जिसके बाद नियम से अनुभूति होती है। ऐसा अपूर्व पक्षवाले को किसी-किसी को खबर हो जाती है कि ... अब अनुभव होगा। अपूर्व पक्षवाले की परिणति रात-दिन, खाते-पीते, अन्दर में झुकती है। झुकते-झुकते झुक जाती है। **वास्तव में अपूर्व पक्षवाले को ही सम्यक् सन्मुख मिथ्यादृष्टि कहते हैं।** पर्याय परद्रव्य है, वैसा पर्याय तरफ द्वेष था; किन्तु उपेक्षा नहीं थी। भेदकारक को छोड़कर अभेदकारक में आने से ही.... 'मैं शुद्धात्मा हूँ' - ऐसा निश्चय के पक्ष के राग से अतिक्रान्त हो गया। राग गया तो वहाँ द्वेष भी नहीं रहा। अनुभूति के समय द्रव्य के ज्ञान के साथ पर्याय का ज्ञान उपेक्षारूप है। पर्याय के प्रति द्वेषबुद्धि छूट गयी और पर्याय का ज्ञान उदित हुआ। शुद्धोपयोग है, वह आत्मा है, वैसा ज्ञानप्रधान हुआ। ज्ञान ने पर्याय को आत्मा जाना, माना नहीं; यदि पर्याय को आत्मा माने तो मिथ्यात्व है।

(१९६)

दूध का चिकनापन और मीठापन पानी में नहीं व्यापता। जितने भाग में पानी है, उतने भाग में चिकनापन और मीठापन नहीं है। दूध को गरम करने से दूध का मावा (खोवा) बनता है और पानी भाप बनकर उड़ जाता है। पानी में दूध का मीठापन नहीं व्यापता; इसलिए पानी, दूध का परिणाम भी नहीं। वैसे राग अचेतन है, इसलिए उसमें चेतनपना नहीं व्यापता। जितने भाग में ज्ञान व्यापता है, उतना आत्मा है। राग है, वह अनात्मा का भाग है, उसको आत्मा मानने से अज्ञानी हो जाता है। राग को जीव का परिणाम कहा था तो उसमें ममत्व, कर्तृत्व होता था। जब उसको पुद्गल का परिणाम जाने, तब उससे ममत्व छूट जाता है। जिसमें ज्ञान होता है, वह मेरे परिणाम हैं। जिसमें ज्ञान नहीं, वह मेरे परिणाम नहीं। चिकनापन, मीठापन दूध के लक्षण हैं; वह लक्षण अपने स्वचतुष्टय में ही व्यापते हैं। वैसे ही चेतनपना, ज्ञान का लक्षण उसके लक्ष में -

स्वचतुष्टय में ही व्यापता है। जबकि राग है वह आत्मा के स्वचतुष्टय में नहीं व्यापता। वह अनमेल भाव है, इसलिए वह सामान्य का विशेष नहीं।

(१९७)

जिस उपयोग में प्रतिमा जानने में आती है, उसी उपयोग में आत्मा जानने में आता है। कान से सुनते हैं, तब उसी उपयोग में आत्मा जानने में आता है; परन्तु उसको उपयोगात्मक नहीं करता। ज्ञेयाकार ज्ञान में सामान्य का तिरोभाव हो रहा है। विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान में जाननहार जानने में आने के बावजूद 'मुझे जानने में नहीं आता' तब तिरोभाव शब्द का प्रयोग किया। इसलिए 'तिरोभाव' शब्द में से निकलता है कि जानने में आ रहा है। 'अभाव' शब्द नहीं लिखा। जानने में आता होने पर भी जानने में नहीं आता वह ही तिरोभाव है। इससे साबित होता है कि ज्ञान की पर्याय स्वपरप्रकाशक है। ज्ञान के सम्बन्धवाला ज्ञान जानने में नहीं आता, इसलिए सामान्य का तिरोभाव है। वास्तव में द्रव्य का तिरोभाव होता ही नहीं; द्रव्य तो प्रगट ही है। वैसे ही ज्ञान की पर्याय में जानने की क्रिया बन्द नहीं होती।

(१९८)

उपयोग को कितनी भी चाबुक लगाओ, किन्तु रुचि बिना अन्दर कैसे जाये? घोड़े को खूँटे के साथ बाँध दिया। घोड़ा खूब ही जागृत-सावधान है। चाबुक लगने से जोर से दौड़ता है, परन्तु खूँटे के साथ बाँधा हुआ है, तो वह वहाँ से कैसे छूटेगा? वैसे उपयोग को खूँटे से बाँध दो! दौड़-दौड़कर कितना दूर जायेगा?

(१९९)

अतीन्द्रियज्ञान में स्वपरप्रकाशक सामर्थ्य है परन्तु उसमें यह मर्म है कि वह पर का अवलम्बन लिये बिना जानता है। 'जानना' स्वभाव भले ही भेद को जाने, किन्तु भेद का अवलम्बन नहीं है।

(२००)

इन्द्रियज्ञान, वह अभेद का भेद नहीं; इसलिए वह लक्षण नहीं। अतीन्द्रियज्ञान, वह अभेद का भेद है। इन्द्रियज्ञान तो ज्ञेय है; वह ज्ञान कहाँ है?

(२०१)

पर जानने में आता है, यह तेरी श्रद्धा गलत है। ज्ञान पर को जानता है, वैसा समझाने के लिए कहा; किन्तु शास्त्र में उसे नयाभास कहा है।

(२०२)

जीव को अनादि से परिणाम और परिणामी का पक्ष है; इन दोनों का निषेध करने के लिए 'अपरिणामी' शब्द का उपयोग किया है। प्रमाण में से नय का विषय निकालना; बस यही सीखने जैसा है।

(२०३)

राग की एक समय की एक पर्याय, उसे जानने की दो रीति हैं। (१) उसे व्यवहारनय से देखो तो वह चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है, इसलिए वह जीव की पर्याय है। (२) राग की पर्याय, पुद्गल के संग से-कर्म के संग से होती है, इसलिए वह निश्चय से पुद्गल के परिणाम है। एक परिणाम को दो दृष्टिकोण से जानना चाहिए।

(२०४)

(१) राग कथंचित् जीव का परिणाम; उसमें जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध छूटता है, (२) राग कथंचित् पुद्गल का परिणाम; उसमें जीव के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध छूटता है

क्योंकि पुद्गल के साथ व्याप्य-व्यापकपना है। (३) राग कथंचित् अवस्तु; उससे जीव के साथ ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध छूटता है।

(२०५)

ज्ञान रखा अपने पास और ज्ञेय की स्थापना की पर में; तो आत्मा में से ज्ञेय की उथापना कर डाली, तो स्वरूप हाथ में नहीं आया; इसलिए आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञेयमय भी है। पर को नहीं जानता, उसमें पर का अवलम्बन छूट जाता है और पर का जानना रह जाता है।

(२०६)

(स्व को छोड़कर) पर को जानना, वह भावबन्ध की पराकाष्ठा है। उसमें मिथ्यात्व छूटता नहीं। पर को जानने की इच्छा, वह विषय; पर को करने की अभिलाषा, वह कषाय। मिथ्यात्व, विषय और कषाय - तीनों को जीतने से सम्यग्दर्शन होता है।

(२०७)

यदि अपना हित करना हो तो सत् को आगे करो (१) प्रमाण में दो सत् हैं - द्रव्य सत्, पर्याय सत् (२) नय में तीन सत् हैं - द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत्; वह एक सत्ता का विस्तार है।

(२०८)

प्रमाणज्ञान का विषय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अखण्डित है। उसके नय से टुकड़े करने पड़ते हैं। ज्ञान की पर्याय से मेरा आत्मा भिन्न है तो दो सत् हुए – (१) त्रिकाली सत् (२) क्षणिक सत्। अब अनुभव में पर्याय, द्रव्य से कथंचित् क्षणिक तादात्म्य हुई तो प्रमाणज्ञान में ज्ञेय वस्तु हुई, वह द्रव्य - पर्यायस्वरूप पूरी वस्तु है। अनुभव के काल में विकल्पात्मक नय भी नहीं और प्रमाण भी नहीं है। अखण्ड के दो वाच्य हैं - (१) त्रिकाली स्वभाव-अखण्ड प्रतिभासमयी (२) पर्याय क्षणिक जुड़ी, वह भी प्रमाण से अखण्ड।

(२०९)

उत्पाद-व्यय-ध्रुव के भेद करके देखो तो वह अशुद्धनय का विषय हो गया। अब उत्पाद-व्यय-ध्रुव को अभेद करके देखो तो वह अंशी है, वह शुद्धनय का विषय है, एक आत्मा है। (यह ज्ञानप्रधान शुद्धनय हुआ)।

(२१०)

पूरे जिनागम की नींव श्रद्धा पर है। ज्ञान और चारित्र में मचक आ जाये तो वह क्षम्य है परन्तु श्रद्धा में मचक आवे, वह क्षम्य नहीं है।

(२११)

'अध्यात्म प्रमाण का तथा आगम+प्रमाण का ज्ञाता' सम्यग्दर्शन के काल में होता है। सम्यग्दर्शन में ऐसा जाना कि पर्याय में राग है, वह आत्मा के परिणाम का धर्म है। इस प्रकार अनुभव के काल में दो नय का ज्ञाता बनता है।

(२१२)

समयसार, गाथा १४ में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की व्याख्या इस तरह कर सकते हैं (१) अबद्धस्पृष्ट → द्रव्य स्वभाव, (२) अनन्य → क्षेत्र, (३) नियत → काल, (४) अविशेष → भाव (५) अनसंयुक्त → संकल्प-विकल्प, भव विकार से रहित।

(२१३)

भेदज्ञान होते विभक्त होने की प्रक्रिया शुरु होती है; **इसलिए भेदज्ञान के विचार में गर्भित शुद्धता होती है, प्रगट शुद्धता नहीं है। (भेदज्ञान का बारम्बार विचार करना, वह**

निश्चय की प्राप्ति के लिये अनुकूल व्यवहार है।) कषाय की मन्दता, वह अनुकूल व्यवहार नहीं। भेदज्ञान के मन्त्र से चैतन्यदेव हाजिर होता है।

(२१४)

पारिणामिकभाव के दो भेद हैं – (१) शुद्ध पारिणामिक, (२) अशुद्ध पारिणामिक। (१) द्रव्यार्थिकनय का पारिणामिकभाव (२) पर्यायार्थिकनय का पारिणामिकभाव। इसमें ही हेय-उपादेय करने का है।

(२१५)

आत्मा परमात्मा है। (जिनेन्द्र) परमात्मा को तो भगवान कहते हो, परन्तु आत्मा को भी परमात्मा कहो। जिस आत्मा ने कर्म का अभाव किया, वह तुझे परमात्मा लगता है और जिस भगवान को कर्म छुए ही नहीं - ऐसा अबद्धस्पृष्ट आत्मा, कि जिसमें कर्म का सदा अभाव ही है, वह तुझे क्यों भगवान नहीं लगता!? जिसने शरीर का अभाव किया है, वह तो तुझे परमात्मा दिखते हैं, मगर जिसमें शरीर ही नहीं, वह तुझे परमात्मा क्यों नहीं दिखते!? जिसने पत्नी की और छोड़ी, वह तो छोटा ब्रह्मचारी है। जिसने कभी पत्नी को अंगीकार ही नहीं किया, वह तो बड़ा ब्रह्मचारी है। वैसे ही निज परमात्मा, बड़ा परमात्मा है। वह कारण का भी कारण है। जो सदा निष्पन्न है... वह परमात्मा क्यों नहीं दिखता?

(२१६)

श्रद्धा में कथंचित्पना नहीं; श्रद्धा पोषक ज्ञान में भी कथंचित् नहीं। श्रद्धा सम्यक् करने के लिये ज्ञान में अस्ति-नास्ति अनेकान्त लो! शत् प्रतिशत पर जानने में नहीं आता; शत् प्रतिशत जाननहार जानने में आ रहा है। ज्ञान पोषक ज्ञान, अज्ञान हो जाता है; श्रद्धा पोषक ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

(२१७)

सर्वथा अकर्ता, वह द्रव्यस्वभाव का धर्म है; कथंचित् कर्ता, वह पर्याय का धर्म है। अकर्ता तो सर्वथा है। जबकि कथंचित् में कर्तापना लागू पड़ता है। अकर्ता त्रिकालवर्ती है; परिणाम समयवर्ती कर्ता है। इसलिए सर्वथा कर्ता माने तो द्रव्य का नाश हो जाये और सर्वथा अकर्ता माने तो संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट नहीं होते।

(२१८)

समयसार, गाथा ४०४ में आता है कि राग, व्यवहार से ज्ञेय होता है, उस समय ज्ञायक भी ज्ञान में ज्ञात होता है - ऐसा व्यवहार अनादि का है। राग है, वह ज्ञेय है उसको ज्ञेयपने न जानते, मैं रागी मानने से; विशेष अपेक्षा से राग का कर्ता बन जाता है। राग में कर्मत्व नहीं, ज्ञेयत्व है। यहाँ ज्ञान में ज्ञानत्व है। रागादि ज्ञेय को आत्मारूप माने तो कर्ता बन जाता है और रागादि ज्ञेय को ज्ञेयरूप जाने तो विशेष अपेक्षा से ज्ञाता होने से मिथ्यात्व मिट जाता है। ज्ञायक का ज्ञाता होने के बाद, राग व्यवहार से ज्ञेय बनता है, वरना तो ज्ञेय के नाम से कर्म बनाता है।

(२१९)

प्रमाण में सर्वथा नहीं होता, क्योंकि उसमें निश्चय और व्यवहार दोनों हैं। ऐसा प्रमाणज्ञान, द्रव्यदृष्टिपूर्वक ही होता है। भेदज्ञानपूर्वक प्रमाण होता है और इस प्रमाण में भेदज्ञान वर्तता है।

(२२०)

छह द्रव्य जानने में आते हैं, ऐसा कहकर उनका प्रमेयत्व सिद्ध किया। छह द्रव्य सम्बन्धी अपना ज्ञान जानने में आता है, उसमें अपना प्रमेयत्व सिद्ध किया।

(२२१)

(१) राग को करे तो आत्मा का नाश होता है।

(२) राग को जाने तो अनुभव का नाश होता है।

(३) आत्मा, आत्मा को जानता है, ऐसे भेद में अनुभव का नाश होता है।

(४) 'आत्मा ही जानने में आता है' उसमें अनुभव रहता है। सर्व व्यवहार का सर्वथा निषेध करे तब अनुभव होता है।

(२२२)

'निष्क्रिय' शब्द में दो भाव रहे हुए हैं :-

(१) परिणाम की क्रिया से रहित अभेद सामान्य, वह निष्क्रिय।

(२) अनुभव में राग की क्रिया से रहित हुआ, वह भी निष्क्रिय।

(२२३)

'ज्ञेयकार' शब्द निमित्त के लिये, नैमित्तिक ज्ञान के लिये, स्वाभाविक ज्ञान के लिये और निरपेक्ष ज्ञान के लिये इस्तेमाल होता है। (१) क्रियासहित के बाह्य पदार्थ → ज्ञेयाकार। (२) इन्द्रियज्ञान → ज्ञेयाकार। (३) साधक का अतीन्द्रियज्ञान → ज्ञेयाकार। (४) साधक का परलक्षी उपयोग → ज्ञेयाकार, (५) केवलज्ञान को भी → ज्ञेयाकार (६) स्वपर का प्रतिभासमयी उपयोग → ज्ञेयाकार।

(२२४)

अकेला सामान्य, द्रव्य ध्येय होता है किन्तु उतना द्रव्य ज्ञेय नहीं होता। सामान्य-विशेषात्मक पूरा परिणामी आत्मा ज्ञेय होता है। अंश है, वह ध्येय होता है, परन्तु अंश हैं, वह ज्ञेय नहीं होता। पूरा अंशी ज्ञेय होता है। प्रमाण से देखो तो ध्येय है, वह अंश है। अंश ज्ञेय नहीं होता। ज्ञेय जुड़ा हुआ होता है। 'युक्तं' शब्द में मर्म है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' स्वानुभव ही प्रमाणज्ञान है।

(२२५)

(अपरिणामी) द्रव्य भी अखण्डित और (परिणामी) द्रव्य भी अखण्डित। फिर उसके दो प्रकार भी नहीं। दोनों का एक अखण्डित है, उसमें दो अखण्डित गर्भितपने हैं।

(२२६)

प्रश्न : ज्ञान से तादात्म्य कौन है?

(१) ज्ञान आत्मा से तादात्म्य है, इसलिए ज्ञान में उसका ही अनुभव हो सकता है → यह न्याय है।

(२) ज्ञान से ज्ञायक तादात्म्य है, इसलिए उसका ही अनुभव हो रहा है। → यह स्वभाव है

(३) ज्ञान आत्मा से तादात्म्य है, इसलिए ज्ञान में उसका ही अनुभव होता है → यह अनुभव है।

(२२७)

जीव की पर्याय, जीव के जाननेरूप से परिणम रही है; ज्ञेय की पर्याय (इन्द्रियज्ञान) ज्ञेय के जाननरूप परिणम रही है; दोनों परिणमन एक साथ हैं; फिर भी कोई तकलीफ नहीं।

(२२८)

(१) ज्ञेय जानने में आ रहे हैं, उसमें भी ज्ञायक की सिद्धि। (२) ज्ञान जानने में आ रहा है, उसमें भी ज्ञायक की सिद्धि। (३) ज्ञायक जानने में आ रहा है, उसमें भी ज्ञायक की सिद्धि। इसमें ज्ञान पर को जान रहा है और ज्ञान में पर जानने में आ रहा है, वह कहाँ आया? इसलिए स्वपरप्रकाशक भी स्वप्रकाशक ही है।

(२२९)

प्रश्न : इन्द्रियज्ञान (नय ज्ञान) कितना भिन्न है?

उत्तर : स्वानुभव में दिखता ही नहीं उतना भिन्न है। नयज्ञान है, वह आस्रवतत्त्व है; संवरतत्त्व नहीं। नय के विकल्प को राग कहने में आता है, वह आकुलतारूप है, उसमें आनन्द नहीं। नयज्ञान, परोक्षज्ञान है; वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं।

(२३०)

पदार्थ का एक भी धर्म बाहर नहीं जाता और दीपक का धर्म अपने को छोड़कर दूसरे को नहीं ग्रहता। धर्म का लेन-देन करना वस्तु का स्वभाव ही नहीं।

(२३१)

ज्ञान का सविकल्पपना स्वाभाविक और वैभाविक भी है। जैसे, स्वलक्षी ज्ञान में स्वपरप्रकाशपना है, वैसे परलक्षी ज्ञान में भी स्वपरप्रकाशकपना है। दोनों का अन्तर ख्याल में आना चाहिये। परलक्षी ज्ञान में अर्थात् इन्द्रियज्ञान में स्व का मात्र प्रतिभास+पर का लक्ष। स्वलक्षीज्ञान में अर्थात् अतीन्द्रियज्ञान में पर का मात्र प्रतिभास+स्व का लक्ष।

(२३२)

जैसे द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु एक है और सत् दो है; वैसे ज्ञान की पर्याय एक है और उसमें दो विभाग हैं। इन्द्रियज्ञान में... अतीन्द्रियता का अभाव है और अतीन्द्रियज्ञान में इन्द्रियज्ञान का अभाव है। एक भाव में, दूसरे भाव का अभाव और एक भाग में दूसरे भाग का अभाव।

(२३३)

इन्द्रियज्ञान में सावधान है... इसलिए उसे उपयोग की खबर नहीं पड़ती, इसलिए ज्ञान का अज्ञान हो जाता है। प्रगट ज्ञान से ज्ञायक को प्रगट जान! यदि ज्ञान में ज्ञान आ जाए तो ज्ञान में आत्मा जानने में आ जायेगा।

(२३४)

जिसे आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हुआ है, उसे सविकल्प जैसा का तैसा रहता है। सविकल्प (स्वाभाविक) ज्ञान में उसे विचारने की जरूरत नहीं और उसके लिये निर्विकल्पध्यान की जरूरत भी नहीं है।

(२३५)

असाधारण पाँच भावों में, ज्ञानपर्याय का स्वभाव कहीं नहीं आया। एक सत् अहेतुक जाननक्रिया प्रगट होती है, उसमें ज्ञायक अनन्यपने से जानने में आता है। उपयोग को ज्ञायक की भी अपेक्षा नहीं।

(२३६)

नय की बात सच्ची है परन्तु कथंचित् सच्ची है। नय अनुमान के लिये है, अनुभव के लिये नहीं। द्रव्यस्वभाव को समझने के लिये नय को साधन कहा है, परन्तु आत्मानुभव में नय का अभाव है।

(२३७)

इन्द्रियज्ञान मेरे से सर्वथा भिन्न है; यह केवलज्ञान का बीजारोपण है।

(२३८)

अभेद के लक्ष से अभेद होकर अभेद को जानता है। आत्मज्ञान अभेद होता हुआ ही प्रगट होता है और आत्मज्ञान अभेद होता हुआ ही व्यय होता है।

(२३९)

पर्याय को निरपेक्ष जानने से → पर्यायदृष्टि छूटती है। जबकि द्रव्य को निरपेक्ष जानने से → द्रव्यदृष्टि होती है।

(२४०)

स्व-पर दोनों का प्रतिभास होता है, वह उपयोग अखण्ड, अक्रम, अभेदज्ञान है। वह स्वपरप्रकाशकमयी ज्ञान है।

(२४१)

ज्ञान का ज्ञेयाकार स्वभाव अनन्त, अखण्ड और परिपूर्ण है। अनादि-अनन्त ऐसा स्वभाव है। पर प्रतिभासित हो रहा है, इसलिए उसे पर को जानने की जरूरत ही नहीं। इसलिए स्वभाव से ही पर को जानता नहीं। (१) ऐसा ज्ञेयाकार स्वभाव समझने से ज्ञेय का लक्ष छूट जाता है। (२) ऐसा ज्ञेयाकार स्वभाव समझने से ज्ञायक पर ही लक्ष आता है।

(२४२)

वास्तव में ज्ञायक का भेद ज्ञानगुण है, सक्रिय उपयोग भी ज्ञायक का भेद नहीं। क्योंकि, एक तो-गुण तादात्म्य है, उपयोग तादात्म्य नहीं। दूसरा - गुण पारिणामिकभाव से है, नित्य है; जबकि उपयोग अनित्य है और वह पारिणामिक है, परन्तु वह परिणामरूप है। इसलिए निश्चयनय से तो आत्मा का लक्षण सहजज्ञान, सहजदर्शन गुण है। दृष्टि के विषय के लक्षण को ठीक से पकड़ना। उपयोग लक्षण के आठ प्रकार हैं, वह व्यवहारनय से लक्षण हैं। इन आठ प्रकार के लक्षण में सहज अन्वय त्रिकाली गुण लक्षण है... यह निश्चयनय का लक्षण है।

(२४३)

जिसे परिणाम मात्र से सर्वथा भिन्न परमार्थ जीव का स्वरूप भासता है, उसे परिणाम की कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि और ज्ञाताबुद्धि भासती नहीं, क्योंकि मैं परिणाम से तादात्म्य नहीं।

(२४४)

कारणशुद्धपर्याय को देखते... देखते कारणशुद्धपर्याय नहीं दिखती; कारणपरमात्मा दिखता है। यदि कारणशुद्धपर्याय दिखे तो छठवाँ गुणस्थान आ जाता है। कारणशुद्धपर्याय है, परन्तु भेदरूप नहीं।

(२४५)

स्याद्वाद में 'है' और 'नहीं है' आता है। पदार्थ की सिद्धि करनी हो तो पर्याय है और दृष्टि के विषय की सिद्धि करनी हो तो पर्याय नहीं है।

(२४६)

(१) आत्मा का अधिकार, वह अध्यात्मपद्धति। अध्यात्म, वह शुद्ध चेतनापद्धति है। अध्यात्म अर्थात् निश्चय। वह द्रव्यरूप और पर्यायरूप है। (२) आगमपद्धति, वह पदार्थ के अधिकार को सिद्ध करती है। आगम, इन्द्रियज्ञान को ज्ञान कहता है; अध्यात्म उसे ज्ञेय कहता है।

(२४७)

(१) मिथ्यात्व को फीका करनेवाला → भेदज्ञान का विचार।

(२) मिथ्यात्व का नाश करनेवाला → अभेद का अनुभव।

(२४८)

उपयोग लक्षण है, वह व्यवहार जीव का लक्षण है। जबकि निश्चय लक्षण, परम पारिणामिकभाव है, जो उपयोग लक्षण को भी अलग करता है। ज्ञेय के लक्षण को अलग करनेवाले ध्येय का कोई लक्षण तो होना चाहिए न!? त्रिकाल का लक्षण त्रिकाल होता है।

(२४९)

लक्षण क्यों अलग किये? (१) उपयोग लक्षण (२) परमपारिणामिकभाव लक्षण। उपयोग है, वह पर्यायसापेक्ष द्रव्य का लक्षण है। पर्यायसापेक्ष अर्थात् ज्ञेय और वह उसका लक्षण है।

पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य का लक्षण, परमपारिणामिकभाव है। अथवा त्रिकाली ज्ञान, त्रिकाली दर्शनगुण है।

(२५०)

समयसार ३७३ से ३८२ इन दस गाथाओं के मूल में पर को जानने की बात कहीं भी नहीं। पर को जानता है और बाद में जानने का बन्द करना, वैसी बात नहीं ली है। पर को जानता ही नहीं। पर को नहीं जानता उसमें... जानना नहीं छूटेगा परन्तु भ्रम छूट जायेगा। आत्मा का ज्ञान पर को जानता होता तो फिर पर्यायार्थिक चक्षु बन्द करो – ऐसा निषेध नहीं कराते। समयसार, गाथा १४४ में कहा कि मति-श्रुतज्ञान के व्यापार को मर्यादा में ले आओ। प्रवचनसार, ज्ञानप्रधान शास्त्र है, फिर भी कहा कि तेरे परिणाम को तू जानने का बन्द कर! पर्यायार्थिकनय को सर्वथा बन्द कर! इस बात को श्रद्धा में लेकर और पर को जानने का बन्द किया तो इन्द्रियज्ञान को खुराक ही न मिली; फलत् वह कुछ समय के लिए रुक जाता है। फिर भेद को इन्द्रियज्ञान जानता है, तो भी मोह-मिथ्यात्व नहीं होता।

(२५१)

वास्तव में तो अज्ञान अवस्था में इन्द्रियज्ञान पर को जानता है, इसलिए पर को जानने का बन्द करने को कहा है। वास्तव में जानता नहीं, फिर भी मानता है... कि 'मैं जानता हूँ'; इसलिए ज्ञानी पर को जानना बन्द कराते हैं।

(२५२)

कलश-टीका में श्लोक नम्बर १३० में कहा कि भेदज्ञान विनाशीक होने के बावजूद उपादेय है। दूसरी क्रिया के ऊपर तो उपादेय का आरोप भी नहीं आता। जबकि भेदज्ञान में तो भूतनैगमनय के व्यवहार से आरोप आता है। भेदज्ञान में मिथ्यात्व की मन्दता होने के बाद मिथ्यात्व गलते-गलते अभाव होकर अनुभव होने के बाद, पूर्व के भेदज्ञान को भूतनैगमनय लागू पड़ता है।

(२५३)

कलश १३१ में कहा कि 'भेदज्ञान विकल्परूप है', फिर भी भेदज्ञान सर्वथा उपादेय है। भेदज्ञान के जोर से अभेद का अनुभव होता है। वास्तव में तो अभेद से ही अभेद का अनुभव होता है। भेदज्ञान अमृत है। भेदज्ञान से स्वभाव का जोर आता रहता है।

(२५४)

स्वपरप्रकाशक में ही वास्तव में भेदज्ञान का रहस्य है। स्वपरप्रकाशक प्रमाणज्ञान का विषय है। स्वपरप्रकाशक अर्थात् स्व-पर प्रतिभास, उसे एक अपेक्षा से स्वभाव कहते हैं और एक अपेक्षा से स्वपरप्रकाशक को विभाव भी कहते हैं। ज्ञान की पर्याय के प्रमाण में दो अंश हैं, इसलिए पर को जानना बन्द कराया है। इससे विधि-निषेध द्वारा भेदज्ञान होते ही; परप्रकाशक का निषेध करे, अर्थात् कि पर का लक्ष छूटे, तब ज्ञान की पर्याय का निश्चय प्रगट होता है। प्रवचनसार, गाथा ११४ में 'पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द कर दो'। 'सामान्य को अवलोकते, विशेष को नहीं अवलोकता'.... पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करेगा, तब द्रव्यार्थिक चक्षु खुलेंगे। यह ओटोमेटिक स्विच है।

(२५५)

(१) पर्याय सत् है, उसे परमपारिणामिकभाव की अपेक्षा नहीं।

(२) परमपारिणामिकभाव को परिणाम सत् की अपेक्षा नहीं।

पर्याय सत् है, इसलिए आत्मा अकर्ता है, ज्ञाता है और इस तरफ से द्रव्य सत् (अकर्ता) होने से पर्याय भी सत् है, वह भी निरपेक्ष अकर्ता अर्थात् ज्ञाता रहती है।

(२५६)

स्वप्रकाशक लक्षण से ही सारी शुरुआत होती है, क्योंकि स्वप्रकाशक स्वभाव है; पक्ष नहीं। इसलिए स्वभाव से ही पक्षातिक्रान्त होता है।

(२५७)

व्यवहार निषेध्य है, निश्चय निषेधक है। व्यवहार का निषेध करे, उसका नाम व्यवहार पड़ता है। ज्ञेय जानने में आता है, उसका निषेध करे तो उसका नाम व्यवहार है। निश्चय तो उससे आगे है। व्यवहार का निषेध, वह निश्चय का वाच्य है। जबकि निश्चय तो वचनातीत है।

(२५८)

पर का प्रतिभास होता है, उसका लक्ष करे तो प्रतिभास, वह प्रतिभासरूप नहीं रहा, परन्तु वह उपयोगात्मक हो गया। (१) पर के प्रतिभास न माने तो → अज्ञान। (२) पर के प्रतिभास का लक्ष करे तो भी → अज्ञान।

(२५९)

जिस समय राग का प्रतिभास होता है, उसी समय राग मुझे दिखता है, वैसी बुद्धि बाधारूप आती है। पर का प्रतिभास आत्मज्ञान होने में जरा भी बाधारूप नहीं होता। मैं राग को अथवा राग के प्रतिभास को देखता ही नहीं.... तो तुरन्त ही ज्ञान जानने में आयेगा।

(२६०)

'ज्ञायकभाव' पुस्तक - पृष्ठ नम्बर ६ 'घड़े का जाननहार है' वैसा नहीं कहा परन्तु घड़े का जाननहार... वास्तव में घड़े को जानता है, वैसा नहीं। पूज्य गुरुदेव इसमें व्यवहार को स्थापते हैं और फिर व्यवहार को उथापते हैं... और निश्चय का ज्ञान कराते हैं। घड़े का जाननहार कहने के बावजूद जाननहार, जाननहार को ही जानता है; घड़े को नहीं जानता।

(२६१)

कलश टीका श्लोक नम्बर ३७ में प्रश्न उठाया कि भिन्न का भावार्थ मैं नहीं समझा! शरीरादि, रागादि है, वे आत्मा से भिन्न है। भिन्न है तो वह वस्तुरूप है या अवस्तुरूप है?

उत्तर : अवस्तुरूप है। शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु को जानने पर, वे जानने में नहीं आते, इसलिए अवस्तु है। अवस्तु अर्थात् मात्र भिन्न है, वैसा नहीं, परन्तु जानने में ही नहीं आते, उसका नाम भिन्नता है, जो जानने में नहीं आता, उसका नाम परज्ञेय है। जो जानने में आता है, उतना स्वज्ञेय है।

(२६२)

अनादि से भूल में भूल हो रही है, मूल में भूल नहीं। मूल तो ज्ञायक परमात्मा शुद्ध ही है।

(२६३)

साधक, जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हैं, तब उनका उपयोग गुलाटी खाता है, उनको तो जाननहार जानने में आ रहा है। बाह्य में दृश्य पदार्थ दिखते हैं, तब अन्दर में द्रष्टा पदार्थ दिखता है।

(२६४)

मैं सिद्ध होने के लिये सिद्ध भगवान के दर्शन करता हूँ। हे प्रभो! आप सिद्धालय में विराज रहे हैं, मैं देहालय में विराज रहा हूँ। सच में तो आप सिद्धालय में नहीं और सच में मैं देहालय में नहीं। आप ज्ञानालय में प्रतिष्ठित हो और मैं भी ज्ञानालय में ही प्रतिष्ठित हूँ। जगत के सर्व जीव ज्ञानमय होने से केवल ज्ञानालय में ही प्रतिष्ठित हैं।

(२६५)

पूज्य गुरुदेव ने फरमाया कि - सबको ज्ञान ही जानने में आता है। तुम्हारे ज्ञान में ज्ञानस्वरूप भगवान ही जानने में आता है। शिष्य का **प्रश्न :** हमको द्रव्य जानने में आता है और आपको ज्ञान जानने में आता है?

उत्तर : जिस पर्याय में आत्मा करनेवाला भासता है, उस पर्याय में आत्मा कहाँ से जानने में आयेगा? उसे पर्याय में द्रव्य कारणहारपने दिखेगा। कौन-सी पर्याय में ज्ञानस्वभावी आत्मा जानने में आयेगा? जो पर्याय निरपेक्ष हो, बलवान हो, वह पर्याय ऐसा जानती है कि मुझे ज्ञायक जानने में आता है।

(२६६)

उपादेयभूत अभेद ध्येय को ही केवल जानता है, ऐसा भी नहीं, ज्ञेय के टुकड़े मत कर।

(२६७)

जिसका मोक्ष होता है, अथवा जिसमें मोक्ष होता है, वैसी पर्याय ही मोक्ष का कारण है। जिसका मोक्ष नहीं होता; जिसमें मोक्ष नहीं होता - ऐसा सदाकाल निष्क्रिय मुक्तस्वभाव, मोक्ष का कारण नहीं।

(२६८)

राग को निरपेक्ष सिद्ध करने से निमित्त का लक्ष छूट जाता है, इसलिए राग प्रगट ही नहीं होता। राग को निरपेक्ष रखकर... फिर अभाव को प्राप्त करते पूरा जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था, वह दूर हो जाता है।

(२६९)

पर्याय को करता नहीं, परन्तु जानता ही है - यह ३२० गाथा की, सविकल्पदशा की बात है। जबकि नियमसार की पंचरत्न गाथाओं में कहा कि पर्याय को कर्ता नहीं और पर्याय को जानता भी नहीं; सहज चैतन्य के विलास स्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ, यह निर्विकल्पदशा की बात है।

(२७०)

तेरे पास ज्ञान दो प्रकार के हैं, इसलिए विषय भी दो प्रकार के हैं। तीसरा ज्ञान नहीं है... इसलिए पर को जानना असद्भूत व्यवहार में डाला है। पंचाध्यायी के कर्ता ने तो इसको नयाभास में डाला है।

(२७१)

यह आत्मा अनादिकाल से तीन लोक के अनन्त पदार्थों में घूमा परन्तु अपनी सत्ता के पास नहीं गया। आज तक अपनी सत्ता के पास नहीं गया।

(२७२)

आत्मा में अनन्त गुण हैं, इसलिए एक समय में एक को विषय बनाने में आए तो भी अनन्त काल तक उसकी गिनती नहीं हो सकती। एक-एक गुण भिन्न-भिन्न स्वादवाला अद्भुत है। अनन्त उपादान का बना हुआ पकवान, उसका स्वाद कैसा होगा?

(२७३)

कर्ता-कर्म अधिकार में पक्षातिक्रान्त के श्लोक हैं। कर्ता, भोक्ता हो! या कर्ता, भोक्ता न हो! कथंचित् भोक्ता है, कथंचित् भोक्ता नहीं है; कथंचित् कर्ता है, कथंचित् कर्ता नहीं, ये दोनों हैं परन्तु इन दोनों का एक समय में ज्ञाता हो जाता है, दोनों का पक्ष छूट गया है, आकुलता छूट गई और अक्रम से जानता हुआ अतींद्रियज्ञान उत्पन्न हुआ। 'हो' शब्द में धर्म का ज्ञान रह गया और कर्ता, भोक्ता का विकल्प छूट गया। कर्ता का संकल्प गया और अकर्ता का विकल्प गया और केवल अनुभव हो गया।

(२७४)

जिस ज्ञान में ओमकार ध्वनि जानने में आती है, वह ज्ञान की उपाधि है। उस उपाधि को दूर करे तो अकेला ज्ञान ही जानने में आता है। निरपेक्ष ज्ञान, ज्ञेय के सम्बन्ध से रहित जानने में आता है। जो ज्ञान, ज्ञेयों के सम्बन्ध तोड़ता नहीं और स्वज्ञेय से सम्बन्ध जोड़ता नहीं। जिस ज्ञान में निमित्तपने ज्ञेय है, वह ज्ञेयकृत उपाधि है। राग, वह कर्मकृत उपाधि है। गुरुगम से इन्द्रियज्ञान में समझ हुई, वह ज्ञेयकृत उपाधि है; ज्ञान नहीं। जिस ज्ञान में सिर्फ परज्ञेय की प्रतीति होती है, वह ज्ञान नहीं किन्तु ज्ञेय है।

(२७५)

भावक के भाव को भावक का भाव मानना, वह भेदज्ञान है।

उपयोग के भाव को उपयोग का भाव मानना, वह भेदज्ञान है।

भावक के भाव को, जीव का भाव मानना, मिथ्यादर्शन है।

(१) पुद्गलपिंड सम्बन्धी भावकर्म → द्रव्यकर्म का अनुभाग।

(२) अजीव सम्बन्धी भावकर्म → क्रोध, मान, माया आदि परिणाम।

(३) जीव सम्बन्धी भावकर्म → ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का निर्मल परिणाम।

(२७६)

ज्ञाता-ज्ञेय का व्यवहार दो द्रव्यों के बीच कहा, वह उपचार से कहा। ज्ञाता-ज्ञेय का निश्चय एक द्रव्य में कहा, वह निश्चय से कहा।

(२७७)

परप्रकाशकपना या स्वप्रकाशकपना, वह ज्ञान की पर्याय का अपना स्वभाव है....उसमें स्व या परद्रव्यों की अपेक्षा नहीं है।

(२७८)

वास्तव में तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान ही हुआ करता है। अब उसमें विवक्षा के भेद करो तो निश्चय-व्यवहार है परन्तु जानना... जानना... जानना... सामान्य रखो तो केवल ज्ञान....ज्ञान... ज्ञान... ही है।

(२७९)

एक-एक श्वास ज्ञायक के जोर से निकलना चाहिए। पहिये को मत देख, रास्ते की तरफ देख। परिणाम को मत देख, ज्ञायक को देखने से परिणाम अच्छे हो जाते हैं। दशा को न देख! दिशा की तरफ देख!

(२८०)

उपयोग द्वारा सीधा उपयोगी को पकड़ो तो श्रद्धा को बदलने की जरूरत नहीं रहती। सुख, वीर्य इत्यादि गुणों को बदलने की जरूरत नहीं। चारित्र को पाने के लिए उसे साधन की जरूरत नहीं।

(२८१)

आत्मा ने राग को छोड़ा, ऐसा नहीं लेना, क्योंकि आत्मा ज्ञानप्रत्याख्यान है। राग के अभावस्वरूप रहा हुआ आत्मा अपोहक है। राग को ग्रहण ही नहीं किया तो छोड़ेगा कैसे?

(२८२)

(१) कर्म में राग है, राग में कर्म है। (अभेद से)

(२) कर्म में आत्मा नहीं, आत्मा में कर्म नहीं। (दो द्रव्य की भिन्नता)

(३) ज्ञान में राग नहीं, राग में ज्ञान नहीं। (स्वभाव से)

(४) आत्मा में ज्ञान है, ज्ञान में आत्मा है। (तादात्म्य से)

(२८३)

वर्तमान योग्यता से सम्यग्दर्शन होता है, पूर्व के संस्कार से नहीं। पुरुषार्थ समय...समय का है। वर्तमान पर्याय आत्मसन्मुख हुई, वह वर्तमान पुरुषार्थ है, बाकी व्यवहार के बहुत कथन आते हैं। पूर्व के संस्कार पर नजर गई तो आपकी दृष्टि पर्याय पर है, मैं वर्तमान में परमात्मा हूँ.... वहाँ दृष्टि नहीं आई।

(२८४)

(१) राग है, वह निश्चय से पुद्गल का परिणाम है, ऐसा माननेवाला व्यवहारभासी नहीं होता। (२) राग है, वह जीव का पराश्रित परिणाम है, ऐसा जाननेवाला निश्चयाभासी नहीं होता। (३) राग, व्यवहार से जीव का परिणाम है, इसलिए वह त्यागने योग्य है और निश्चय से रागी तो पुद्गल ही है, ऐसा माननेवाला उभयाभासी नहीं होता। ऐसा भेदविज्ञान आने पर अनुभव होता है और वह नयों का ज्ञाता होता है।

(२८५)

समयसार, गाथा १०२ में जयसेन आचार्यदेव ने निश्चय से कथन किया है। जिस समय मिथ्यात्व होता है, उसी समय ही वह भुगतने में आता है। बाद में फल भुगतने में आता है, वैसा नहीं है, क्योंकि फल आगे-पीछे नहीं होता। जिस समय परिणाम में मिथ्यात्व हुआ, उसी समय आकुलता भुगतने में आती है। व्यवहार की लम्बी परम्परा को निश्चय उड़ा देता है।

(२८६)

(१) ज्ञायक परमगुरु निष्क्रिय है, वह → अकर्ता है।
(२) ज्ञायक सन्मुख का ज्ञान गुरु है, वह → कर्ता है।
(३) परिणाम में ज्ञायक ज्ञात हुआ, वैसा ज्ञान, शिष्य है, वह → कर्म है।

(२८७)

जाननहार जानने में आता है, वैसी भावना करते-करते सहज अनुभव हो जायेगा। भावभासन में अपूर्वता का भासन होने से वह जल्दी भी नहीं करता है और प्रमाद भी नहीं करता। जागृतिपूर्वक आगे बढ़ता है। (१) जल्दी करने में, कर्ताबुद्धि होने की सम्भावना है। (२) प्रमाद में, निराश होने की सम्भावना है। इसलिए समकित होगा, ऐसा विश्वास रखकर प्रयत्न चालू रखना चाहिए। कर्ताबुद्धि भी न आवे और प्रमाद भी न हो - ऐसा बीच का मार्ग ले लेना चाहिए।

(२८८)

(१) आत्मा का स्वभाव ज्ञान, उसमें त्रिकाली गुण लिया; इसलिए वह द्रव्य का निश्चय है। (२) ज्ञान का स्वभाव आत्मा को जानना, वह पर्याय का निश्चय है। (एक सिद्धांत में द्रव्य का निश्चय और पर्याय का निश्चय - दोनों समा गए।)

(२८९)

प्रश्न : भावेन्द्रिय और भावकर्म में क्या अंतर है?

उत्तर : द्रव्यसंग्रह में कहा कि दोनों में कोई भी अंतर नहीं है। दोनों असद्भूत व्यवहारनय में जाते हैं। धारणा ज्ञान भी ज्ञेय के खाते में जाता है, ज्ञान के खाते में नहीं। इन्द्रियज्ञान, ज्ञान का मल और मैल है। जबकि राग - मोह- द्वेष, वे श्रद्धा और चारित्र का मैल है।

(२९०)

जिसमें विवक्षा का अभाव है, उसे सामान्य उपयोग कहते हैं। अगर वह इन्द्रिय का अवलम्बन ले तो वह सापेक्ष हो जाता है और द्रव्य का अवलम्बन ले तो भी सापेक्ष हो जाता है। जबकि उपयोग तो निरपेक्ष है। सामान्य उपयोग में केवल जानना... जानना... जानना...ही है। वही

उपयोग, सामान्य द्रव्य का लक्ष करे तो अतीन्द्रिय हो जाता है और वही उपयोग पर का लक्ष करे तो इन्द्रियज्ञान हो जाता है।

(२९१)

प्रश्न : इन्द्रियज्ञान तो ज्ञेय है, वह तो अपने को नहीं जानता। त्रिकाली निष्क्रिय सामान्य ज्ञायक तो ज्ञायक को जानता नहीं और अतींद्रियज्ञान तो हमारे पास नहीं है तो अब आत्मा को जानूँ कैसे?

उत्तर : अनन्त काल से जीव के पास साधन है, वह अभेदपने से है। उपयोग में जो जानना.. जानना क्रिया होती है, वह अभिन्न साधन है।

(२९२)

प्रश्न : आत्मा और इन्द्रियज्ञान को भिन्न कैसे करना?

उत्तर : आत्मा और इन्द्रियज्ञान के भिन्नपने में अभिन्न साधन ही उसे भिन्न करता है। वह आत्मा से अभिन्न होता है। भेद-भिन्नता, वह साधन ही नहीं है। इन्द्रियज्ञान तो स्व-पर को विभक्त नहीं करता और अमूर्तिक आत्मा को जानता नहीं। ज्ञान उसे कहते हैं, जिसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे और ज्ञान उसे कहते हैं, जो आत्मा के आश्रय से हो।

(२९३)

नय विवक्षा से देखा जाये तो परम पारिणामिकभाव के आधार से चार भाव नहीं है। परमपारिणामिक के आधार से सब गुण रहे हुए हैं, यदि चार भाव द्रव्य के आधार से रहे हों तो हेय-उपादेय नहीं होता।

(२९४)

अनुभूति विशेष होने पर भी, विशेषों का विस्मरण है। एक-एक गुण के चिंतवन में पूरा गुणी एकरूप से अनुभव में नहीं आने से, उससे गुणी परमात्मा का अनादर होता है; इसलिए गुणभेद का निषेध करना चाहिए।

(२९५)

अनुभव में पूरा आत्मा अभेदरूप ज्ञात होता है। परिणामी आत्मा कर्ता और परिणामी आत्मा कर्म बनता है। कथंचित् परिणामी हुआ परन्तु अकर्ता तो सर्वथा ही रहा है। (१) अभेद ध्येय में गुणभेद नहीं दिखता। (२) परिणामी ज्ञेय में पर्यायभेद नहीं दिखता।

(२९६)

आत्मा के गुणों का विचार करे, वह दोष नहीं है, परन्तु उस विचार में सन्तोष मानना वह दोष है। आत्मा अनन्तगुणमयी है, उसमें एक-एक गुण का विचार करना, वह विशेष है और विशेष है, वह भेद है। जबकि आत्मा अविशेष है अर्थात् अभेद है।

(२९७)

सामान्य द्रव्य का ज्ञान होते ही विशेष का सम्यग्ज्ञान होता है। विशेष का ज्ञान करने में आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। विशेष का ज्ञान करनेवाला उत्साही; वह सामान्य का ज्ञान कर ही नहीं सकता।

(२९८)

एक जीव का परिणाम और दूसरा अजीव का परिणाम; इन दोनों से जीव अलग रह जाता है। उसमें - (१) आत्मा के अकर्तापना की सिद्धि होती है, (२) क्षणिक उपादान की सिद्धि होती है, (३) क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है, (४) केवलज्ञान की सिद्धि होती है।

(२९९)

उपयोग प्रगट है तो उसके आधार से द्रव्य प्रगट है। अंश प्रगट है, तो अंशी भी प्रगट है। उपयोग का अस्तित्व बताता है कि आत्मा प्रगट ही है।

(३००)

निमित्त के लक्ष से परिणाम दिखेंगे और उपादान के लक्ष से जीव दिखेगा।

(३०१)

व्यवहार, व्यवहारनय और व्यवहारदृष्टि ये तीनों अलग चीज हैं। (१) आत्मा का विचार करना, वह व्यवहार (२) साधकदशा में निश्चयपूर्वक व्यवहारनय प्रगट होता है, (३) व्यवहारदृष्टि, वह तो स्पष्ट मिथ्यादृष्टि है।

(३०२)

अमृत जैसी बात → यहाँ ज्ञान का ज्ञेय सिद्ध करना है। दृष्टि के विषय के साथ मैत्री होने पर उपादेय-उपादान का भेद मिट जाता है। प्रयोजन, पर्यायदृष्टि छुड़ाने का है। पर्याय का ज्ञान तीन काल में छूट ही नहीं सकता।

(३०३)

अटपटी बात → नवतत्त्व व्यवहारनय का विषय होने से उनको ज्ञान का ज्ञेय बनाने पर सम्यग्दर्शन नहीं होगा और नवतत्त्व को (पहले से ही) ज्ञान के ज्ञेय में से उड़ा दे तो भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा। नवतत्त्व में से शुद्धनय का विषय निकालना है।

(३०४)

न्यायदीपिका में आता है कि इन्द्रियज्ञान घड़े जैसा है, क्योंकि वह स्व-पर को जानता नहीं। जो ज्ञान, स्व को नहीं जानता, वह ज्ञान, पर को भी नहीं जानता।

(३०५)

जहाँ-जहाँ ज्ञान है; वहाँ-वहाँ आत्मा है। जहाँ-जहाँ आत्मा है; वहाँ-वहाँ ज्ञान है - ऐसा अनुमान करके ज्ञान की पर्याय को स्वरूप तरफ झुकाना। उपयोग स्वभाव तरफ झुकते-झुकते झुक जाता है - ढलते-ढलते ढल जाता है।

(३०६)

'आत्मा तीनों काल में स्वभाव से ही परिपूर्ण है,' - ऐसी देशनालब्धि सुनने से मन में बल आया और अनुभव होने से परिणाम में बल आया।

(३०७)

एक संस्कार डालने की बात आती है और एक निर्णय की बात आती है। वर्तमान में मैं एक हूँ, परिपूर्ण हूँ - ऐसा निर्णय कर लो, क्योंकि निर्णयवाला जीव प्रयोग करता है। मानसिक ज्ञान में शुद्धात्मा ऊर्ध्व हुआ है। निश्चयनय के पक्ष में आया, उसे सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा है, क्योंकि 'चिरं अचिरं' थोड़े समय में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेगा, जबकि संस्कार के भरोसे रहने जैसा नहीं है।

(३०८)

प्रथम अकर्ता की दृष्टि के लिए बाहर का नाटक देखना बन्द किया और इस रीति से उसे अनुभव हुआ। 'मैं अकर्ता हूँ' ऐसा सम्यक् भान हुआ, अन्दर में डुबकी मारकर बाहर आया, तब देखा कि पुराने कर्म, नये कर्म को बाँधते हैं → यह सूक्ष्म भेदज्ञान है।

(३०९)

मैं कर्ता बनता होऊँ तो पुद्गल परिणाम को छोड़ूँ न! परन्तु 'मैं तो अनादि-अनन्त अकर्ता हूँ' अकर्ता की दृष्टि होते ही सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए अकर्तापना, वह जैनदर्शन की पराकाष्ठा है।

(३१०)

अन्दर में डुबकी लगानेवाला जीव वास्तव में यह भी नहीं देखता कि यह परिणाम है या नहीं? यह तो सविकल्पदशा में आता है, तब उनका ज्ञान होता है। अन्दर में लीन होता है, तब बाहर में क्या होता है, उसकी खबर ही नहीं।

(३११)

करने के अभिप्राय पर चौकड़ी (x) मारनी पड़ेगी! मैं जानता हूँ - ऐसा नहीं आता और मैं करता हूँ, ऐसा क्यों आता है? अकर्ता किसके जैसा है? अरिहंत भगवान जैसा है। कब? तीनों काल। बुद्धि को बाहर घुमाओ मत; बुद्धि को मर्यादा में लाओ।

(३१२)

प्रमाण सप्तभंगी पदार्थ की सिद्धि करती है। उसमें हेय-उपादेय करने की शक्ति नहीं है। नय सप्तभंगी, व्यवहार का निषेध करती है और उपादेय तत्त्व का निश्चय कराती है। प्रमाण के अनेकान्त उसमें जानने की मुख्यता है। नय के अनेकान्त में अस्ति, नास्ति अर्थात् विधि-निषेध की मुख्यता रहती है। ज्ञायक का ज्ञान होता है, राग का नहीं - यह नय सप्तभंगी है। ज्ञायक जानने में आ रहा है और राग भी जानने में आ रहा है - यह प्रमाण सप्तभंगी है।

(३१३)

ज्ञान जैसा व्यापकपना विश्व में अन्य कोई जगह कहीं नहीं और श्रद्धा जैसा संकुचितपना विश्व में अन्य कोई जगह कहीं नहीं।

(३१४)

प्रश्न : द्रव्य में पर्याय अभेद होती है या उसका ज्ञान होता है?

उत्तर : द्रव्य में पर्याय अभेद होती है, इसलिए अभेद का ज्ञान होता है। शुद्धपर्याय से क्षणिक अभेद होता है, परन्तु दोनों तादात्म्यपने अभेद नहीं होते। यदि त्रिकाल अभेद होवे तो पर्याय के नाश से द्रव्य का नाश होगा। पुराना अभेद सामान्य तत्त्व अनादि-अनन्त है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणाम से परिणमता हुआ आत्मा जो ध्येयपूर्वक ज्ञेय हुआ, वह नया अभेद है। द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद है, वहाँ तक अन्यमति है, जैनमति नहीं।

(३१५)

अव्यक्तपने विभक्त, उसका नाम अपूर्व पक्ष, पूर्व में कभी नहीं आया हुआ पक्ष। रागादि से उसका द्रव्य भिन्न हो जाता है, फिर भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। अब सम्यग्दर्शन के लिये लम्बा समय नहीं जायेगा। पंचाध्यायीकर्ता ने कहा - शुद्धनय का पक्ष आया, भाविनैगमनय से सम्यक् हो गया। जा!

(३१६)

प्रश्न : अपूर्व पक्षवाले को हेय, उपादेय का परिणमन रहता है?

उत्तर : मैं 'हाँ' या 'ना' कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि वह वचनातीत है, निर्विकल्पवत् है और केवल अनुभवगम्य है। यह अपूर्व पक्ष है, वह वचन से अगोचर है और अभी निर्विकल्प नहीं हुआ। अरे! उसे हेय तत्त्व याद ही नहीं आता।

(३१७)

'प्रज्ञा से आत्मा को जानना' अर्थात् स्वप्रकाशक हुआ। जिसको शुद्धात्मा के दर्शन करने हों, उसे पर के साथ ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध छोड़ना पड़ेगा। अभेद होने के पहले अन्दर ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। अन्दर अभेद होने के बाद व्यवहार से पर के साथ ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध कहलाता है, परन्तु उसको ज्ञेय में आत्मबुद्धि होती नहीं। अब उसे ज्ञेय, ज्ञेयपने भासता है... परन्तु इष्ट और अनिष्टरूप भासता नहीं।

(३१८)

ज्ञान के बहाने और शास्त्र में से भी व्यवहार निकाले, वह मूर्ख है। शास्त्रपाठी, ज्ञान के विषय को आगे करता है; जबकि ज्ञानी दृष्टि के विषय को आगे करता है।

(३१९)

जैसे स्वरूप है, वैसा मात्र जानने का है।

(१) प्रकाश घड़े को प्रकाशता है, वह बुद्धि मिथ्या है।

(२) प्रकाश → प्रकाश को प्रकाशता है, वह बुद्धि सम्यक् है।

(३) प्रकाश → दीपक को प्रकाशने के बाद घट को प्रकाशता है, वह व्यवहार है।

(४) ज्ञान →→ ज्ञेय को प्रकाशता है, वह बुद्धि मिथ्या है।

(५) ज्ञान → ज्ञान को प्रकाशता है, वह बुद्धि सम्यक् है।

(६) ज्ञान → ज्ञायक को प्रकाशने के बाद ज्ञेय को प्रकाशता है, वह व्यवहार है।

(३२०)

(१) बारह अंग को जानना, वह → मन का धर्म है। (२) शुद्धात्मा को जानना, वह → ज्ञान का धर्म है।

(३२१)

त्यागबुद्धि होनी, वह अलग बात है और त्याग होना, वह अलग बात है (१) पुण्य-पाप के भाव में ममत्व न करना, वह त्यागबुद्धि है। (२) चारित्र की अपेक्षा से त्याग सातवें गुणसथान में है। (३) आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में कषाय का त्याग है। (४) बारहवें गुणस्थान में इन्द्रियज्ञान का त्याग है।

(३२२)

नय का धर्म जानना है, करना नहीं। उत्पाद हुए ज्ञान के गर्भ में सिर्फ जानना... जानना... ही है। 'करना' हो तो व्यवहार नहीं रहेगा और जानना भी नहीं रहेगा। अब निश्चय और व्यवहार को गौण करो तो अकेला ज्ञान ही है। वह व्यवहार भी नहीं और निश्चय भी नहीं।

(३२३)

(१) भेद उपचार → भूमिका के योग्य व्यवहाररत्नत्रय, (२) अभेद उपचार → ज्ञान की शुद्धपरिणति, (३) अभेद अनुपचार → निर्विकल्प शुद्धोपयोग, (४) साधक तीनों को उल्लंघ करके आत्मा में चला जाता है।

(३२४)

आत्मा शुद्ध था, आत्मा शुद्ध है और आत्मा शुद्ध रहेगा; उसमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना हो गये।

(३२५)

पर्याय को जानने अनन्त काल से स्वच्छन्दी हुआ है। अब त्रिकाली शुद्ध द्रव्य को जानते... एक बार देख लो कि स्वच्छन्दी होगा या उसमें स्वतन्त्र होगा।

(३२६)

दृष्टि में अनेकान्त नहीं होता और ज्ञान में एकान्त नहीं होता। अनेकान्त है, फिर भी अनेकान्त में अनेकान्त का पक्ष नहीं - ऐसा वीतरागी ज्ञान मध्यस्थ है।

(३२७)

धारणा में शुद्धद्रव्य का ही घोलन होने के बावजूद भी नौ-नौ कोटि से यही उपादेय है, वैसी रुचि न होवे तो अनुभव नहीं होगा। नौ-नौ कोटि से आत्मा आनन्दस्वरूप है, वैसा ले।

(३२८)

ज्ञान गुण एक, पर्याय एक, समय एक, कर्ता एक और उस उपयोग के दो स्वभाव होने से साधक को दो उपयोग है। छद्मस्थ को दो उपयोग एक साथ काम नहीं करते परन्तु एक लब्ध्यरूप होता है और एक उपयोगात्मक होता है।

(३२९)

एक ज्ञान पर्याय में तीन प्रकार के व्यवहार होते हैं

(१) पराश्रित व्यवहार → लोकालोक को जाने वैसा व्यवहार।

(२) भेदाश्रित व्यवहार → ज्ञान की पर्याय में, ज्ञानपर्याय जानने में आवे, वैसा व्यवहार।

(३) अनुपचरित सद्भूत व्यवहार ज्ञानपर्याय में ज्ञायक जानने में आवे, वैसा व्यवहार।

(३३०)

परिणाम को अशुद्ध माने तो गृहीत मिथ्यात्व छूटता नहीं। शुद्धात्मा को अशुद्ध माने तो अगृहीत मिथ्यात्व छूटता नहीं।

(३३१)

जो ज्ञान, आत्मा का अवलम्बन लेता है, वह निश्चयनय है। जो ज्ञान, व्यवहार का निषेध करता है, वह निश्चयनय है। निश्चयनय अकेला निषेधात्मक नहीं, परन्तु परमार्थ का प्रतिपादक भी है। विधि-निषेध जैनदर्शन का प्राण है।

(३३२)

दुःख को जानना, वह अज्ञानचेतना है।

दुःख को अपना मानना, वह कर्मचेतना है।

दुःख को मैं भोगता हूँ, वह कर्मफलचेतना है।

(३३३)

तर्क से अनुमान होता है; तर्क से अनुभव नहीं होता। स्वभाव, अतर्क गोचर है, अर्थात् तर्क से अगोचर होता है। स्वभाव में तर्क को अवकाश ही नहीं।

(३३४)

राग के उत्पाद के समय चारित्रमोह का अवलम्बन था, राग के व्यय के समय उसे चारित्रमोह का लक्ष नहीं होने से... वह व्यय नैमित्तिकरूप नहीं... परन्तु स्वभावरूप है। फलत् स्वभाव अन्दर जाता है और वह पर्याय द्रव्यरूप हो जाती है। जबकि रागभाव स्वयं विपरीत होने से अन्दर नहीं जाता।

(३३५)

आत्मा प्राप्त ही है.... ऐसा ख्याल आये, उसका नाम ही प्राप्ति है। 'प्राप्ति भी मात्र उपचार से ही कही है, क्योंकि प्राप्ति में प्राप्ति दिखती नहीं।' 'मैं सदा प्राप्त हूँ' ऐसा दिखा। लक्ष (प्राप्त) प्रगट परमात्मा पर रहता है और लक्ष बिना ज्ञान जानता है कि 'प्राप्ति हुई', अब (अज्ञानी) जो प्राप्त है शुद्धात्मा, उसकी प्राप्ति की भावना करते हैं, यह विपरीतता है। आत्मा प्राप्त हुआ - ऐसा कहना भी उपचार है।

(३३६)

ज्ञानपर्याय में पर के प्रतिभास की अस्ति, मेरे में नास्ति, ऐसी मेरी अस्ति; उस अस्ति की मस्ती का नाम सम्यग्दर्शन है। आत्मा में पर का प्रतिभास होता ही नहीं... परन्तु पर्याय में होता है। दर्पण (दल) उसे कहते हैं, जिसमें चेहरा दिखता ही नहीं। दर्पण की पर्याय में चेहरा दिखता है। आत्म-अनुभव के समय पर का प्रतिभास भी नहीं होता। यह प्योर लक्ष की बात है। लक्ष में कोई अपेक्षा नहीं और जानने में कोई प्रतिबन्ध नहीं → यह मंगलमय सूत्र है।

(३३७)

आत्मा, कर्म के संयोग से भिन्न है। स्वभाव में कर्म है ही नहीं। अरे! स्वभाव के बगल में भी कर्म नहीं है, क्योंकि शुद्ध जीव के अगल-बगल में शुद्धता ही है, इसलिए कर्म नहीं है। जीव के संयोग में जीव का ज्ञान होता है, ऐसा ही जीव है। अकेला, किसी के भी संग के बिना, जिसके संयोग कोई नहीं, उसका नाम असंयोगी तत्त्व है। कर्म, जीव के संयोग में है, यह भी व्यर्थ का कोलाहल है। जीव के संयोग में कर्म को सिद्ध करे तो संयोगीभाव होगा, परन्तु असंयोगीतत्त्व सिद्ध नहीं होगा।

(३३८)

जो जीव, शुद्धता के दो प्रकार अर्थात् दो भेद मानता है, वह जिनेन्द्र के मत के बाहर है। (१) द्रव्यरूप शुद्धता, (२) शुद्ध पर्याय प्रगटी वैसी शुद्धता। यहाँ कहते हैं 'सामान्य शुद्धं विशेष अशुद्धं' क्योंकि विशेष को देखने से अशुद्धता उत्पन्न होती है। 'विशेष अशुद्धं' ऐसा बड़ा बोर्ड लगा देना! जिससे उसे देखने जाना नहीं रहेगा।

(३३९)

सामान्य दो प्रकार के (१) ध्येयरूप अपरिणामी और (२) ज्ञेयरूप परिणामी उपयोग परिणत आत्मा; दोनों अनादि-अनन्त है। प्रथम 'सामान्य' आश्रय योग्य है और दूसरा 'सामान्य' जानने योग्य है।

(३४०)

यह भगवान की वाणी है, हाँ! लिख लेना। समस्त नयज्ञान दोषरूप है, क्योंकि केवलज्ञान में और अनुभवज्ञान में नय नहीं है। नय विकल्प क्रमिक है → इसलिए अपरमार्थ है। जबकि ज्ञान अक्रमिक है → इसलिए परमार्थ है।

(३४१)

ध्रुव को अंशरूप देखे तब तक विकल्प रहते हैं। अब उसे अंशीरूप से देखने से पूरी वस्तु दृष्टि में आती है।

(३४२)

ज्ञान सामर्थ्य → बाहर जाने से रोकती है। ज्ञान स्वभाव → समझे तो अन्तर्मुख हो जाता है। सामर्थ्य की बात बहिर्मुखता नहीं कराती। प्रत्येक बात का हेतु अन्तर्मुखता कराने का ही है।

(३४३)

सब ही प्रतिभासता है - ऐसा स्व-पर प्रतिभासमयी ज्ञान है, तो फिर एक-एक ज्ञेय के सन्मुख होकर एक-एक ज्ञेय को क्यों जानूँ? ऐसा समझकर भी ज्ञान, ज्ञेयों से विमुख होकर आत्मा के सन्मुख हो जाता है। जाननेवाला ही जानने में आ रहा है, वास्तव में पर नहीं; ऐसा करके भी ज्ञान, आत्म सन्मुख हो जाता है। दोनों स्वभाव की समझ, बहिर्मुखता का कारण नहीं होती। इसलिए निष्कर्ष निकला कि प्रतिभास जानने में आये वह दोष नहीं, किन्तु प्रतिभास का लक्ष करना वह दोष है।

(३४४)

किसी पदार्थ को दर्पण के ऊपर लगा दो... फिर उस पदार्थ का प्रतिभास होता है ऐसा उसे थोड़े ही दिखेगा? अब उस पदार्थ को दर्पण से दूर ले जाओ तो पता चले कि पदार्थ का प्रतिभास दिखता है। उसी प्रकार इंद्रियज्ञान पर पदार्थ को चिपकाकर एकत्वपूर्वक जानता है, अतः उसमें यह पता नहीं चलता कि पदार्थों का प्रतिभास जानने में आ रहा है। उसे ऐसा दिखता है कि ये पदार्थ ही जानने में आ रहे हैं। अब जो ज्ञान, ज्ञेय से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान है, वह पदार्थ

से दूर रहकर, ज्ञेय से विमुख रहकर जाननेवाला ज्ञान है। उस ज्ञान में ऐसा पता चलता है कि पर नहीं, परंतु पर का प्रतिभास जानने में आता है।

(३४५)

मैं जाननहार को जानता हूँ। उसमें जाननहार ही जाननेलायक है, वैसा निर्णय तो होता है परन्तु जाननेवाले का जानना प्रगट नहीं होता, क्योंकि वहाँ क्रिया में अहं होता है। क्रिया, क्रिया में अहं करके द्रव्य में अहं कर ही नहीं सकती अर्थात् द्रव्य को जान नहीं सकती। वह तो द्रव्य में अहं करके द्रव्य को जान सकती है। इसलिए यह महामन्त्र है → द्रव्य का जानना लक्षपूर्वक ही होता है और पर्याय का जानना लक्ष बिना ही होता है।

(३४६)

अनुभव के काल में द्रव्य के लक्ष से, द्रव्य-पर्याय में कोई भेद नहीं दिखता। पर्याय मुझे छू लेती है, मैं उसे नहीं छूता। पर्याय मुझे छू लेती है, यह भी कहने की बात है। पर्याय में असल में द्रव्य आता ही नहीं है परन्तु 'मैं द्रव्य' ऐसा ज्ञान होता है। पर्याय क्षणिक उपादान से अपने द्रव्य की रचना करती है। पर्याय ऐसा जाने बिना नहीं रहती कि 'मैं आत्मा हूँ' फिर भी द्रव्य, पर्याय में नहीं आता। पर्याय, द्रव्य का ज्ञान करती है, तो ऐसा कहा जाता है कि अभिन्न है। वास्तव में तो आत्मज्ञान को ही जाना है, परन्तु लक्ष द्रव्य पर है, तब कहा गया कि आत्मा को जाना।

(३४७)

अतीन्द्रिय आनन्द को, ज्ञान जानने के स्वभाव से जानता है। 'जानना' स्वभाव ही है, तो फिर उसे लक्ष करने की कहाँ जरूरत है? 'जानने' के स्वभाव की खबर नहीं है, वहाँ तक निर्मल परिणाम को लक्षपूर्वक जानने जाता था, 'जानने' का स्वभाव मिल गया तो विभाव मिट गया, अर्थात् लक्षपूर्वक परिणाम को जानने का अज्ञानभाव मिट गया।

(३४८)

समयसार, गाथा ५० से ५५ में वर्णादिक भाव को निश्चय से जीव के नहीं, ऐसा नहीं कहा; वहाँ तो कहा है कि स्वभाव से ही वे जीव के नहीं। स्वभाव से ही वे भाव पुद्गल के हैं। फिर गाथा ५६ में कहा → 'निश्चय से पुद्गल के हैं और व्यवहार से जीव के हैं।' वर्णादिक, सर्वथा पुद्गल के परिणाम हैं और जीव उससे सर्वथा रहित है। एकदम स्पष्ट 'जीव' दिखानेवाले, दर्पण समान समयसार का 'जीव-अजीव अधिकार है' यह परम उत्कृष्ट अधिकार है।

(३४९)

तीर्थंकर का कोई द्रव्य होता ही नहीं। तीर्थंकर का द्रव्य अर्थात् पुद्गल का द्रव्य। जीव के संयोग में भी तीर्थंकरप्रकृति नहीं है। जीव के संयोग में उत्पाद, व्ययरूप परिणाम होते हैं। जिसके संयोग में कोई नहीं, उसका नाम ही असंयोगी तत्त्व है। जीव के संयोग में जीव को जानने का ज्ञान है।

(३५०)

स्वद्रव्य में स्वभाव होता है, विभाव होता ही नहीं। चैतन्य का विभाव अर्थात् विशेषभाव, चैतन्य की पर्याय है; इसलिए रागादि भाव, पुद्गल का विभाव तो नहीं, परन्तु पुद्गल का स्वभाव ही है, वैसा माने बिना भेदज्ञान नहीं होगा।

(३५१)

श्रीखण्ड (मिठाई) में जो खट्टापना है, वह (कोई) चीनी का विभाव थोड़े ही है? वह तो दही का स्वभाव है। एक के स्वभाव को, दूसरे पदार्थ का विभाव कैसे कह सकते हैं? वैसे ही राग, पुद्गल का स्वभाव है; वह जीव का विभाव नहीं।

(३५२)

समयसार में अज्ञानी की जो मान्यता है, उसे व्यवहार कहा है। उसको प्रवचनसार में मनुष्य व्यवहार अर्थात् लौकिक व्यवहार में डाला है। जीव को व्यवहार से रागी कहा; परन्तु वहाँ वह रागी नहीं हो जाता; किन्तु व्यवहारनय झूठा हो जाता है। जबकि व्यवहारनय को सच्चा ठहराने से श्रद्धा गलत हो जाती है।

(३५३)

सिद्ध परमात्मा हो गये, उनकी बात ही हम नहीं कहते। 'सिद्ध हो' यह बात कहते हैं। यह निश्चयनय ऐसा है जो परिणाम को छूता ही नहीं। सापेक्ष निश्चयनय से द्रव्यस्वभाव का निर्णय नहीं होता; तो फिर व्यवहारनय से स्वभाव का निर्णय कैसे होगा?

(३५४)

शब्दादि, इन्द्रियगोचर है; ज्ञानगोचर नहीं। शब्दादि के लक्ष बिना शब्दादि को जानता है - यह बात अभी नहीं कहनी। अभी तो यह कहना है कि शब्दादिक के लक्ष से ज्ञान प्रगट ही नहीं होता। यह बात समयसार की गाथा ३७३ से ३८२ तक की दस गाथाओं में है! कि आत्मा, शब्द को सुनता ही नहीं, तो फिर शब्द सुनने से समकित हो जाए - यह बात आयी कहाँ से?

(३५५)

'अनादि' को समझने से निर्विकल्प हो सकता है। 'अनादि' को पकड़ने की ताकत विकल्प में नहीं है। अनादि को पकड़ने अर्थात् ग्रहण करने जायेगा, वहाँ ज्ञान निर्विकल्प हो जाएगा।

(३५६)

इन्द्रियज्ञान, नोकर्म की पर्याय है। राग है, वह द्रव्यकर्म का परिणाम है। खूब संशोधन करने के बाद यह बात कहने में आ रही है।

(३५७)

हे परिणामों! तुम्हें जैसे परिणमना हो, वैसे परिणमो! मैं अपरिणामी होने से, परिणाम को वश में नहीं रखता और मैं परिणाम के वश में नहीं रहता।

(३५८)

संयोग सम्बन्ध, एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध, जानकर पण्डित तो हो गया, किन्तु मेरा उसके साथ जानने का सम्बन्ध नहीं, पर के साथ ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध होता है और सम्बन्ध छूटता है - ऐसा नहीं जाना इसलिए ज्ञानी नहीं हुआ। 'नास्ति सर्वोपि सम्बन्ध' ऐसा जानकर ज्ञानी हुआ।

(३५९)

लक्ष की मुख्यता से छह द्रव्य ज्ञान का विषय नहीं। अब ज्ञान के सविकल्प स्वभाव से जानने की विवक्षा से देखें, तो वह ज्ञान का विषय है।

(३६०)

(अनुभव) से पहले अपेक्षा से समझता है → उसमें यथार्थता है।

(अनुभव) के बाद अपेक्षा से समझते हैं → यह सम्यक् है।

(३६१)

सबको परिणाम की चिन्ता है; अपरिणामी की किसी को पड़ी नहीं है। परिणाम को बिना किये, बिना जाने सम्यग्दर्शन हो जायेगा।

(३६२)

पर्याय के प्रदेश तो भिन्न है हीं, परन्तु असंख्य प्रदेश का भेद वह भी परक्षेत्र है।

(३६३)

वह आँख (पर्यायार्थिक चक्षु) कभी भी खोलने लायक नहीं, क्योंकि वह अनन्त दुःखों का कारण है। आत्मा को देखनेवाली आँख अनन्त सुखों से भरी हुई है।

(३६४)

ज्ञानपर्याय, राग को कहती है कि पहले तू मेरे में प्रवेश करके तो देख! फिर द्रव्य में जाना। पहले लक्ष्मण को जीत, फिर राम के पास जाना।

(३६५)

इस निजपरमात्मा का दर्शन करोगे न! तो बाहर के भगवान के दर्शन भी नहीं करने पड़ेंगे। मैं परमात्मा हूँ – ऐसा भाव क्यों नहीं उठता!?

(३६६)

जीव को कर्म का उदय आता ही नहीं। उसको तो ज्ञान का उदय आता है। उस ज्ञान में ज्ञायक ही जानने में आ रहा है।

(३६७)

ज्ञान के तीन धर्म समझने से ज्ञान का स्वरूप एकदम स्पष्ट हो जायेगा (१) प्रतिभास, (२) लक्ष, (३) ज्ञानत्व। आपको सब अपेक्षा समझ में आ जायेगी और आप काफी आगे बढ़ जाओगे।

(३६८)

प्रश्न : ज्ञान पर को क्यों नहीं जानता?

उत्तर : (१) इन्द्रियज्ञान का, उपयोग में अभाव है, इसलिए (२) ज्ञान में समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय का प्रतिभास वर्तता है, इसलिए (३) आत्म-अनुभव के काल में ज्ञान परिणाम का भेद नहीं भासता, इसलिए।

(३६९)

प्रतिभास होता ही नहीं, और दिखा भी नहीं - यह वचन, द्रव्यदृष्टि करानेवाला है, पर्याय ही नहीं दिखती तो प्रतिभास कैसे दिखेगा?

(३७०)

द्रव्य, निश्चय है और उसका अनुभव, वह व्यवहार - बस, ज्ञानी का निश्चय-व्यवहार प्रमाण में ही है। पर्याय से भेदज्ञान होता है तो ध्येय दृष्टि में आया। ज्ञेय से भेदज्ञान होता है तो ज्ञेयरूप आत्मा, ज्ञान में आया।

(३७१)

संयमलब्धि के स्थान, क्षपक श्रेणी, यथाख्यातचारित्र, जीव में नहीं है। यह सीधी सीमन्धर प्रभु की वाणी है। सूक्ष्म बात → गुणस्थानादि कार्य, पुद्गलकर्म का है। आकाश के एक प्रदेश पर दोनों को देखकर, इसको ऐसी भ्रान्ति हो गयी कि जीव और गुणस्थान के एक प्रदेश हैं। वास्तव में दोनों वस्तुएँ अलग-अलग हैं।

(३७२)

ये भाव पुद्गल के हैं अर्थात् जीव के नहीं हैं। आत्मा की अनुभूति से भिन्न है, इसलिए वे दिखते नहीं हैं। जो ऐसा मानता है कि वे पुद्गल हैं, उसे वे जीव के भाव नहीं दिखते। भिन्नता का अर्थ → दिखते ही नहीं। 'भिन्नता' का गुप्त रहस्य बाहर आया है। जीव, अजीव की जुदाई का एक न्याय यह है कि → जीव अपरिणामी, पुद्गल परिणामी। यह बात रटने लायक है कि ये भाव, जीव के नहीं हैं।

(३७३)

'पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध को' नय कहने में इष्टफल (भेदविज्ञान की) हानि होती है, इसलिए यह नयाभास है। मैं पर को जानता हूँ → ऐसा माननेवाला नयाभास में पड़ा है। वह व्यवहार में भी नहीं आया कि 'मुझे ज्ञान जानने में आता है।'

(३७४)

जो स्याद्वादी है, वह स्वभाव को आगे करता है और जो स्याद्वाद को नहीं जानता, वह स्याद्वाद को आगे करता है।

(३७५)

आचार्यदेव की बहुत-बहुत कृपा दृष्टि हो गई। अनन्त काल से उसने अजीव को जीव के परिणाम माने हैं; इसलिए कहते हैं वे जीव के परिणाम नहीं, वे तो अजीव हैं। जीव परिणमता ही नहीं; यह बात समझ में आवे तो द्रव्यदृष्टि हुए बिना रहती ही नहीं।

(३७६)

गुणभेद होने के बावजूद दिखता नहीं। जबकि पर्याय तो द्रव्य में है ही नहीं, इसलिए दिखने का प्रश्न ही नहीं।

(३७७)

'कथंचित्' व्यवहार की बात में लगाने का है, निश्चय की बात में नहीं। व्यवहार की बात में कथंचित् लगाने से... निश्चय का जन्म होता है और निश्चय की बात में कथंचित् लगावे तो व्यवहार का जन्म होता है; इसलिए कथंचित् का प्रयोग जहाँ-तहाँ करने योग्य है नहीं।

(३७८)

मिथ्या एकान्त का अभाव → सम्यक् एकान्त से अथवा अस्ति-नास्ति अनेकान्त से ही होता है।

(३७९)

प्रश्न : अभेद का भेद क्या?

उत्तर : जीव तो अभेद स्वभाव से विराजमान है। उसका कोई भेद हमें दिखता ही नहीं।

प्रश्न : तो अभेद खाली है?

उत्तर : अभेद में भेद देखने जाओगे तो दृष्टि खाली रहेगी। 'मैं अभेद ही हूँ' उसमें दृष्टि भर जायेगी।

(३८०)

आप राग को उड़ाते हो? नहीं, हम उसे उसके स्थान में स्थापते हैं और आत्मा में से ऊथापते हैं।

(३८१)

साधक का एक ही भाव है; कर्ता नहीं है, मात्र जानता ही है। जाननेवाला और करनेवाला वैसे दो भाव हमारी दुकान में नहीं हैं। हमारे यहाँ एक ही भाव है। 'मैं जाननहार हूँ।' हमारा दूसरा भाव नहीं है, कहें कहाँ से कि हम करने वाले हैं!

(३८२)

साधक कहते हैं कि आप साधक को कर्ता देखोगे तो आपको साधक का व्यवहार श्रद्धान भी नहीं होगा। साधक भी साधक के व्यवहार का निषेध करके, साध्य की प्राप्ति के लिए अन्दर चले जाते हैं। मोक्षमार्ग में व्यवहार का काम ही क्या है?

(३८३)

इन्द्रियज्ञान से जितना बुरा होता है, उतना राग से बुरा नहीं होता, क्योंकि राग तो उसे दुश्मन दिखता है, जबकि इन्द्रियज्ञान तो उसे मित्र दिखता है।

(३८४)

आत्मा, आत्मा को जाने... ऐसा सामर्थ्य सब आत्माओं में है। आत्मा, आत्मा को न जाने... ऐसा एक समय भी नहीं है। आत्मा, आत्मा को ज्ञात न हो - ऐसा एक समय नहीं... इसलिए आत्मा निर्मूढ़ है।

(३८५)

पर को जानने से ज्ञान होता ही नहीं; उल्टा अज्ञान होता है। वैसे आत्मा, आत्मा को जानने से पर को जानने की जिज्ञासा मर जाती है।

(३८६)

(१) पानी की पर्याय को दल से अलग देखोगे तो उसमें वृक्ष दिखेगा, उसको दल से अभेद देखोगे तो पानी दिखेगा। पर्याय चक्षु को बन्द करो तो वृक्ष या वृक्ष का प्रतिबिम्ब दिखता नहीं है, सिर्फ पानी दिखता है। भेद जानने में आवे तो पर जानने में आवे; अभेद जानने में आये तो पर जानने में आता ही नहीं। (२) भेद, पर को प्रसिद्ध करता है; अभेद, पर को प्रसिद्ध नहीं करता। अभेद तो अभेद को प्रसिद्ध करता है।

(३८७)

राग यहाँ (द्रव्य में) नहीं है, तो वहाँ (पर्याय में) भी नहीं है, फिर बाहर द्रव्यकर्म में भी नहीं है, तो कहाँ गया? अवस्तु हो गया। इसलिए राग जिसमें नहीं है, वैसे द्रव्य को देख न!

(३८८)

(१) एकदम अन्दर के उपचार का निषेध कर दिया, 'जानने में गर्भित कर्तापना नहीं है।' बहुत, बहुत... बहुत... बहुत... ही गम्भीर खुलासा पूज्य गुरुदेव ने निकाला है। (२) पर्याय को जानता तो है न? 'यह कथनमात्र है', लक्ष की मुख्यता से तो त्रिकाली को ही जानता है। इस बात से क्षायिक समकित हो जायेगा। कथन तो दो प्रकार के आयेंगे, किन्तु उसमें से निश्चय निकालना वह अपना कार्य है। यह अन्दर अनुभव में से निकली हुई गम्भीर बात है। जानने का हुआ ऐसा है! परन्तु जानने का किया - ऐसा सम्यग्ज्ञान में आता नहीं है, क्योंकि वस्तु सहज है।

(३८९)

व्यवहारीजन कहते हैं कि व्यवहार से कुम्हार घड़े को करता है; लोकोत्तर पुरुष कहते हैं कि व्यवहार से माटी घड़े को करती है।

(३९०)

पर से हटकर... मुझे ज्ञानपर्याय जानने में आ रही है, उसमें आ जाएगा तो ज्ञायक में आ जाएगा। यह ज्ञानप्रधान बात बहुत सरल है, जबकि दृष्टिप्रधान बात थोड़ी कठिन है।

(३९१)

व्यवहार सर्वथा झूठा है। अरे! वह सर्वथा झूठा है, वैसा कहने के लिये भी हमें रुकना नहीं है।

(३९२)

नौ की सिद्धि के लिए 'नय' है। स्वभाव की सिद्धि करने के लिए 'नय' नहीं है। एक जीव, नव अजीव बस। निश्चय-व्यवहार का कुछ नहीं। इस तरह से ही पक्षातिक्रान्त हुआ जाता है।

(३९३)

जानने की क्रिया को आत्मा भले ही न करे, परन्तु जानने की क्रिया को जानने की क्रिया तो करे या नहीं? पर्याय सहज होती है, वह उसका स्वकाल है। कर्ता, कर्म पर्याय में है। 'हुआ' वैसा जानने में आया परन्तु मैंने ज्ञान की पर्याय को किया, वैसा मुझे जानने में नहीं आया। ज्ञान

की पर्याय को करे और जाने; दोनों सद्भूत व्यवहार हैं, उसका निषेध करके निश्चय में ले जाते हैं। यह अन्तिम कोटि की बात है। ज्ञान का भी कर्ता नहीं है।

(३९४)

पर्याय को निरपेक्ष देखने से सम्यग्दर्शन होता है → यह परम सत्य बात है। व्यवहारनय से जाने हुए नवतत्त्व, समकित का निमित्तकारण भी नहीं हैं। भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व, निमित्तकारण हैं। नौ तत्त्वों को व्यवहार से जानता है, इसलिए आत्मा दिखता नहीं है। उन्हें निश्चयनय से जाने तो शुद्धात्मा जानने में आ जायेगा।

(३९५)

परिणाम को ज्ञेय बनाएगा तो वे कर्म बनेंगे, किन्तु ज्ञेय नहीं होगा। पर्यायार्थिक चक्षु को 'सर्वथा' बन्द कर दो। अद्भूत से अद्भूत बातें हैं।

(३९६)

दृष्टि के विषय का दान भी कुन्दप्रभु ने दिया है... और पर्याय का यथार्थ ज्ञान भी कराया है। अयथार्थ का परिहार भी कराया है।

(३९७)

परिणाम का (निरपेक्ष) स्वभाव ही ऐसा है कि उसे आत्मा के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है और (जड़) कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है।

(३९८)

'यह धर्मास्तिकाय है' ऐसा जानने जाता है, तब यह आत्मा, अपने शुद्धात्मस्वरूप को भूल जाता है। इस सूत्र को स्वर्ण से मढ़ने जैसा है। कुन्दकुन्ददेव का तीसरा नाम यथार्थ है। (स्व को जानने का छोड़कर) धर्मद्रव्य को जानूँ, यह अध्यवसान है। थोड़ा लिखा बहुत जानना।

(३९९)

समयसार, गाथा ११ में 'द्रव्य पर्याय में नहीं है' इसलिए कर्ता-अकर्ता का प्रश्न रहता नहीं है। जबकि गाथा १३ में, परिणाम हैं, परन्तु उस पर्याय का करनेवाला आत्मा नहीं, क्योंकि पर्याय 'होने योग्य' होती है।

(४००)

सम्यग्ज्ञान नया होता है, ज्ञान का भान नया होता है परन्तु ज्ञान नया नहीं होता। यदि ज्ञान को नया मानो तो ज्ञान का अभाव सिद्ध होने से आत्मा का अभाव सिद्ध हो जायेगा।

(४०१)

संसार से तैरने की बात → इन्द्रियज्ञान, ज्ञान नहीं है - ऐसा जाने तो बाहर में किसी की महिमा ही नहीं आयेगी। पंच परमेष्ठी की महिमा नहीं आयेगी, क्योंकि ज्ञान उन्हें विषय बनाने को तैयार नहीं है, तो महिमा कहाँ से आयेगी? अद्भुत बात है।

(४०२)

'मैं पर को जानता हूँ' ऐसा माननेवाला लक्षण में नहीं आया; इसलिए वह आत्मा में नहीं आता। इन्द्रियज्ञान में उलझ बैठा है, इसलिए ऐसा लगता है कि मुझे आत्मा जानने में नहीं आता, परन्तु उपयोग में आ जाए, तो लगेगा कि आत्मा ही जानने में आता है।

(४०३)

कर्ता का उपदेश तो सब जगह मिलेगा, किन्तु 'केवल ज्ञाता' है, यह उपदेश तो विरल है। कर्ताबुद्धिवाले को कर्ता का उपदेश नहीं दिया जाता है, यह उपदेश की पद्धति है।

(४०४)

कर्म के क्षय से जो भाव हुआ हो, उसे क्षायिकभाव कहते हैं। आत्मा के आश्रय से हो, उसे क्षायिकभाव नहीं कहते। यह बारीक बात है।

(४०५)

पर्याय, महा सामर्थ्यवान है, इसलिए मुझे उसको कुछ देखने की जरूरत रहती नहीं है। जैसे समर्थ पुत्र हो तो व्यवसाय देखने की जरूरत नहीं रहती।

(४०६)

एक का ज्ञान (लक्षपूर्वक) हुआ नहीं, और कहते हैं दो का (द्रव्य-पर्याय का) ज्ञान तो होता है? ज्ञानी होने के पहले यह एक भूल है।

(४०७)

स्वपरप्रकाशक (लक्षण), सम्यग्ज्ञान - मिथ्याज्ञान दोनों में होता है, इसलिए सम्यग्ज्ञान का लक्षण एकान्त से स्वप्रकाशक ही है।

(४०८)

लिख लो → कथन सापेक्ष होते हैं, परिणमन निरपेक्ष होता है, इसलिए निरपेक्ष, निश्चय और सापेक्ष, व्यवहार।

(४०९)

'मैं अकर्ता हूँ' यह पक्का हो जाने के बाद 'होने योग्य होता है' यह पहलू यदि कच्चा हो तो भी समकित नहीं होगा। होने योग्य होता है - ऐसा जानकर कोई अन्दर में जाये तो उसे क्षायिक समकित हो जाता है। अकर्ता तो है, किन्तु पर्याय को कथंचित् करे, ऐसी विपरीतता थी, वह विपरीतता निकल गयी। 'होता है' उसे करे कौन?

(४१०)

उसे प्रमाण का पक्ष है, इसलिए नय का पक्ष रह गया, क्योंकि नय सापेक्ष ही होता, है, नय निरपेक्ष नहीं होता। जबकि स्वभाव निरपेक्ष ही होता है और सापेक्ष नहीं होता। अनुभव निरपेक्ष ही होता है, सापेक्ष नहीं होता।

(४११)

विभक्तपने में से विभक्तपना आता है, जुदाई विचारने से जुदाई आती है।

(४१२)

इन्द्रियज्ञान, आत्मा से सर्वथा भिन्न है, इसलिए उसे जानने से आत्मा नहीं जानने में आता। उपयोग कथंचित् अभिन्न है, उसे जानने पर आत्मा जानने में आता है (यह उपायान्तर से कथन है।)

(४१३)

जैसे पर्याय को परद्रव्य कहा है, वैसे इन्द्रियज्ञान को पौद्गलिक कहा है, यह पराकाष्ठा का शब्द है।

(४१४)

निश्चय का विकल्प तो सच्चा है न? परन्तु... विकल्प सच्चा है न! उसमें ज्ञान सच्चा (सम्यक्) कहाँ हुआ? दो नय का तुझे ज्ञान नहीं हुआ, परन्तु दो नय के विकल्प की कर्ताबुद्धि हुई है।

(४१५)

नयों का सहारा पहले ही छोड़ देना। स्वभाव से विचारता है, वह अनुभव के रास्ते पर है। नय से विचारते हैं, वे अनुभव के रास्ते पर नहीं हैं। अभी तो निरपेक्ष वस्तु के पक्ष में आया नहीं।

(४१६)

शुभभाव करते-करते धर्म होता है - ऐसा माननेवाले ज़हर पीते हैं। पहले तो शुभभाव का करना स्वभाव में ही नहीं है। दूसरा, वह अधर्म में धर्मबुद्धि से धर्म होता है, वैसा मानता है।

(४१७)

प्रश्न : नय का तुझे ज्ञान नहीं है, तो तुझे अनुभव कैसे होगा?

उत्तर : मेरे में नय नहीं है, वैसा मैं जानता हूँ; इसलिए मुझे अनुभव होगा। ज्ञान तो है और उस ज्ञान द्वारा आत्मा जानने में भी आ रहा है, इसलिए उस ज्ञान द्वारा आत्मा जानने में आ जायेगा।

(४१८)

आत्मा, स्वभाव से भगवान है - यह सर्वोत्कृष्ट बात है; इसमें नय का विकल्प छूट जाता है। ज्ञायक को सहजरूप स्वीकारना, कोई नय का विकल्प उसमें नहीं लगाना, वह वीतरागी सरलता है।

(४१९)

एक नय से देखोगे तो कर्ता लगेगा, दूसरे नय से देखोगे तो उसका अकर्ता लगेगा; परन्तु स्वभाव से अकर्ता है, वैसे देख लो न! निश्चयनय से अकर्ता है, ऐसा किसी ने न सुना हो, तो भी अनुभव हो जाता है। 'निश्चयनय से अकर्ता हूँ' ऐसा लेने से अनुभव अटकता है।

(४२०)

मूल सिद्धांत → जो जिससे तादात्म्य होता है, वह उसकी ही प्रसिद्धि करता है, जो जिससे भिन्न होता है, वह उसकी प्रसिद्धि तीन काल में नहीं करता।

(४२१)

घड़े की जो अंधकाररूप पर्याय थी, वह पर्याय स्वयं प्रकाशरूप हुई है। दीपक के प्रकाश ने उसे प्रकाशित नहीं किया। प्रकाश ने उसे प्रसिद्ध नहीं किया, यह सूक्ष्म बात है। घड़े में उसका प्रकाश्य धर्म है, इसलिए वह प्रसिद्ध हुआ है। वैसे आत्मा अपना ज्ञेयत्वधर्म पर को नहीं देता। यदि देवे तो पर के साथ ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध होगा। जैसे रेडियमवाली प्रतिमा, प्रकाश के अभाव में स्वयं प्रकाशित होती है; वैसे ही आत्मा अपने प्रकाश में स्वयं प्रकाशित हो रहा है।

(४२२)

ज्ञेय-ज्ञायक का व्यवहार = संसार। वह छूट जाता है। यदि वह निश्चय होवे तो कभी भी छूटेगा नहीं। आत्मा को जानते पर का जानना बन्द हो जाता है। जो बन्द हो जाये, वह स्वभाव कहाँ से हुआ?

(४२३)

(१) आत्मा को जानते ही आत्मा जानने में आता है; पर को जानने से आत्मा जानने में नहीं आता। (२) आत्मा को जानने से आत्मा ही जानने में आता है, पर नहीं → इसका नाम आत्मदर्शन है।

(४२४)

इस विश्व में एक ही ज्ञेय है; दूसरा मुझे जानने में नहीं आता, इसलिए वह मेरा ज्ञेय नहीं है। जो जानने में नहीं आता... वह हो या न हो! उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं।

(४२५)

ज्ञान आत्मा को जानते हुए ही प्रगट होता है। यदि नय बीच में डालेगा तो ज्ञान, आत्मा को जानता है, यह बात ख्याल में नहीं आयेगी। निश्चयनय से ज्ञान आत्मा को जानता है, तो वह बात झूठी हो जायेगी! कि झूठी ही है? नय के विकल्प झूठे हैं, क्योंकि निश्चयनय भी साधक नहीं, बाधक है। नय का प्रयोग, नय को छोड़ने के लिये है।

(४२६)

ज्ञान की पर्याय के दो भाग हैं - (सामान्य उपयोग और इन्द्रियज्ञान) इसलिए तो भेदज्ञान है।

(४२७)

आचार्यदेव ने सेटिका की गाथा में अपना अनुभव उड़ेल दिया है 'ज्ञायक नहीं त्यम् पर तणो', 'पर को जाने वह ज्ञायक नहीं है, आपतैं ही ज्ञायक हो।'

(४२८)

ज्ञानी कैसे हो सकते हैं? और ज्ञानी होने के बाद क्या? यह दो विभाग स्वयं को समझना है। खूब विवेक करना। ज्ञानी कैसे हो सकते हैं, उस लाईन पर चलना। ज्ञानी होने के पहले ज्ञानी के व्यवहार को आगे करते हैं, यह बड़ी भूल है।

(४२९)

(१) व्यवहार से ज्ञान पर को जानता है, (२) साधक होने के बाद ज्ञानी पर को जानते हैं - इन दो बातों को बिल्कुल याद नहीं करना। मैंने ऐसा लिया ही नहीं। क्योंकि अज्ञानी को तो इतना ही चाहिए था। जो अतीन्द्रियज्ञान है, वह व्यवहार से पर को जानता नहीं और निश्चय से स्व को जानता नहीं; वो तो स्वभाव से ही स्व को जानता है और इन्द्रियज्ञान स्वभाव से ही पर को जानता है।

(४३०)

पर्याय वस्तु है या अवस्तु? ज्ञान की अपेक्षा से वस्तु कही, क्योंकि पर्याय का कर्ता पर्याय है। दृष्टि अपेक्षा से तो वह अवस्तु है।

(४३१)

अतीन्द्रियज्ञान के साथ का इन्द्रियज्ञान है, वह मिथ्याज्ञान नहीं है और आत्मज्ञान भी नहीं। समकित हो जाने के बाद भी वह आत्मज्ञान नहीं। पर्यूषण के बड़े दिनों में तो ऊँची बातें ही होंगी न!

(४३२)

वाह प्रभु! आपका अनन्त उपकार → इन्द्रियज्ञान से आत्मा का ज्ञान सर्वथा भिन्न है, ऐसा बताया। इन्द्रियज्ञान से अलग हुआ अर्थात् उसका मोक्ष हो गया।

(४३३)

पर को करता हूँ और जानता हूँ, इसमें ज्ञान आच्छादित हो जाता है। जाननेवाले को जानता हूँ → उसमें ज्ञान खिल जाता है।

(४३४)

निमित्त का अंतर जहाँ बताया; वहाँ तो निमित्त से चिपक गया। निमित्त के लक्ष से तीन काल ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान, उपादान के लक्ष से ही होता है।

(४३५)

अनंतकाल से तो 'पर को जानता हूँ' - ऐसा अभ्यास करता है। अब छह महीने तो यह अभ्यास कर कि - मैं पर को नहीं जानता। छह महीने में अनुभव नहीं होवे, तो फिर तुम जो कर रहे हो, वह करते रहना।

(४३६)

जिससे ज्ञान होता नहीं, उसे यह ज्ञान जानता भी नहीं और जिससे ज्ञान होता है, उसे ही यह ज्ञान जानता है। ज्ञान पर को जानता है, वह बात अज्ञानी के घर में है। ज्ञानी के घर में नहीं।

पर नहीं जानने में आता, नहीं जानने में आता, नहीं जानने में आता... ऐसा मैं लाख बार कहता हूँ।

(४३७)

यह भी भूल है कि → भेदों को समझने से अभेद समझ में आयेगा। भेद को ग्रहण करने से अभेद समझ में नहीं आयेगा। जब तक भेद का निषेध नहीं करे... तब तक अभेद दृष्टि में नहीं आयेगा।

(४३८)

दृष्टि में 'कथंचित्' लगावे और ज्ञान में 'सर्वथा' लगावे तो दृष्टि या ज्ञान दोनों प्राप्त नहीं होते।

(४३९)

आत्मा (परिणाम से) रहित नहीं रहे तो अनुभव का विषय नहीं रहेगा और (निर्मलपरिणाम से) सहित नहीं होवे तो अनुभव नहीं होगा। इसलिए स्याद्वाद में अनुभव का विषय और अनुभव वैसा का वैसा ही रहता है। फिर भी इतना याद रखना कि 'कथंचित्' ही सहित होता है।

(४४०)

पर को जानता नहीं → उसमें पर के लक्ष का अभाव हुआ।
पर जानने में नहीं आता → उसमें पर के प्रतिभास का तिरोभाव हुआ।

(४४१)

ज्ञान की पर्याय को भेद से देखो तो स्वपरप्रकाशक का व्यवहार दिखेगा। ज्ञान की पर्याय को अभेद से देखो तो स्वप्रकाशक और निश्चय स्वपरप्रकाशक दिखेगा।

(४४२)

स्वपरप्रकाशक जो (अज्ञानी का है) वह लक्षण नहीं किन्तु लक्षणाभास है। वह आत्मज्ञान तो है ही नहीं, किन्तु वह सम्यग्ज्ञान भी नहीं। (साधक का इन्द्रियज्ञान सम्यग्ज्ञान)।

(४४३)

स्वपरप्रकाशक देखने बुद्धि बिगड़ी। यदि लक्ष चेहरे पर गया तो दृष्टि में दर्पण का अभाव हो गया और ज्ञान में दर्पण गौण हो गया।

(४४४)

निर्विकल्प के काल में... चेहरे का प्रतिभास होने पर भी, दृष्टि में उसका अभाव है, क्योंकि दृष्टि में दल है। अब सविकल्प के समय में ज्ञान में चेहरे का तिरोभाव रहता हुआ गौण हो जाता है।

(४४५)

साधक का जो (इन्द्रियज्ञान) सम्यग्ज्ञान है, उसे ही अज्ञानी ने ज्ञान मान लिया है। परन्तु साधक का अतीन्द्रियज्ञान (परलक्ष अभावत्) उसकी तो अज्ञानी को खबर ही नहीं है।

(४४६)

सच्चा मोक्षस्वरूप तो मैं ही हूँ। यदि मैं दो प्रकार के मोक्ष को देखूँ तो वे दो प्रकार सम्यग्ज्ञान का विषय हैं। सम्यग्ज्ञान तो मुझे नहीं है। दृष्टि सम्यक् होते ज्ञान सम्यक् होता ही है। अब मैं प्रथम से ही ऐसा जानूँ कि मोक्ष दो प्रकार के हैं, तो पहले पर्यायदृष्टि के संस्कार अनादि के हैं, इसलिए उसे जानने पर जाने हुए का श्रद्धान हो जाता है।

(४४७)

दृष्टि में एकान्त होता है। ज्ञान भले ही अनेकान्त की बात करता हो, किन्तु दृष्टि में मिथ्या एकान्त है तो वह ज्ञान भी मिथ्या एकान्त को प्राप्त हो जाता है। इसलिए पर्यायदृष्टि छूटे बिना, द्रव्यदृष्टि हुए बिना, द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान होता ही नहीं। द्रव्य-पर्याय के बीच के भेदज्ञान बिना, द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु का ज्ञान नहीं होता, यह सूत्र है।

(४४८)

जिसको शक्तिरूप मोक्ष की खबर लग गई, उसे व्यक्तिरूप मोक्ष होने में कितनी देर लगती है? वह तो चुटकी में होता है। व्यक्तिरूप मोक्ष भी इतना देखता है कि 'मैं शाश्वत मोक्षस्वरूप हूँ।' आत्मार्थी को ऐसा लगेगा कि अरे! मुझे तो इस बात की खबर ही नहीं थी कि 'मैं अभी मोक्षस्वरूप हूँ!' इस जगत में घोषणा करो कि - यह आत्मा प्रथम से ही मुक्तस्वरूप रहा है।

(४४९)

मोक्षस्वरूप परमात्मा को देखने से मोक्ष की इच्छा भी वास्तव में नहीं रहती। यह सिर्फ कहने के लिये नहीं है। तुम मोक्ष से भी महान तत्त्व हो। जिससे तुम रहित हो, उसे करने की भावना करता है? तुझे मोक्ष चाहिए? उसमें आत्मघाती महापापी हुआ। मोक्ष से रहित मेरा स्वरूप है → यह मूल स्वभाव की बात है। जो स्वभाव से ही मोक्षस्वरूप हो, वह बन्धस्वरूप कैसे हो सकता है? और उसे मोक्ष की क्या जरूरत है?

(४५०)

जैसे तुम्हारे सामने ही कोई बालक जन्म लेकर मर जाए; ऐसा तुम्हें पर्याय के सम्बन्ध में दिखता है?

(४५१)

स्वभाव, स्वभाव से ही निरपेक्ष है। जबकि नय, स्वभाव से ही सापेक्ष है। इसलिए जो स्वभाव को स्वभावरूप स्वीकारता है, वह नयातिक्रान्त हो जाता है और जो नयों को सम्यक् करने जाता है, वह स्वभाव से दूर हो जाता है। यह सूत्र है → नयातिक्रान्त हुए बिना नयों का ज्ञाता नहीं हो सकता।

(४५२)

आत्मा ज्ञान शक्तिमय है, इसलिए जाननेवाला है, करनेवाला नहीं। आत्मा ज्ञेय शक्तिमय है, इसलिए वह ही जानने में आता है, पर नहीं जानने में आता। तू दोनों शक्ति का विचार कर।

(४५३)

प्रश्न : हमारा उपयोग आत्मा में लगता ही नहीं?

उत्तर : अरे... अरे...! ऐसा जान... कि मेरा उपयोग आत्मा से कभी छूटता ही नहीं है... ऐसा क्यों नहीं मानता?

प्रश्न : उपयोग, इन्द्रिय विषयों में चला जाता है... तो क्या करना?

उत्तर : वह उपयोग मेरा नहीं है, ऐसा भेदज्ञान करना।

(४५४)

'कर्ता हूँ' - ऐसा प्रतिभास, अकर्ता के प्रतिभास को ढँकता है, किन्तु अकर्ता को नहीं ढँकता। 'कर्ता का प्रतिभासता है, कर्ता होता नहीं है।' वाह रे वाह! अमृतप्रभु! आपको अनन्त अनन्त प्रणाम! होते हुए रागादि का कर्ता कौन है? और मैं कौन हूँ? उसकी तुझे खबर पड़ी।

(४५५)

जीव को परिणाम नहीं होते → उसमें सब संशय दूर हो गये। यह जीव के परिणाम, यह जीव के परिणाम... वैसा संशय अब नहीं होता।

(४५६)

परिणाम तो सुधारने चाहिए न? परन्तु तेरे में परिणाम हैं या नहीं? यह तो पहले निश्चित कर! तू तो अपरिणामी है।

(४५७)

आत्मा में भावकर्म के उदय के स्थानों का अवकाश नहीं है। आत्मा में मिथ्यात्व उत्पन्न हो जाएगा तो! ऐसी शंका नहीं करना।

(४५८)

महाभाग्य से यह बात सुनने में मिलती है → विशेषों का जो अज्ञात है, वह छूटता है। विशेषों का जो ज्ञात है, वह बँधता है। (यह बात इष्टोपदेश में है।) व्यवहार के पक्षवाले को ऐसा लगता है कि यह तो सिर्फ निश्चय की बात करता है; पर्याय की बात करते ही नहीं!

(४५९)

'अर्थविकल्पात्मक ज्ञानं प्रमाणम्' - ये उपचरित सद्भूत व्यवहार है। स्व, पर को जानता है, इसलिए ज्ञान प्रगट होता है - ऐसा नहीं। सम्यग्ज्ञान सत् है, आत्मा के आश्रय से नहीं होता। ज्ञानपर्याय को भूतार्थनय से जान!

(४६०)

भावना का मेरे में अभाव है। 'आत्मभावना कर' यह तो उपदेशबोध है। इस बात को तुम तुम्हारे ऊपर ओढ़ मत लेना, क्योंकि यह तुम्हें कहते नहीं है। जो तुम्हारे में नहीं है, उसे तुम करोगे कैसे?

(४६१)

(१) तुझे, राग का कर्ता बताया; इसलिए 'मैं कर्ता हूँ' - ऐसी बुद्धि छोड़ दे।

(२) तुझे, पर का जाननेवाला बताया, इसलिए 'मैं पर को जानता हूँ' - ऐसी बुद्धि छोड़ दे।

(३) आत्मा को जाननेवाला (अतीन्द्रियज्ञान) बताया, इसलिए 'मैं आत्मा को जानता हूँ' - ऐसी बुद्धि छोड़ दे!

(४६२)

अपरिणामी की दृष्टि होते ही, परिणामी अपने से होता है और परिणाम के लक्ष के बिना, अपने से जानने में आता है। निर्विकल्प में, 'परिणामी' को लक्ष बिना जानता था। सविकल्प में, एक अपेक्षा से, वहाँ लक्ष जाता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।

(४६३)

ज्ञान और (पर) ज्ञेय को बोध्य - बोधक सम्बन्ध कहना, नयाभास है। कठोर बात है, तो ही अन्दर जा सकोगे। यह बात निश्चय प्रधान है। प्रवचनसार में (ज्ञान को लोकालोक प्रमाण कहा) यह बात व्यवहार प्रधान है।

(४६४)

किसी भी दिन ऐसा न मानना कि - जीव श्रेणी चढ़ा, फिर गिरा; क्योंकि देखनेवाला पुरुष (आत्मा) ऐसा देखता है कि → परिणामधर्म की सीढ़ी चढ़ा और गिरा; मैं तो उससे अलग हूँ। परिणाम से इतनी जुदाई वर्तती है। 'मैं परिणमता ही नहीं' फिर ऐसा परिणमना या वैसा नहीं परिणमना, यह सवाल ही नहीं रहता।

(४६५)

तू भी भगवान, मैं भी भगवान। तू भी ज्ञाता, मैं भी ज्ञाता। तू भी अकर्ता, मैं भी अकर्ता।

(४६६)

जानने की दिशा बदलो → सामान्य आत्मा जानने में आ रहा है। पहले सामान्य धर्म में अर्थात् उपयोग में आत्मा जानने में आता है, फिर विशेष धर्म में (शुद्धोपयोग में) आत्मा जानने में आता है।

(४६७)

समयसार, गाथा १८१, १८२ में वस्तु के स्वरूप का वर्णन किया है। आत्मा में क्या होता है और आत्मा के बाहर क्या होता है - इस रीति से पहले वस्तुस्वरूप ख्याल में आवे... फिर अनुभव होता है। मेरे ज्ञान में ज्ञायक जानने में आ रहा है और कुछ जानने में नहीं आता; तब परोक्ष अनुभूति होती है।

(४६८)

त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त → ज्ञान, स्व के लक्ष से ही होता है; अज्ञान, पर के लक्ष से ही होता है।

(४६९)

लायक जीव को सम्यग्दर्शन का हेतु हो जाये, अथवा उसकी पात्रता हो जाये, वैसा यह शुद्धभाव अधिकार है। कुन्दप्रभु की वाणी का बहुमान आये, वह भी पात्र जीव है।

(४७०)

आत्मा, पर को जानता है - ऐसा माननेवाला दिगम्बर जैन नहीं। कारण कि उसमें मिथ्यात्व का दोष लगता है। लिख लेना → पर को जानता नहीं और पर जानने में नहीं आता → इसमें अनुभव होता है।

(४७१)

द्रव्य के साथ स्वस्वामी सम्बन्ध जोड़ना, पर्याय के साथ स्वस्वामी सम्बन्ध तोड़ना - इसका नाम धर्म है।

(४७२)

भव के अन्त की बात है। तीक्ष्ण बात है। आत्मा ज्ञेय होते ही इन्द्रियज्ञान का लक्ष छूट जाता है, अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक का व्यवहार भी छूट जाता है।

(४७३)

परिणाम कहो तो कथंचित् भिन्न, अभिन्न आ जाता है। किन्तु वह परद्रव्य है, तो 'सर्वथा' भिन्न आ जायेगा। पर्याय परद्रव्य है, उसमें तो मेरा अनन्त हित भरा है। 'भगवान आत्मा' को बन्ध होता है - ऐसा विचारने से पाप लगता है।

(४७४)

सात तत्त्व का श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन, यह निमित्त का कथन है।

शुद्धात्मा का श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन, यह उपादान का कथन है। नवतत्त्व को भूतार्थ से जानना, वह सम्यग्दर्शन में निमित्त कहा। निमित्त की व्याख्या → जिसका लक्ष छूटता है, उसे निमित्त कहते हैं।

(४७५)

संवर तो ज्ञानचेतना है और मैं तो ज्ञान हूँ → यह भेदज्ञान की पराकाष्ठा है। ज्ञानचेतना नई प्रगट होती है, 'ज्ञान' नया प्रगट नहीं होता।

(४७६)

जहाँ बन्ध-मोक्ष होता है, वहाँ होने योग्य होता है; किन्तु मेरे में कुछ नहीं होता। इस पहलू से अपने को बंध रहित जानता है। दूसरे पहलू से बन्ध 'होने योग्य होता है' वैसा जानता है।

(४७७)

जिसने परिणाम को भूतार्थनय से जाना (होने योग्य होता है), उसे द्रव्यदृष्टि होती है। जिसको द्रव्यदृष्टि हुई, वही ऐसा जानता है कि 'पर्याय होने योग्य होती है।' यह अविनाभाव है और समय भी एक है।

(४७८)

परिणाम में अपरिणामी ही दिखता है; परिणाम का भेद नहीं दिखता; उसका नाम शुद्धज्ञानपरिणत जीव है।

(४७९)

'मैं अकर्ता हूँ' (द्रव्यस्वभाव) तो मैं भी अकर्ता हूँ। शुद्धपर्यायपरिणत जीव भी अकर्ता है। शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी 'सर्वथा' अकर्ता है।

(४८०)

मैं दु:ख का भोगता नहीं, 'मैं तो जाननेवाला हूँ', उसमें आनन्द का भोक्ता होता है। आनन्द के भोक्ता के काल में भी अभोक्ता आत्मा मुख्य रहता है।

(४८१)

'श्रद्धा' द्वारा आत्मा को ग्रहण करना बहुत सरल है, क्योंकि उसमें सर्वथा है। दृष्टि में कथंचित् नहीं, इसलिए कथंचित् द्वारा दृष्टि की प्राप्ति नहीं होती, उसे दृष्टि का नेचर समझना चाहिए।

(४८२)

केवलज्ञान के समय में भी आत्मा सर्वोपरी दिखता है। जीव के मूल स्वरूप की बात करे → वह धन्य घड़ी है।

(४८३)

वर्तमान 'मुक्तस्वरूप' आत्मा की अनुभूति ही, भावी मुक्ति का कारण है। फिर भी उस कारण से 'मैं शून्य हूँ।'

(४८४)

लिख लो! ये कोई अलग प्रकार की बात है। निश्चय और व्यवहार के विषय में फर्क नहीं है। (मैं ज्ञाता, मैं ज्ञेय) उसे भेद से देखो तो व्यवहार है, उसे ही अभेद से देखो तो वह (ज्ञानप्रधान) निश्चय है।

(४८५)

स्वप्रकाशकपूर्वक स्वप्रकाशक ही होता है और अनुभव के बाद स्वप्रकाशक ही रहता है। फिर पर को जानने का आता ही नहीं है, क्योंकि 'ज्ञायक नहीं त्यम् परतणो...' वो जानने में नहीं आता... इसलिए उसका नाम परज्ञेय है। जो जानने में आता है, वह स्वज्ञेय है।

(४८६)

(१) वास्तव में खोज करो तो अपने को जानते आप ही जानने में आता है, फिर भी पर जानने में आता है - ऐसा कहना, व्यवहार है। (२) 'अपने को जानता हूँ' वैसा भी अनुभव में नहीं रहता। स्वयं ही है।

(४८७)

बदलता है, वह ज्ञान का ज्ञेय नहीं। ज्ञान का ज्ञेय बदलता ही नहीं। ज्ञान अफर है.... क्योंकि ज्ञान का आश्रय बदलता नहीं। (अचलं ज्ञानं... अचलं ज्ञानं)

(४८८)

पर जानने में आता है → उसमें पर का प्रमेयत्व स्थापा। वह चीज जानने में नहीं आती → उसमें ज्ञान का प्रमेयत्व स्थापा। ज्ञप्तिक्रिया में स्व-पर का प्रतिभास अवश्य है, परन्तु छद्मस्थ का लक्ष एक समय में एक ज्ञेय के ऊपर ही होता है।

(४८९)

चश्मा किसने देखा? ज्ञान ने। ज्ञान ने (चश्मे) को जाना, वह किसने देखा? ज्ञान ने। तो ज्ञान ने ज्ञान को ही देखा है। चश्मा अपने आप निकल गया।

(४९०)

ज्ञान में पर प्रतिभासता है, उसे आगे नहीं करना। ज्ञान की सत्ता में पर है ही नहीं तो जानने में कहाँ से आएगा? ऐसा लेने से अनुभव हो जायेगा।

(४९१)

अध्यवसानवाले जीव को संयोग में मिथ्यात्व है, परन्तु उसकी पर्याय में ज्ञप्तिमात्र है।

(४९२)

जो अपने अस्तित्व में है, वह अपना ज्ञेय है। भेदकारक भी अपने अस्तित्व में नहीं... इसलिए वह अपना प्रमेय नहीं है।

(४९३)

लिख लो → पर्यायदृष्टिवाले को प्रमाणज्ञान नहीं होता। द्रव्यदृष्टिवाले को प्रमाणज्ञान नियम से होता है। प्रमाण के पक्षवाले को प्रमाणज्ञान नहीं होता।

(४९४)

श्रद्धा सम्यक् करने के लिये अनेकान्त ऐसा लेना कि → सर्वथा ज्ञायक जानने में आता है, सर्वथा पर जानने में नहीं आता। श्रद्धा का विषय बारंबार ज्ञान में आये, वैसा विचार करना। सर्व प्रथम ज्ञान के विषय को ज्ञान का विषय नहीं बनाना। श्रद्धा पोषक ज्ञान → श्रद्धा के विषय को बारम्बार ज्ञान में लेता है। मैं द्रव्य ही हूँ और मुझे द्रव्य ही जानने में आता है, तो सम्यग्ज्ञान हो जाएगा। आहाहा! द्रव्य की दृष्टि को, द्रव्य (परिणामी) का ज्ञान ही वर्तता है।

(४९५)

यह भगवान की बात है। भगवान होने की बात है। आत्मा ज्ञानरूप ही परिणमता है, बाकी के सब गुण अनादिकाल से परिणमे ही नहीं।

(४९६)

ज्ञेय का स्वरूप ख्याल में न आने से ध्येय का पक्ष रहता है। इस तरफ से ध्येय का पक्ष रहता है, दूसरी तरफ से पर को अथवा भेद को ज्ञेय मानता है। अथवा ध्येय जितना ही ज्ञेय मानता है।

(४९७)

अद्भूत सिद्धांत → सामान्य अकेला ध्येय तो होता है, परन्तु सामान्य अकेला ज्ञेय नहीं होता। सामान्य को ध्येय करने पर, सामान्य विशेष ज्ञेय होता है। इस भाँति ज्ञेय जुड़ा हुआ ही होता है। आत्मा से रागादिभाव जुड़े नहीं होते, इसलिए वे ज्ञेय नहीं।

(४९८)

परिणामी ज्ञेय नहीं होता तो समझना अभी पर, ज्ञेय होता है, भेद ज्ञेय होता है। अकेला सामान्य ज्ञेय है, ऐसी भ्रान्ति ही रहती है। सच्चा ज्ञेय नहीं जानने में आता, तो कहीं तो ज्ञेय की स्थापना करेगा ही न?

(४९९)

पर जानने में आता है, स्व-पर जानने में आता है, वह उसके ज्ञान का द्रोह है। अरे! सामान्य के पक्ष में रुकता है और सामान्य-विशेष को जानने का इनकार करता है, वह भी ज्ञान का द्रोह है। आत्मार्थी जीव को आत्मा चाहिये, कोई पक्ष नहीं चाहिये।

(५००)

जो जानने में आया, वह जाननेवाला ही है। जिसमें जानने में आया वह भी जाननहार ही है। जिसमें जानने में आया वह भी अभेद, जो जानने में आया वह भी अभेद। दो अभेद के भेद भी जानने में नहीं आते। एक अभेद जानने में आता है।

(५०१)

परपदार्थ ज्ञान में आते नहीं, ऐसा कहकर सूक्ष्म बात बतानी है कि - पर का ज्ञेयत्व अपने ज्ञान से अभिन्न नहीं होता, इसलिए पर जानने में नहीं आता; ज्ञान ही जानने में आता है।

(५०२)

पर को जानता ही नहीं, वह जानने में आता नहीं, इसलिए तो उसका नाम परज्ञेय है। जो जानने में आता है, वह स्वज्ञेय है। आत्मा 'कर्ता' है ही नहीं, फिर यह करना और यह नहीं करना - ऐसा विभाग ही नहीं है। अब जानने में विभाग है। किसे जानना चाहिये और किसे नहीं जानना चाहिये? किसको जानने से आनन्द और किसको जानने से दुःख?

(५०३)

त्रिकाली द्रव्य में द्रव्य का अनुभव नहीं होता। पर्याय में भी द्रव्य का अनुभव नहीं होता। परिणामी होकर अनुभव होता है, उसी प्रकार ज्ञानपर्याय में पर का अनुभव नहीं होता। अनुभव = ज्ञान।

(५०४)

ज्ञाताबुद्धि → श्रद्धा का दोष। अनुभव के बाद पर का ज्ञाता होना → चारित्र का दोष। गुण तो दोनों में से एक भी है ही नहीं। जाना हुआ प्रयोजनवान, केवलज्ञान होने में अन्तराय है।

(५०५)

जाननेवाला तो जाननेवाला ही है - इस तरह जाननेरूप परिणमना, उसका नाम ज्ञानपर्याय का निश्चय है। दृष्टि की निर्मलता के लिये अस्ति-नास्ति अनेकान्त है और इसमें ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। परिणाम से भिन्न द्रव्य का अनुभव होना, उसका नाम अस्ति-नास्ति अनेकान्त है।

(५०६)

हम पर्याय के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु पर्याय को आत्मारूप से नहीं मानते। जबकि पर्यायदृष्टिवाला, पर्याय को आत्मा मानता है। इससे द्रव्य का तो विच्छेद करता है, पर्याय का भी विच्छेद करता है।

(५०७)

सामर्थ्य, स्वभाव से सापेक्ष होता है। जबकि स्वभाव, सामर्थ्य से निरपेक्ष होता है। स्वभाव निरपेक्ष होने से, स्वपरप्रकाशक सामर्थ्य के निषेध से प्रगट होता है।

(५०८)

पर्याय को, पर्याय देखने से तो कर्ता-कर्म का उपचार आता है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान आता है, परन्तु उसे 'परद्रव्य' जानने से ऐसा कुछ नहीं आता। भेद परिणाम, पुद्गल के परिणाम हैं - ऐसा भी नहीं। वह जीव नहीं है, इसलिए अ... जीव है, वैसा भी नहीं, उसमें भी अपेक्षा आ गई। पर्याय से भिन्न जानने पर, भेदज्ञान किये बिना, पर्याय से भेदज्ञान हो जाता है।

(५०९)

राग को नास्तिरूप से जानने जाए तो वह अज्ञान है। वह राग के ऊपर नजर रखकर बोलता है। स्वानुभूति में राग का वेदन नहीं आया, इससे यह जाना कि राग की मुझमें नास्ति है।

(५१०)

आत्मा को उपादानकर्ता मानने से → आत्मा का नाश होता है। आत्मा को निमित्तकर्ता मानने से → आत्मज्ञान का नाश होता है।

(५११)

एक एकान्तवादी → द्रव्य, पर्याय दोनों मिले हुए हैं, ऐसा मानता है। एक एकान्तवादी → दोनों भिन्न हैं, ऐसा मानता है।

(५१२)

वर्णादिक सर्वथा पुद्गल के परिणाम हैं और जीव सर्वथा परिणाम से रहित है-ऐसी श्रद्धा कर! व्यवहार का निषेध निर्दयता से नहीं आयेगा, तब तक निश्चय का पक्ष नहीं आयेगा।

(५१३)

बहुत जगह ऐसे लिखा होता है कि → अज्ञानभाव से आत्मा कर्ता है। आत्मा व्यवहार से ज्ञान का कर्ता है → इतना कहने में भी दृष्टि के विषय में मचक आ जाती है। अनात्मा कर्ता है, वास्तव में आत्मा कर्ता नहीं; आत्मा अकर्ता है।

(५१४)

जिस हाथ से नव मित्र को गिनता है, वह हाथ किसका है? वह हाथ दसवें व्यक्ति का-तेरा है। तू तुझे ही गिनना कैसे भूल जाता है? वैसे तू तुझे ही जानना कैसे भूल जाता है?

(५१५)

जिसके आश्रय से अनन्त मुनिराज, अनन्त सिद्धराज प्रगट होते हैं, ऐसा यह जीवराज है। मुनिराज और सिद्धराज से अधिक जीवराज है।

(५१६)

स्वयं को परिणाम से सहित देखनेवाले को आत्मा शुद्ध है, ऐसा भासन कभी भी नहीं हो सकता। हे भगवान! मेरी भूल हो गई; मैंने परद्रव्य को परिणाम का माना।

(५१७)

प्रश्न : आप पर्याय को मानते हो या नहीं?

उत्तर : पर्याय के लक्ष से पर्याय को नहीं मानते। द्रव्य के लक्ष से परिणाम अभेद होते हैं, उसे हम जानते हैं।

(५१८)

पहले आत्मा को जानना। फिर क्या करना? बाद में भी आत्मा को ही जानते रहना। एकान्त से आत्मा को ही जानना और एकान्त से पर्याय का विस्मरण करना।

(५१९)

आत्मा कैसा है? तू नहीं चाहता है, वैसा है। दुःख, अज्ञान, पराधीनता... आदि आत्मा में नहीं है, ऐसा है।

(५२०)

परद्रव्य, परद्रव्य के सन्मुख होता है। स्वद्रव्य, परद्रव्य के सन्मुख नहीं होता। 'परद्रव्य' कहकर आचार्यदेव, हमारे ऊपर बहुत बड़ा उपकार कर गये। बहुत बहुत करुणा आती है, तब यह शब्द रखते हैं।

(५२१)

आत्मा में स्याद्वाद का अभाव; आत्मज्ञान में स्याद्वाद का सद्भाव-समय एक। यह दो प्रकार की बात कहते हैं, उसमें रहस्य है। आत्मा में स्याद्वाद का अभाव है; ऐसा लेने से आत्मज्ञान होता है।

(५२२)

यह विषय सूक्ष्म है, सामान्य जैसा ही विशेष होता है। परिणाम को अशुद्ध कहनेवाला, द्रव्य को शुद्ध मानता ही नहीं। द्रव्य से शुद्ध और पर्याय से अशुद्ध, वह उधार लिया हुआ ज्ञान है।

(५२३)

मानो निर्विकल्पध्यान में से बाहर आकर कहते हों ऐसा ऊँचा न्याय → 'परिणमन होता है, इसलिए कर्ता' ऐसा जो उपचार, उस उपचार से भी आत्मा कर्ता नहीं है। निश्चय से तो वह कर्ता नहीं, नहीं और नहीं है, परन्तु उपचार से भी वह कर्ता नहीं है। अकर्ता को कर्ता का उपचार देना, वह दोष है।

(५२४)

पर को जानने के लिये... ज्ञान को बाहर निकालता है; परन्तु ज्ञान बाहर गया ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान कभी बहिर्मुख होता ही नहीं। जो ज्ञान बाहर गया है, वह तो खण्ड ज्ञान-इन्द्रियज्ञान था, उसे अन्तरमुख करना चाहता है। जो इन्द्रियज्ञान, स्वभाव से अत्यन्त दूर है, वह पास लगता है और जो ज्ञानस्वभाव स्वयं है, वह इसे दूर लगता है।

(५२५)

जो ध्येय है, वही उपादेयरूप ज्ञेय है। ध्येय के दोरूप हैं - (१) ध्येयरूप, (२) उपादेयरूप ज्ञेयरूप। जो परिणामी ज्ञेय है, वह ध्येय नहीं है, क्योंकि ज्ञेय में तो द्रव्य, गुण परिणाम, सब कुछ है, इसलिए वह ध्येय नहीं है।

(५२६)

कर्ताबुद्धि कर्ता-कर्म के व्यवहार का पक्ष, वह कर्ताबुद्धि।

ज्ञाताबुद्धि → (पर में) ज्ञाता - ज्ञेय के व्यवहार का पक्ष, वह ज्ञाताबुद्धि।

(५२७)

आत्मा में राग होता है → स्थूल अज्ञान।

आत्मा में ज्ञान होता है → सूक्ष्म अज्ञान।

आत्मा में गुणभेद है → सूक्ष्मतर अज्ञान।

(५२८)

जिसे अपनी चिन्ता होती है कि - मेरा क्या होगा? उसे तत्त्व मिल जाता है। वह पात्र है, इसलिए आत्मा का संग करता हुआ आगे बढ़ता है। चैतन्य आत्मा चैतन्यरस से भरपूर है... वैसे श्रद्धा में चैतन्यतत्त्व की रुचि करता हुआ, उसमें एकाग्रता का परिणमन करता है।

(५२९)

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दो प्रकार से है- (१) विभावरूप, (२) स्वभावरूप।

(१) रागादि विभावभाव, निमित्त और नया कर्मबन्ध होता है, वह नैमित्तिक।

(२) केवलज्ञान, वह नैमित्तिक और लोकालोक का प्रतिभास, वह निमित्त है। यह स्वभावरूप है... अर्थात् ज्ञान ज्ञेय के व्यवहाररूप है।

(५३०)

प्रमाण सप्तभंगी एक धर्म द्वारा पूरी वस्तु का ज्ञान कराती है। नय सप्तभंगी एक धर्म द्वारा एक ही धर्म का ज्ञान कराती है। प्रमाणज्ञान में 'स्यात्' लगे तो वह सम्यक् है। नयज्ञान में

'ही' लगे तो वह सम्यक् है। प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकान्त, सम्यक् अनेकान्त सूचक है। नयरूप अस्ति-नास्ति अनेकान्त, सम्यक् एकान्त सूचक है। प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकान्त, पदार्थ की सिद्धि करता है। नयरूप अस्ति-नास्ति अनेकान्त, प्रयोजन की सिद्धि करता है। जैनदर्शन में पदार्थ की सिद्धि, प्रयोजन की सिद्धिपूर्वक ही होती है।

(५३१)

मुनिराज को कर्ता का उपचार खटका। ज्ञाता हो, वह निश्चय से करे नहीं और व्यवहार से भी करे नहीं। आत्मा, उपचार से भी निर्मलपर्याय का कर्ता नहीं है, यह बात परम सत्य है। निर्मलपरिणाम का उपचार से कर्ता है, ऐसे ज्ञानप्रधान कथन में भी दृष्टि का तिरोभाव होकर, मिथ्यात्व रह जाता है।

(५३२)

उपादेय तत्त्व और हेय तत्त्व को एक आधार नहीं है। स्वद्रव्य एवं परद्रव्य दोनों का आधार एक नहीं है। यदि दोनों का आधार एक हो तो द्रव्य का नाश हो जाता है। यदि हेय तत्त्व के आधार से उपादेय तत्त्व हो तो उपादेय तत्त्व, हेय हो जाता है।

(५३३)

मुद्दे की बात मैं परमात्मा हूँ - ऐसे भाव में परमात्मा हो जाता है। परमात्मा को जाननेवाला ज्ञान, परमात्मा की जाति का होना चाहिए।

(५३४)

उत्पाद, ध्रुव को प्रसिद्ध करके ही व्यय होता है।

(५३५)

प्रमाण से बाहर जाए तो पर से एकत्वबुद्धि होती है और प्रमाण में अटकने से परिणाम से एकत्वबुद्धि होती है; इसलिए प्रमाण से बाहर जाना नहीं; और प्रमाण में अटकना नहीं।

(५३६)

आत्मा स्यात् अशुद्ध की तो बात ही नहीं है, परन्तु आत्मा स्यात् शुद्ध है - ऐसी बात भी नहीं है। आत्मा तो सर्वथा शुद्ध है। 'आत्मा सर्वथा शुद्ध है' → इसमें जिनवाणी का कोप नहीं, परन्तु कृपा होगी। जहाँ स्यात् कहा, वहाँ व्यवहार का जन्म हो गया। वह ज्ञान का विषय हो गया। निश्चय-व्यवहार की सन्धि → रहित के श्रद्धापूर्वक सहित का ज्ञान, समय एक।

(५३७)

सम्यग्दर्शन होने का काल पकता है, तब सर्वथा भिन्न में आये बिना रहता ही नहीं। अनुभव से पहले कथंचित् भिन्न-अभिन्न नहीं हो सकता। अनुभव के पहले कथंचित् भिन्न-अभिन्न के पक्ष में रहने से भी अनुभव नहीं हो सकता। सर्वथा भिन्न के पक्ष में आने से उसे अनुभव होता है, ऐसा उसे पता चल गया।

(५३८)

व्यवहारनय, जीव का कर्ता कहता है, वह उपदेश ही मिथ्या है। व्यवहारनय, मिथ्या उपदेश देनेवाला होने से, उसके प्रति दृष्टि रखनेवाला मिथ्यादृष्टि हो जाता है। व्यवहार के निषेध बिना निश्चय का निर्णय नहीं होगा। निश्चय को समझे बिना व्यवहार समझ में नहीं आता।

(५३९)

प्रश्न : परिणाम से सर्वथा भिन्न में खतरा है?

उत्तर : जरा भी खतरा नहीं। आहाहा! कथंचित् में था, वह खतरा था।

(५४०)

प्रश्न : मुद्दे की बात! तुझे कथंचित् अभिन्न का ज्ञान हुआ?

उत्तर : सर्वथा भिन्न के जोर से होगा। आत्मा को सर्वथा अकर्ता माने बिना दृष्टि अन्दर नहीं आ सकती। सर्वथा भिन्न कहनेवाले को ही दृष्टि का विषय हाथ में आता है। कथंचित् भिन्न-अभिन्न के पक्ष में रहनेवाले को दृष्टि का विषय हाथ में नहीं आता। श्रद्धा और ज्ञान, दोनों अपेक्षा से पर्याय सर्वथा भिन्न है। अभिन्नता की मान्यता को छुड़ाना है। सूक्ष्म बात है, अति सूक्ष्म बात है... भिन्नता के जोर बिना, अभिन्न का व्यवहार उत्पन्न ही नहीं होता। भेदज्ञान के मन्त्र में निश्चय और व्यवहार दोनों समाये हुए हैं।

(५४१)

तुझे व्यवहार चाहिए है न, तो सुन! व्यवहार से आत्मा अनन्त गुणों से सहित है, परन्तु परिणाम से सहित नहीं है - और ऐसा मानना, उसका नाम मिथ्यात्व है।

(५४२)

(तीक्ष्ण) तीखी बात → अनन्त गुणों से सहित हूँ, ऐसा विचार व्यवहार है। परन्तु जिस परिणाम का ध्रुव दल में अभाव है... उस परिणाम का विचार करना, वह व्यवहार नहीं... परन्तु केवल अज्ञान है।

(५४३)

मुझे आत्मा की रुचि करनी है, उसका नाम ही अरुचि है। किसी भी प्रकार के परिणाम की पकड़ हो जाती है, उसका नाम ही अरुचि है। ऐसे आत्मा की रुचि करनी चाहिए! इस प्रकार रुचि के ऊपर लक्ष करना, उसका नाम ही आत्मा की अरुचि है।

(५४४)

कुछ करने के भाव में मौत जैसा डर लगना चाहिए। क्योंकि करने के विचार से भी पाप लगता है। परिणाम को जानता हूँ तो भी मरता है, तो फिर करने में तो मौत का बाप हो गया। जिसका मैं कर्ता नहीं, उसे जानकर क्या करना?

(५४५)

ध्येय को देखना, उसका नाम ही ध्यान है। ध्यान को करूँ, उसका नाम तो मिथ्यात्व का पाप है। दृष्टि के विषय को प्रमुख करना, दृष्टि को प्रमुख नहीं करना। ऐसे ही लेना कि 'परिपूर्ण हूँ'। ऐसे नहीं लेना कि परिपूर्ण का ध्यान करता हूँ।

(५४६)

मार्ग की शुरुआत ही 'कुछ नहीं करना' वहाँ से होती है। उसमें ही वृद्धि और उसमें ही पूर्णता होती है।

(५४७)

स्वरूप की असावधानी का नाम प्रमाद है। स्वरूप ही ऐसा है कि जिसमें प्रमाद का अभाव है।

(५४८)

समस्त जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि का संक्षिप्त सार और ज्ञानियों के स्वसंवेदन का सार इतना ही है कि → 'आत्मा केवल जाननहार है।' जैनदर्शन की शुरुआत ही 'ज्ञाता' से है होती है, 'कर्ता' से होती ही नहीं।

(५४९)

'यह भगवान आत्मा ज्ञाता द्रव्य है' - यह बादाम के मैसूरपाक का भोजन है। 'मैं ज्ञाता हूँ', इसमें ज्ञाता हो गया।

(५५०)

जब हम निश्चयनय के जोरवाले ज्ञान से देखते हैं, तब व्यवहारनय तहस-नहस हो जाता है। भेद को देखनेवाला ज्ञान होने पर भी, हमें नहीं है। साधक को ऐसी मस्ती चढ़ जाती है और सुननेवाले का काम हो जाता है।

(५५१)

'प्रथम से ही शुद्धता है।' आहाहा! कैसा मीठा-मधुर अमृत जैसा वचन है। इतने में तो पूरी पर्यायदृष्टि छूट जाती है।

(५५२)

सबसे पहला धमाका → परिणाममात्र से अत्यन्त भिन्न हूँ। दृष्टि को प्राप्त कराने के लिए परिणाम से अत्यन्त भिन्न हूँ; फिर कथंचित् भिन्न-अभिन्न सहज आ जाता है। ज्ञायक में दृष्टि लगते ही ज्ञान प्रगट होगा, जो कथंचित् भिन्न-अभिन्न को जानेगा। उसे ज्ञान के ऊपर ही छोड़ दें न!

(५५३)

कथंचित् के नाम से मिथ्यात्व दृढ़ हो जायेगा। 'सर्वथा भिन्न' में मिथ्यात्व गलने लगेगा, और जो गलेगा, वह टलेगा → यह एकदम मुद्दे की बात है।

(५५४)

आत्मा तीनों काल परिणाम से सहित ही होता है - यह कौन बोलता है? ज्ञान बोलता है। इसमें रहस्य है → मेरा आत्मा, दुःख से रहित है, ऐसा श्रद्धान हुआ तो उसी समय अतीन्द्रियसुख से सहित आत्मा का ज्ञान हुआ या नहीं? तो अब कहो कि – आत्मा एक समय भी परिणाम से रहित कहाँ रहा? यह रहितपूर्वक सहित की क्रीड़ा है।

(५५५)

जो जिसका हो वह, वही होता है। आत्मा का ज्ञान होने से, ज्ञान, आत्मा ही है।

(५५६)

उत्पाद-व्यय से रहित ध्रुव आत्मा को और उत्पाद-व्यय से सहित ध्रुव आत्मा को; मैं एक समय में जानता हूँ। इसका नाम 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय।' 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय की' सन्धि नहीं समझते, इसलिए थोड़े ही जीव पाते हैं।

(५५७)

निर्विकल्पनय और निर्विकल्प प्रमाण एक समय में अनुभवज्ञान में प्रगट होते हैं। नयपूर्वक ही सम्यक् प्रमाणज्ञान प्रगट होता है।

(५५८)

परिणाम मेरे किये बिना स्वयमेव होते रहते हैं और परिणाम मेरे जाने बिना स्वयं जानने में आते रहते हैं → यह भी सविकल्पदशा की बात है।

(५५९)

द्रव्य की त्रिकाल शुद्धता पर कभी अविश्वास नहीं करना और उपयोग की अन्तर्मुखता पर कभी शंका नहीं करना। चैतन्य-अनुविधायी उपयोग सदा अन्तर्मुखाकार ही है।

(५६०)

आत्मा कर्ता और रागादि मेरा कर्म - ऐसी कर्ता-कर्म की भ्रान्ति अनादि से चली आती है। ऐसी भ्रान्ति का नाश कर्ता-कर्म के सम्यग्ज्ञान से ही होता है। कर्ता-कर्म का अज्ञान, कर्ता-कर्म के ज्ञान से ही दूर होता है।

(५६१)

प्रश्न : जैनदर्शन में 'सर्वथा' शब्द होता है क्या?

उत्तर : हाँ, उसमें ही सम्यक् एकान्त की सिद्धि होती है। कोहिनूर का हीरा → भ्रान्ति का नाश सम्यक् एकान्त से ही होता है।

(५६२)

प्रमाणज्ञान कराना हो तब 'सर्वथा' लगावे तो वह विष है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान में स्याद्वाद का जन्म हुआ होने से 'कथंचित्' शब्द अमृत समान है और नय में 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग करे तो वह विष है, क्योंकि नय, सम्यक् एकान्त बोधक होने से उसमें सर्वथा ही लगता है।

(५६३)

सप्तभंगी दो प्रकार से है (१) प्रमाण सप्तभंगी, (२) नय सप्तभंगी। प्रमाण सप्तभंगी परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भिन्न, अपने पदार्थ की सिद्धि करती है। नय सप्तभंगी भीतर ही भीतर पर्याय से, भेद से भेदज्ञान कराकर, उपादेय तत्त्व की श्रद्धा कराकर, प्रयोजन की सिद्धि कराती है।

(५६४)

पर्याय का आरोप जीव के ऊपर देकर, जीव ऐसा है- ऐसा उपचार से कहते हैं। जीव तो जैसा है, वैसा ही है।

(५६५)

मोक्षमार्ग सहज-साध्य है, यत्न-साध्य नहीं। यत्न-साध्य माना, वही विपरीतता है।

(५६६)

परिणाम से रहित होने पर भी, परिणाम से सहित देखता है, वह बहुत बड़ा पाप है। उसे आत्मा कभी भी नहीं दिखेगा। लाखों-करोड़ों उपाय करो - ध्येय के स्पष्ट ज्ञान बिना धर्मध्यान नहीं होगा। ज्ञान सच्चा करने जाता है, परन्तु दृष्टि गलत हो जाती है, उसका पता नहीं चलता। पर्याय को जानना व्यवहार है, तो चलो न! द्रव्य को जान लूँ! जब पर्याय ज्ञेय नहीं बने; तब द्रव्य ध्येय बन जायेगा।

(५६७)

जीव, जीव को जानता है → एक वाक्य का विचार करे तो कार्य हो जाये, ऐसा है। जीवद्रव्य का विचार करते-करते जीवतत्त्व में चला जा!

(५६८)

आत्मा में कर्तृत्व मात्र का अभाव है। स्वरूप ही परिपूर्ण है, तो फिर तुम्हें क्या करना है? करने का अवकाश ही नहीं। आत्मा अनादि-अनन्त परिपूर्ण है।

(५६९)

प्रथम नव तत्त्व को जानना? कहते हैं - नहीं; प्रथम आत्मा को जानना। **'प्रथमं एव'** सबसे प्रथम आत्मा को जानना। यह उपदेश नहीं, आदेश है।

(५७०)

आत्मा तो ऐसा ही है, परन्तु ऐसा आत्मा दृष्टि में तो आना चाहिए न! अरे... अरे... ज्ञानी के वचन का वाच्य क्या है, उसके ऊपर तू लक्ष तो दे! जैसी वाणी आ रही है, वैसा वाच्य देख! उससे जरा सा भी हल्का नहीं। जैसा वाच्य है, वैसी ही वाणी आ रही है। तू कृतकृत्य है, तू परिपूर्ण है।

(५७१)

पर्याय के ऊपर खड़ा मत रह। पर्याय के प्रति लक्ष नहीं कर! स्वरूप के ऊपर लक्ष गया, उस का नाम ही दृष्टि है। तू दृष्टि के ऊपर दृष्टि मत लगा!

(५७२)

जिसके आश्रय से विकल्प उत्पन्न होता है, उसे भगवान, परद्रव्य कहते हैं। जो प्रगट होता है, वह परद्रव्य है; जो प्रगट है, वह स्वद्रव्य है। बाहर का परद्रव्य बिल्कुल नहीं लेना। परिणाम को परद्रव्य कहा, यह एकदम शोर्टकट है।

(५७३)

जीव से, जीव का भेदज्ञान; ज्ञान से, ज्ञान का भेदज्ञान; स्वद्रव्य से, परद्रव्य का भेदज्ञान।

(५७४)

पंचाध्यायी कर्ता ने एक सूक्ष्म बात कही कि - संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में से कोई ही जीव विशेष उपयोगवान होकर मिथ्यात्व के सम्बन्ध में विचार करते है। गाथा १०२८ में यह बात है कि पुण्य-पाप की चर्चा तो सब करते हैं, परन्तु ... मिथ्यात्व को सब भूल जाते हैं, उसकी चर्चा करनेवाले विरल होते हैं।

(५७५)

प्रश्न : रुचि का लक्षण क्या है?

उत्तर : अकर्ता जाननेवाला... जाननेवाला ही भासित होता है, जरा भी कर्ता भासित न हो, उसी का नाम रुचि है। कुछ भी करना, उसका नाम ही अरुचि है।

(५७६)

जैसे ज्ञान में शरीर नहीं है, इसलिए ज्ञान, शरीर को नहीं जानता; वैसे ज्ञान में राग नहीं; इसलिए ज्ञान, राग को नहीं जानता।

(५७७)

वास्तव में पर्याय, द्रव्य में से आती भी नहीं और द्रव्य में जाती भी नहीं। व्यवहारनय, संयोग का ज्ञान कराता है, और निश्चयनय, स्वभाव का भान कराता है।

(५७८)

आत्मा को ऊर्ध्व रखकर पढ़ना-सुनना। अपेक्षित शान्ति और अपेक्षित धीरज पहले से ही आता है।

(५७९)

पर को करता हूँ, मारता हूँ, जीवित रखता हूँ, यह अध्यवसान है। उसके बराबर ही समकक्षी अध्यवसान है → 'मैं पर को जानता हूँ।'

(५८०)

मोक्षमार्गप्रकाशक कर्ता ने द्रव्यलिंगी की सूक्ष्म भूल बताई। छह द्रव्य को जाननेवाला तो मैं नहीं, परंतु छह द्रव्य जिसमें जानने में आते हैं वैसा जाननेवाला हूँ। 'मैं ज्ञायक को जानता हूँ' ऐसा नहीं आया।

(५८१)

जरा भी दया रखे बिना व्यवहार का प्रलय कर देना। आचार्यदेव के शब्द हैं न! क्योंकि व्यवहार के आश्रय से जीव गिरता है और निश्चयनय से जीव चढ़ता है। निर्दयता से व्यवहार का निषेध आया, तो जा, तुझे आत्मा प्राप्त होगा ही!

(५८२)

मुनिराज की वाणी में अभेद आत्मा आता है। पात्र जीव अभेद आत्मा को सुनता है, धारण करता है, अनुभव करता है। अभेद पाक्षिक समागम हित का कारण है।

(५८३)

(१) जीव अपने परिणाम का कर्ता नहीं। (२) जीव अपने परिणाम का उपचार से कर्ता नहीं। (३) जीव अपने परिणाम का ज्ञाता नहीं। (४) जीव अपने परिणाम का उपचार से ज्ञाता नहीं। (५) वह तो अभेद ध्रुवस्वरूप जाननेवाला है।

(५८४)

कलश टीका, २५२ श्लोक में, स्वचतुष्टय के (चार) बोल हैं। उसके तीन रहस्य हैं। पर्याय के जो (१) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, वे निषेध करने के लिये हैं। (२) गुण-गुणी का भेद भी निषेध करने के लिये है। (३) अभेद है, वह अनुभव करने के लिये है।

(५८५)

आत्मा सर्वथा गुण में रहता है। कथंचित् आत्मा; संवर, निर्जरा की पर्याय में रहता है, वह ज्ञेयप्रधान कथन है।

(५८६)

जो जानता है, वह आत्मा नहीं, वह तो ज्ञानक्रिया है। जो जानने में आता है, वह आत्मा है। निज को जाननेवाला ज्ञान 'मेरा' तो है, परन्तु वह 'मैं' नहीं।

(५८७)

प्रश्न : आत्मा में स्याद्वाद का अभाव होने पर भी, निश्चयाभासपना क्यों नहीं आता?

उत्तर : क्योंकि स्वद्रव्य में परद्रव्य का सर्वथा अभाव है। स्वद्रव्य को परद्रव्य छूता भी नहीं।

(५८८)

'करना' यह आत्मा का या ज्ञानपर्याय का स्वभाव ही नहीं है; इसलिए ज्ञानी के मुख से 'करने की' बात तो आयेगी ही नहीं। कर्ताबुद्धि छुड़ाने के लिये, परिणाम का ज्ञाता है, ऐसा कहना पड़ता है। 'मैं कर्ता हूँ' – यह तो निगोद के संस्कार हैं।

(५८९)

पर्याय के षट्कारक पर्याय से नहीं मानता है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा। यह भूल असाधारण है।

(५९०)

व्यवहार की अधिक बात करेगा तो गुणस्थान गिर जायेगा और उसी-उसी में रुकने से कदाचित् मिथ्यात्व भी दृढ़ हो जायेगा! यह ज्ञानी को चेताते हैं, क्योंकि व्यवहार का पक्ष अनादिकाल का है और क्षायिक समकित तो है नहीं।

(५९१)

अशुद्ध निश्चयनय से राग का कर्ता कहा, उसमें अज्ञान की सिद्धि होती है। आत्मा, पुण्य का अकर्ता है, उसमें शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

(५९२)

किस प्रकार व्यवहार का बचाव करके सुबुद्धि और कुबुद्धि का भेद जानूँ? यह दृष्टि जिसे जमी है, उसे अल्पकाल में सिद्ध होने की तैयारी है। दूसरे नय को तुम देखने जाओगे तो आत्मा, दृष्टि में से छूट जायेगा। सुबुद्धि और कुबुद्धि, यह परिणाम का विशेषण है; यह आत्मा का विशेषण नहीं है।

(५९३)

मोक्ष की भावना करोगे तो भी संसार बढ़ जायेगा। प्रगट है, उसकी भावना होती है; जो प्रगट नहीं है, उसकी भावना नहीं होती। मोक्ष को मैं 'कथञ्चित्' भाता हूँ – ऐसा भी नहीं है।

(५९४)

जैसा स्वरूप है, वैसा बारम्बार चिन्तवन करने से, ज्ञान करने से, स्वरूप की दृढ़ता होती है; इस प्रकार पुरुषार्थ की शुरुआत होती है। बारम्बार आत्मा का विचार, चिन्तवन करने से स्वरूप का मंद-मंद ख्याल आता है और उससे परिणाम रसयुक्त होते हैं। स्वभाव को स्वभाव से विचारने पर, स्वभाव का पक्ष आता है।

(५९५)

राग का कर्ता पुद्गलद्रव्य होने पर भी, व्यवहारनय, आत्मा को कर्ता कहता है। पर्याय से सहित द्रव्य को जो देखता है, वह पर्याय का कर्ता बन जाता है। कर्तापना रखकर, ऊपर से नीचे गिरे तो भी समकित नहीं होता।

(५९६)

पर्याय में तो अशुद्धता है न! वैसे तेरे अज्ञानमय भाव को आगे मत कर! राग, जीव का परिणाम है - ऐसा माननेवाले को समकित नहीं होगा।

(५९७)

प्रमाण का लोभ और निश्चयाभास का भय, उसे दृष्टि का विषय समझने नहीं देता। यदि तुम निश्चयाभास का डर रखोगे तो निश्चय के पक्ष में ही नहीं आओगे।

(५९८)

'सर्वथा जाननेवाला हूँ'; तब कर्ताबुद्धि छूटती है। बाद में 'जो परिणमता है, वह कर्ता' यह बात समझ में आती है।

(५९९)

कथंचित् अकर्ता और कथंचित् कर्ता, यह बात तो उसके घर में गई। यह प्रमाण की बात है। निश्चय से मैं ज्ञाता हूँ, अकर्ता हूँ। 'मैं तो ज्ञाता ही हूँ' ज्ञाता ही हूँ... इसलिए कर्ता नहीं, यह कहीं सीखने की जरूरत नहीं है।

(६००)

स्वरूप लक्ष में नहीं आने में सबसे बड़ी भूल है, व्यवहार का पक्ष। **'अपरमभाव में स्थित को, निषेध का उपदेश है।'**

(६०१)

'ऐसा हूँ और ऐसा नहीं' यह धारणा सच है। जबकि आत्मा को मिथ्यादृष्टि माननेवाले की तो धारणा भी गलत है। विकल्पात्मक भूमिका में भी व्यवहार का जिसे निषेध आयेगा, उसका अल्पकाल में मोक्ष होगा।

(६०२)

कर्ताबुद्धि के नाश का उपाय 'मैं तो ज्ञाता हूँ'; अन्य कुछ भी हूँ ही नहीं न। इसमें मिथ्यात्व गलता है, क्योंकि स्वभाव के पक्ष में आया न! मैंने बहुत शोधन किया है, मुझे एक ही भूल लगती है → स्वयं को कर्ता मानता है। जिसे आत्मा का परिणाम सहित भासन होता है, उसे कर्ताबुद्धि होती है। रहित का श्रद्धान करना है, वह मुद्दे की बात है। पहले से सहित को आगे करेगा तो अज्ञान होगा। नजर के पुरुषार्थ से भगवान आत्मा का दर्शन होता है।

(६०३)

तू और कुछ मत कर, ज्ञायक होने से मैं जाननेवाला हूँ। कर्ताबुद्धि अगृहीत मिथ्यात्व है। मैं जाननेवाला ही हूँ - ऐसे पुरुषार्थ से, तुम्हारे उपादान की ताकत से, एक समय ऐसा आयेगा कि तुझे स्वभाव का पक्ष आ जायेगा।

(६०४)

तुझे सीमंधर भगवान के पास जाना है तो आत्मा के पास कब जायेगा!? तीर्थंकर को गौण करना पड़े तो करना; परन्तु आत्मा को गौण नहीं करना।

(६०५)

मैं तो सब को भगवान देखता हूँ। पर्याय को देखनेवाले चक्षु नहीं हैं, तो फिर लोकालोक को देखनेवाले चक्षु तो कहाँ से होंगे?

(६०६)

पर्याय को जानना सर्वथा बन्द कर देगा तो ही द्रव्य जानने में आयेगा। एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती। परिणाम को जानने के अनन्तानुबन्धी लोभ को छोड़ दे!

(६०७)

प्रमाण, ऐसा व्यवहार और निश्चय का पक्ष, श्रद्धा के बल से टूट जाता है। श्रद्धा निर्विकल्प होने से बलवान है। जब कि 'कथंचित्' में कच्चापन आ जाता है। श्रद्धा निरपेक्ष होने से निश्चय है। ज्ञान सापेक्ष होने से व्यवहार है।

(६०८)

मुझमें ज्ञानगुण है, ऐसा व्यवहार का प्रेम, चैतन्य सूर्य को आच्छादित करता है। इसलिए कहा कि → आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है - ऐसा शुद्ध है। सूक्ष्म बात → समकित का विषय गुण को छूता नहीं।

(६०९)

निरावलम्बी तत्त्व → व्यवहारनय से भी पर का अवलम्बन नहीं लेता।

(६१०)

नय का धर्म है जानना। नय का धर्म, करना नहीं है, क्योंकि ज्ञान के अंश को नय कहते हैं। नय अपने धर्म को विषय करता है, पर को विषय नहीं करता। यह साधारण बात नहीं है।

(६११)

त्रिकाल नियम है कि → व्यवहार का निषेध आये बिना, कोई भी जीव, निश्चय में पहुँच ही नहीं सकता।

(६१२)

श्रद्धा के विषय के जोर बिना, 'कथंचित्' रहित का चाहे जितना भी जोर करे, विकल्प नहीं टूटेगा, क्योंकि कथंचित् सहित हूँ, यह बात उसके अन्दर पड़ी हुई है। पर्याय, आत्मा में होती है; भले ही निश्चय से नहीं परन्तु प्रमाण से तो आत्मा में होती है न! इस तरह किसी न किसी प्रकार से मोहराजा हाँ करवाता है।

(६१३)

ग्यारह अंग के पाठी की यह भूल हो गई - पर्याय से सहित हूँ तो पर्याय का स्वामी बन गया। रहित का श्रद्धान करना तो मुख्य बात है। पहले से सहित को आगे करेगा तो अज्ञान होगा।

(६१४)

इस वाक्य के ऊपर विचार तो कर : किसी ज्ञानी ने न कहा हो, शास्त्र में भी कहीं नहीं है, ऐसी ऊँची बात पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं → पर को जाननेवाली कोई नय है ही नहीं। प्रयोजन → बहिर्मुख उपयोग को अन्दर लाने का है।

(६१५)

निश्चयनय के विषय को छोड़ कर व्यवहारनय के विषय को जानना, यह अज्ञान है।

(६१६)

मात्र एक सामान्य पक्ष ही होता तो सभी जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता, परन्तु किसी-किसी को ही प्राप्त होता है, क्योंकि उसे सन्धि करना नहीं आता। विकल्प में विषय का विरोध लगता है, परन्तु अनुभवज्ञान विरोध को टाल देता है।

(६१७)

निश्चय का यथार्थ स्वरूप समझे बिना, समकित नहीं होगा। व्यवहार को गौण करके निश्चय से आत्मा के स्वरूप को समझने जैसा है।

(६१८)

यदि सिद्ध में मिथ्यात्व हो तो मुझमें मिथ्यात्व होगा - इतना अधिक जोर आये, तब द्रव्यदृष्टि होती है।

(६१९)

महासिद्धांत → निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता। (१) समकित होता है, तब अन्दर में ही निश्चय-व्यवहार होता है। ध्येय, वह निश्चय और स्वज्ञेय, वह व्यवहार। (२) ज्ञानप्रधान अपेक्षा से स्वज्ञेय भी निश्चय है। (३) निरपेक्ष, वह निश्चय और सापेक्ष, वह व्यवहार।

(६२०)

व्यवहार श्रद्धा को साधन मानने से दृष्टि वहीं अटक जाती है, परन्तु व्यवहार साधन वह साधन ही नहीं है। तब उपयोग अन्दर आता है। इतनी गहराई से निषेध आता है कि जैसे एकान्त ही हो गया हो!

(६२१)

व्यवहार के पक्षवाला, पर्याय के लक्ष से ही शास्त्र पढ़ता है। जबकि निश्चय के पक्षवाला, द्रव्य के लक्ष से ही शास्त्र पढ़ता है।

(६२२)

व्यवहार करने जैसा है, यह शल्य (अनादि) निगोद का है। उसका जोर व्यवहार के ऊपर है, इसलिए निश्चय की बात में उसकी चौंच डूबती ही नहीं है। निश्चय की बात में उसे एकान्त जैसा लगता है।

(६२३)

जिसके हाथों में से निश्चय गया, वह निषेध नहीं कर सकता; वह व्यवहार को ग्रहण कर लेगा। एक पैसे जितना भी निश्चय का पक्ष आयेगा, तो वह निन्यानवें पैसों को खींच लायेगा। निश्चय की बात के समय व्यवहार को याद करना, वह लाईन ही गलत है, परन्तु व्यवहार की बात के समय निश्चय की बात को याद करना, वही सच्ची लाईन है।

(६२४)

राग में नहीं, ज्ञान की पर्याय में आत्मबुद्धि करता है; यह भी भूल है। ओहोहो! बहुत भेदविज्ञान की जरूरत है।

(६२५)

व्यवहार की अधिकता आ गयी हो, शुद्धनय का पक्ष नहीं आता हो, ऐसे जीवों के लिये यह द्रव्यदृष्टि-प्रकाश है।

(६२६)

ज्ञानी, व्यवहार सिखाते नहीं परन्तु व्यवहार का ज्ञान कराते हैं। ऐसा होता है, ऐसे कहते हैं। यह करने जैसा है, ऐसे नहीं कहते। अज्ञानी को ऐसे लगता है कि ज्ञानी, व्यवहार सिखाते हैं।

(६२७)

बहुत वर्षों पहले कहा था कि → इस जगत में कोई निमित्त नहीं है, क्योंकि समस्त द्रव्य उपादान ही हैं। आज ही यह जाहिर होओ कि `→ इस जगत में कोई ज्ञेय नहीं है। ज्ञान का ज्ञेय एक ही है; ज्ञान जिससे तादात्म्य हो जाये, वह ज्ञेय। यह तो ज्ञेय को पलटने की बात है।

(६२८)

व्यवहारनय का विषय परद्रव्य होता है, निश्चयनय का विषय स्वद्रव्य होता है। व्यवहार को मुख्य करने से निश्चय आच्छादित हो जायेगा। भले ही निश्चय के पक्ष में आ गया; उससे क्या? तो भी उसे संशोधन तो चालू रखना ही चाहिए। निश्चय के पक्ष में व्यवहारनय का जन्म ही नहीं होता। पक्ष छूटकर मध्यस्थ होने पर अनुभव होता है।

(६२९)

जिसे आत्मा चाहिए, उसे भी जब तक विवक्षा का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता; तब तक कशमकश चलती रहती है, ठोकर भी खा जाता है।

(६३०)

एक ज्ञायक शुद्धात्मा ही चाहिए, समकित भी नहीं चाहिए। पर्याय का ज्ञान हो...! परन्तु पर्याय की भावना नहीं हो!

(६३१)

आत्मा का स्वभाव ज्ञान; और ज्ञान का स्वभाव आत्मा को जानना → ऐसे निश्चय के वाक्य की ओर ध्यान ही नहीं जाता।

(६३२)

जब निश्चय की बात आती है, तब व्यवहार से तो पर को जानता है या नहीं? इस बात को आगे नहीं करना, वरना निश्चय की बात समझ में नहीं आयेगी। जब तक व्यवहार से पर को जानना सत्यार्थ लगेगा, तब तक वापस नहीं फिरेगा। व्यवहार का नाम लेकर कपट करता है। पर की अपेक्षा आती है, वह व्यवहार है; उसमें पर के आश्रय की बात कहाँ है?

(६३३)

शास्त्र का अवलम्बन लेने से समकित होगा! तेरी यह बुद्धि ही खोटी है। व्यवहार श्रद्धा तो उत्पन्न कर। पर को जानने से ज्ञान भी नहीं होता और सुख भी नहीं होता।

(६३४)

यदि अन्दर टिक जाएँ तो हमें भेद को जानना भी नहीं है। भगवान ने कषाय के दर्शन करने को थोड़े ही कहा है?

(६३५)

व्यवहारनय, पर का कर्ता नहीं है - ऐसा बताता है। निश्चयनय, पर का ज्ञाता नहीं - ऐसा बताता है। लोगों को एकान्त निश्चय... निश्चय लगता है, परन्तु निश्चय... तो भवसागर को पार करने का पन्थ है।

(६३६)

पर्यायार्थिक चक्षु को कथंचित् बन्द करके या गौण करके - ऐसे नहीं कहा है। 'सर्वथा बन्द कर' - ऐसे कहा है। यह तो कोहिनूर का हीरा है।

(६३७)

पहले पर्याय को जानना और बाद में द्रव्य को जानना, यह क्रमभंग है, अपराध है। क्रमभंग करना अपराध है। यह बात ध्यान में आ जाये तो वह अनुक्रम में आ जाता है।

(६३८)

द्रव्य से शुद्ध है, ऐसी बात चल रही हो, तब दूरभव्य जीव का लक्ष, पर्याय में तो अशुद्धता है न! वहाँ चला जाता है। निश्चयनय के बिना दृष्टि निर्मल नहीं होगी। जब उपादेय तत्त्व की बात आती है, तब पर्याय की बात याद आये तो, ज्ञानी जो उपादेय तत्त्व बता रहे हैं, वह लक्ष में नहीं आयेगा।

(६३९)

कर्ताबुद्धि है, तब तक सविकल्प व्यवहारनय में भी नहीं आया है। 'करना' यह तो स्वभाव की प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक कारण है। 'मैं केवलमात्र ज्ञाता ही हूँ' इसमें समकित सन्मुख हो गया। ज्ञाता को, कर्ता मानकर, अज्ञान के नाश के लिये चाहे अनन्त उपाय कर ले! कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।

(६४०)

व्यवहार की बात तो निषेध करने के लिये कही है। निर्दयता से निषेध करना। ऐसा तीव्र भाव अन्दर से आये तो निश्चय का पक्ष आयेगा और आयेगा। निषेध में पात्रता, विधि में अनुभव। **प्रश्न :** कथंचित् कर्ता का भी निषेध? **उत्तर :** हाँ, निषेध। व्यवहार में मत जा! मत जा! निश्चय में टिक जा... टिक जा...! सर्वथा अकर्ता में रह।

(६४१)

भेदज्ञान का विचार, यह सम्यग्दर्शन के लिये अनुकूल व्यवहार है। परिणाम के प्रति स्वामित्व तोड़ने का प्रयत्नशील जीव, वह समकित का अधिकारी है।

(६४२)

अध्यात्म शास्त्र में कहा है, ऐसा भेदविज्ञान होने के कारणभूत जीव को वह जानता नहीं है।

(६४३)

परज्ञेय का पक्ष होने से, उपयोग अन्दर में आता नहीं है। अन्दर जाने के लिये सबसे बड़ी से बड़ी कमी → व्यवहार का निषेध नहीं आता।

(६४४)

सविकल्प में भी सिर्फ भगवान आत्मा ही दिखना चाहिए। जब ऐसी दशा प्रगट होती है, तब अनुभव प्रगट होता है। अनन्त काल में नहीं आया हो, ऐसा द्रव्य का पक्ष करो। 'कथंचित्' में रहेगा, तब तक अपूर्व निश्चय का पक्ष नहीं आयेगा।

(६४५)

जब अज्ञान के नाश का उपाय विचारता है, तब वह विवक्षा बदलकर निरपेक्ष आत्मा को देखता है। कोई विरल जीव ही निरपेक्ष बात को पकड़कर अपना काम कर लेता है।

(६४६)

अज्ञानी के लिये पर्याय से रहित की श्रद्धा, वह व्यवहार श्रद्धा है। सहित की श्रद्धा, अज्ञान है; व्यवहार नहीं। व्यवहार का निषेध नहीं करे तो आत्मा का निषेध हो जाता है। शिष्य पात्र होने से, व्यवहारनय से अनेक है - इस बात को याद नहीं करता। एक मानकर अनेक मानना, वह वस्तु का साधक है।

(६४७)

व्यवहारनय को गौण करके, निश्चयनय से विचार करने लगेगा, तो सच्चा रास्ता हाथ में आ जायेगा। व्यवहार से आत्मा के असली स्वरूप को नहीं जान सकते। उसका लक्ष करने से आत्मा तिरोभूत हो जाता है। जिसे निश्चय की बात अधूरी लगती है, उसे व्यवहार का पक्ष है।

(६४८)

सात व्यसन से भी अनन्त गुणा पाप → आत्मा को कर्ता मानना। करने की बात से शुरुआत नहीं होती, जैसा स्वभाव है, उसे लक्ष में ले लो। कर्ताबुद्धि छुड़ाने के लिये सबसे ऊँची बात 'होने योग्य होता है', मैं जाननेवाला हूँ।

(६४९)

मार्मिक बात → राग का भिन्नरूप से भी भासन नहीं होना चाहिए। सूक्ष्म बात राग लम्बे समय तक ज्ञान का ज्ञेय हुआ तो कर्ता का कर्म बन जाता है।

(६५०)

भेदज्ञान का विचार, वह अनुकूल व्यवहार है। पर्याय को सुधारना, यह लाईन ही गलत है; यह प्रतिकूल व्यवहार है। व्यवहारज्ञान भी किसका नाम? आत्मा को अनुमानरूप से जाने, वह! 'भेदबुद्धि करने से - जीववस्तु जीव को जानता है।'

(६५१)

व्यवहारनय का विषय (गुणस्थान आदि भेद विकथा), उसे जानना यह खोटा सिक्का है। त्रिकाली को जानना (सुकथा), उसका एक पैसा भी काफी है।

(६५२)

जैसे सिद्ध को 'कथंचित् शुद्ध' लागू नहीं पड़ता, क्योंकि वे सर्वथा शुद्ध हैं। वैसे ही आत्मा को कथंचित् शुद्ध लागू नहीं पड़ता- क्योंकि वह सर्वथा शुद्ध है। 'आत्मा कथंचित् शुद्ध नहीं, सर्वथा शुद्ध है।' यहाँ तुम्हें प्रमाण में नहीं जाने देना है। निश्चय में रोककर रखना है। यदि प्रमाण में गये तो तुम्हारा वीर्य हीन हो जाएगा।

(६५३)

कुन्दप्रभु का तीसरा नाम (मंगलम् भगवान वीरो, मंगलम् गौतम गणधर) के बाद में है, यह यथार्थ है। उन्होंने ऐसी तीक्ष्ण बात लिखी है → राग हेयरूप से भी जानने में आएगा, तब तक आत्मा हाथ में नहीं आएगा। गजब लिख डाला।

(६५४)

प्रश्न : अनुभव क्यों नहीं हुआ?

उत्तर : नव तत्त्वों से रहित नहीं जाना इसलिए। नवतत्त्व मुझमें नहीं हैं – ऐसा जानेगा, तब नव तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हुआ कहलाता है।

(६५५)

जिसे आत्मा प्राप्त करना है, उसे सर्व प्रथम कथंचित् का प्रयोग नहीं करना चाहिए; सर्वथा का प्रयोग करना चाहिए।

(६५६)

श्रद्धा में तो भेद हेय हैं... परन्तु 'जाना हुआ प्रयोजनवान' उसे भी अब निकाल दे, क्योंकि भेद को जानते ही ज्ञान दब जाता है, क्योंकि भेद परद्रव्य है। बहुत ऊँची बात है → श्रेणी के लिए अब जाना हुए प्रयोजनवान इसको भी निकाल दे, तो मोक्ष हो जाएगा।

(६५७)

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा निर्विकल्प उपयोग में से बाहर आकर कही हुई बात है, आत्मा की वर्तमान दशा अभेद आत्मा में अभेद होती है, इसलिए ज्ञान, आत्मा को ही देखता है।

(६५८)

ज्ञानप्रधान निश्चयनय में दूसरा नय आता है, परन्तु यहाँ तो श्रद्धा पोषक निश्चयनय है, इसलिए इसमें दूसरा नय ही नहीं है।

(६५९)

परमपारिणामिकभाव मेरा लक्षण है, इसमें व्यवहार का जन्म हो गया। बहुत गहन बात है। व्यवहार का नाश करे, उसका नाम निश्चयनय।

(६६०)

पर्याय सापेक्ष द्रव्य का विचार करने से तेरी मृत्यु होगी। विशेष का ज्ञान करने से, उसमें अहंबुद्धि हो जाती है, यह मार्ग केवल स्व की अहंबुद्धि का है।

(६६१)

व्यवहारनय है, वह राहु के स्थान में है। व्यवहार का जन्म हुआ, इसलिए निश्चयनय की मृत्यु हुई, अर्थात् वह नय प्रगट ही नहीं होता।

(६६२)

श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ नम्बर ३१ में आता है कि यह जो निश्चयनय है, वह दृष्टिप्रधान निश्चयनय है। यह निश्चयनय श्रद्धापोषक है, इसलिए उसमें स्यात् नहीं लगता। ज्ञानप्रधान निश्चयनय में स्यात् लगेगा, क्योंकि साथ में व्यवहार का भी ज्ञान करायेगा। यहाँ तो कहते हैं → अभी तू इस नेत्र को बन्द कर दे। व्यवहारनय के नेत्र हमारे पास नहीं है; इसलिए उसका विषय भी मुझे नहीं दिखता। अभी तो यह सविकल्पदशा की बात है। सविकल्पदशा में भी मुझे भगवान ही दिखते हैं।

(६६३)

ऐसा निश्चयनय प्रगट हो तो कार्य हो जाए। वस्तु की शुद्धता नाश नहीं होती, तिरोभूत होती है। अब यह निश्चयनय है, वह व्यवहार का नाश करता है, उसे हम निश्चयनय कहते हैं। यदि वह व्यवहार को जन्म दे तो उसे हम निश्चयनय कहते ही नहीं।

(६६४)

व्यवहार, परमार्थ का प्रतिपादक है या तिरोभूत करनेवाला है? जरा सूक्ष्म बात है → तिरोभूत करनेवाला है। निश्चय, परमार्थ का प्रतिपादक है। व्यवहार, परमार्थ को दिखाता तो है न? (नयचक्र) में कहते हैं व्यवहार, परमार्थ को तिरोभूत करता है। उच्च कोटि के जीवों के लिए है। निचले स्तरवालों को भेदरूप व्यवहार समझने के लिए है; उन्हें वह प्रयोजनरूप है।

(६६५)

(१) कर्ता-कर्म का सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच नहीं होता; वैसे कर्ता-कर्म का भेद एक द्रव्य में नहीं होता। (२) वैसे ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध दो द्रव्य के बीच नहीं होता और ज्ञाता-ज्ञेय का भेद एक द्रव्य में नहीं होता। तत्स्वरूप में ही कर्ता-कर्मपना है, वैसे ही तत्स्वरूप में ही ज्ञाता-ज्ञेयपना है। यह अभेद ज्ञेय का स्वरूप है।

(६६६)

मैं तो ज्ञायक ही हूँ और ज्ञायक ही रहूँगा। सभी तालों की चाबी एक ही है 'ज्ञायक का अभ्यास करना।'

(६६७)

आत्मा का स्मरण करते परद्रव्य का विस्मरण हो जाता है - तो उसने पर का स्मरण छोड़ा - ऐसा उपचार से कहते हैं।

(६६८)

एक स्वपरप्रकाशक स्वभावमय; एक स्वपरप्रकाशक अज्ञानमय; एक स्वपरप्रकाशक निश्चयनय; एक स्वपरप्रकाशक, व्यवहारनय।

(६६९)

निर्मलदृष्टि प्रगट होती है, वह ज्ञायक को ग्रहण करती है, परन्तु ज्ञायक, निर्मलदृष्टि को ग्रहण नहीं करता।

(६७०)

भले ही सांख्यमती हो जाओ, परन्तु निर्दयता से द्रव्य-पर्याय के दो टुकड़े कर दो (इसमें सांख्यमती नहीं बनोगे परन्तु आत्मानुभवी बनोगे)।

(६७१)

पूरी जिन्दगी ध्येय के निर्णय में चली जाए तो भले ही चली जाए। मुझे शुद्धात्मा को ही समझना है, ऐसा वर्तुल छोटा कर दे। शुद्धात्मा के पक्ष के बिना निर्णय नहीं होगा और शुद्धात्मा के अपूर्व पक्ष के बिना समकित नहीं होगा। जिसका आश्रय नहीं करना है, उसे कम जानना हो तो क्षम्य है परन्तु जिसका आश्रय करना है, उस स्वरूप को तो बहुत उल्लास, प्रेम और गहराई से समझना चाहिए।

(६७२)

आत्मा में ज्ञेयत्व की स्थापना होते आत्मा तुझे जानने में आएगा आएगा और आएगा ही। जाननेवाले की जाननेवालेरूप अभेद अनुभूति हुई, तब जाननेवाला जानने में आता है।

(६७३)

इन्द्रियज्ञान, ज्ञान क्यों नहीं है? इसका कारण यह है कि एक तो इन्द्रियज्ञान में आत्मा को जानने की शक्ति का सर्वथा अभाव है; और दूसरा, उसमें ज्ञान का लक्षण घटित नहीं होता। इसलिए!

(६७४)

(१) मिट्टी → घट की पर्याय करनेवाली (२) अज्ञानी कुम्हार → स्वयं को घट का कर्ता माननेवाला (३) ज्ञानी → घट की पर्याय हुई - ऐसा जाननेवाला।

(६७५)

अमितगति आचार्यदेव ने योगसार प्राभृत में कहा है, एक ज्ञान में तीन गुण हैं (१) पाचक = श्रद्धा, (२) प्रकाशक = ज्ञान, (३) दाहक = चारित्र।

(१) प्रकाशक - परिणामी द्रव्य, (२) प्रकाश्य अपरिणामी द्रव्य (३) प्रकाश - ज्ञान पर्याय (४) पूरा स्वज्ञेय आया, उसमें परज्ञेय आता ही नहीं।

(६७६)

प्रतीति के लिए सर्व विचारों में 'मैं ज्ञायक हूँ' यह मूलभूत प्रकार है। 'ज्ञायक' शब्द का विचार करने से आत्मा हाथ में आ जाएगा। एक को जानने में पूरा वीर्य लगा देना! तब तो एक का अनुमान होगा।

(६७७)

समकित होने में दो भूल हैं (१) है ज्ञाता और मानता है कर्ता, (२) है ज्ञायक का ज्ञाता और मानता है, पर का ज्ञाता।

(६७८)

चोटी की बात → जैसे सिद्ध भगवान, दुःख के भोक्ता नहीं है, वैसे समस्त जीव, दुःख के अभोक्ता हैं। 'कथंचित्' भोक्ता हो तो आँख ही फूट जाएगी।

(६७९)

(ज्ञानी को भी) व्यवहार प्रतिक्रमण में कर्ताबुद्धि हो जाने का सम्भव है।

(६८०)

पर्याय को आत्मारूप से मत देखो। पर्याय व्यवहारजीव है या नहीं? यह अभी भूल जा। एक बार निश्चय जीव को देख ले। जिसे आत्मा ही चाहिए, वह व्यवहार को आगे करेगा ही नहीं।

(६८१)

जानने में द्रव्य-गुण-पर्याय सब सत् ही दिखता है। जानने में से हटा तो व्यवहार कर्ता में आया, तो वहाँ सत् का नकार आ गया।

(६८२)

सामान्य जीव सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धा, वही मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व की परमार्थ व्याख्या है।

(६८३)

पर्यायदृष्टि से राग का कर्ता है, यह बात सिद्ध करने जाने से अज्ञान दृढ़ होता है। इसलिए द्रव्यदृष्टि से क्या स्वरूप है, यह बात कर। जब निकटभव्यपना आवे, तब उसका ध्यान मूल तत्त्व पर खिंचता है।

(६८४)

व्यवहार से भी राग का कर्ता नहीं है। यहाँ आत्मा में घुसाने का प्रयोजन है। जहाँ व्यवहार से आत्मा को राग का कर्ता कहा हो, वहाँ तो ज्ञान कराने के लिए बात है। बहुत जगह ऐसा लिखा होता है कि अज्ञानभाव से आत्मा कर्ता है, परन्तु वास्तव में आत्मा कर्ता नहीं है; अनात्मा कर्ता है।

(६८५)

निश्चय द्वारा उपनय का प्रलय प्राप्त करा देने से एक निश्चयनय ही प्रकाशित होता है। प्रलय ऐसे कराया कि वस्तु स्यात् शुद्ध नहीं; सर्वथा शुद्ध है। व्यवहार का प्रलय कैसे होता है? यह उपदेश देने जैसा है। अनुभव के बाद व्यवहार आता है, वह तो जाना हुआ प्रयोजनवान है।

(६८६)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के परिणाम को परिणामरूप देखोगे तो वह परमार्थ को प्रसिद्ध नहीं करेगा। यदि उसे परिणाम से देखोगे तो वह व्यवहार, निश्चय को तिरोभूत करेगा।

(६८७)

(१) परिणाम मात्र से भिन्न हूँ → इसलिए उसका कर्ता नहीं।

(२) परिणाम, परद्रव्य होने से → उसका ज्ञाता नहीं है।

(६८८)

वास्तव में प्रयोजन की सिद्धिपूर्वक ही पदार्थ की सिद्धि होती है। इसलिए कहा कि प्रमाण को पार करके जो नय में आता है, वह जिनवचन में कुशल है। जो ज्ञान, द्रव्य को उपादेयपूर्वक जानता है, वह ज्ञान ही द्रव्य-पर्यायसहित प्रमाण के विषय को जानता है। पदार्थ का प्रमाणज्ञान, सम्यग्ज्ञानी को ही होता है।

(६८९)

पर्याय के षट्कारकों के भेद करना, वह व्यवहार है। षट्कारक अभेद हैं, वह निश्चय है। (कर्ता-कर्म का अनन्यपना है)।

(६९०)

मैं पर को जानता नहीं, इसमें ज्ञान, पर से व्यावृत्त होकर, जीव की दृष्टि होकर संवर प्रगट होता है। (यह विशेष अपेक्षा से कथन है) ज्ञान, पर से व्यावृत्तस्वरूप ही है, क्योंकि ज्ञायक, पर से

व्यावृत्तस्वरूप है। (सामान्य अपेक्षा से कथन है)। जो ज्ञान, पर को जानता है, वह ज्ञान ही नहीं है, परन्तु वह भावेन्द्रिय है।

(६९१)

मिथ्यात्व की अवस्था के समय भी सम्यग्दर्शन का कारण मौजूद है। ज्ञान में ज्ञायक ही जानने में आता है - ऐसा विश्वास करने से ज्ञायक जानने में आता है। यदि जानने में नहीं आता तो वह अतीन्द्रियज्ञान नहीं होता।

(६९२)

पर्याय, उपादेय तो नहीं, परन्तु हेय भी नहीं और ज्ञेय भी नहीं है। पर को जानना बन्द होता है, तो स्वज्ञेय के दर्शन होते हैं। जहाँ तक पर्याय, ज्ञेयरूप जानने में आएगी, तब तक चारित्र नहीं आएगा, परिणति रहेगी।

(६९३)

परिणाम से सहित होने पर भी, इन सब पर्यायों से रहित है, ऐसे एक जीवतत्त्व की सकल अर्थ की सिद्धि के लिए भावना भाता हूँ। पर्याय मुझसे भिन्न है, विनाशीक है। मैं अनन्त गुणों से अभिन्न और अविनाशी हूँ।

(६९४)

समयसार, गाथा ३८ – भावकभाव और ज्ञेयभाव दोनों को मूल से उखाड़ डाला। बाद में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध; कर्ता-कर्म सम्बन्ध का अभाव हुआ। अब ज्ञाता-ज्ञेय के व्यवहार को उल्लंघ करके, भेद उपचार को उल्लंघ करके अन्दर चला जाता है।

(६९५)

सामान्य है, उतना ही आत्मा है; विशेष है, वह आत्मा नहीं है। (सामान्य शुद्धम् विशेष अशुद्धम्) पर्याय के लक्ष से परिणाम शुद्ध नहीं होते।

(६९६)

(१) एक के आश्रय से एक का ही ज्ञान होता है → शुद्धनिश्चय।

(२) एक के आश्रय से दो का ज्ञान होता है → निश्चय प्रमाण।

(३) एक के आश्रय से अनेक का ज्ञान होता है → व्यवहार प्रमाण।

(६९७)

परम अध्यात्म तरंगिणी में → ज्ञान की पर्याय का लक्षण बाँधा... 'पर लक्ष अभावात्, चंचलता रहितम्, अचलम् ज्ञानम्।' यह तो कोई अपूर्व सूत्र है।

(६९८)

ज्ञाता निश्चय से तो परिणाम नहीं करता, व्यवहार से भी नहीं करता। अब उपचार से कर्ता में रुकेगा तो सम्भव है कि कर्ताबुद्धि हो जायेगी; इसलिए ज्ञानी को उपचार भी खटकता है। जहाँ तक कर्ता का उपचार और ज्ञाता का उपचार लागू पड़ता है, तब तक मोक्ष नहीं होगा। उपचार से कर्ता का उपचार पार कर गया; उपचार से ज्ञाता का उपचार पार कर गया तो श्रेणी आ गई। निषेध से शुरु हुआ था, इसलिए निषेध के संस्कार थे, तो उसका बड़ा लाभ हो गया। आत्मार्थी निकटभव्य को निषेध का जोर आता है।

(६९९)

'मुझे पुरुषार्थ करना है' इसमें पुरुषार्थ छूट गया। (पुरुषार्थ मूर्ति का लक्ष छूट गया, तो पुरुषार्थ प्रगट ही नहीं हुआ।) आत्मा का स्वरूप, द्रव्य से देखने की आदत डालना, पर्याय से देखने की आदत छोड़ना।

(७००)

स्वभाव की प्रतिज्ञा है कि मैं दर्शन दूँगा तो सम्यक् एकान्त में ही दर्शन दूँगा। ज्ञानी, स्वभावदृष्टि से वस्तु को देखता है; अज्ञानी, पर्यायदृष्टि से वस्तु को देखता है।

(७०१)

निश्चयनय के दो भेद मानना सर्वज्ञ की आज्ञा के बाहर है। निरपेक्ष निश्चयनय एक ही है। हमें पता है। '**निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्ष वस्तुतेऽर्थकृत।**' निरपेक्षनय मिथ्या होता है और सापेक्षनय सम्यक् अर्थात् सार्थक होता है। यहाँ उससे आगे की बात है। जिस नय से हमारा काम नहीं होता, वह वास्तव में सम्यक् नय नहीं, कुनय है।

(७०२)

जैसे राग करने की शक्ति आत्मा में नहीं है; वैसे पर को जानने की शक्ति (क्षणिक) ज्ञान उपादान में नहीं है।

(७०३)

प्रश्न : आत्मज्ञान क्यों उदित नहीं होता?

उत्तर : समस्त विश्व, ज्ञेय को ज्ञान मानता है; इसलिए आत्मज्ञान उदित नहीं होता। पर को जानने का अभिप्राय चालू रखे और आत्मा जानने में आ जाए - ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता।

(७०४)

प्रथम उपयोग में आत्मा का पक्ष आता है। दूसरे उपयोग में आत्मा पक्षातिक्रान्त हो जाता है। द्रव्यलिंग ने बहुत जाना, परन्तु उपयोग में उपयोग है, यह नहीं जाना।

(७०५)

ऊँची बात → यदि एक समय भी ज्ञान, ज्ञायक से अलग हो जाए तो ज्ञायक का अस्तित्व नहीं रहता। जीव एक समय भी जीव को जानना छोड़ दे तो वह अजीव हो जाये, जड़ हो जाये।

(७०६)

ज्ञान का लक्षण इन्द्रियज्ञान में व्यापता नहीं है, इसलिए इन्द्रियज्ञान, जड़ और पौद्गलिक है।

(७०७)

निश्चय, व्यवहार, प्रमाण यह सब सम्यग्ज्ञान प्रगट होने के बाद लागू पड़ते हैं।

(७०८)

रहस्यमय बात → ज्ञान का ज्ञानत्व, यह... क्या? ज्ञान का अज्ञानत्व, यह... क्या?

(७०९)

लक्ष के स्वभाव में स्व प्रकाशता है ही, परन्तु ज्ञानत्व में अन्दर स्व-पर प्रकाशमयी अभेद स्वज्ञेय जानने में आता है; वह भी स्वप्रकाशक ही है। स्वप्रकाशता दो प्रकार से है - (१) निर्विकल्प निराकार, (२) सविकल्प साकार, समय एक।

(७१०)

मैं अकर्ता हूँ - ऐसी श्रद्धा का बल जैसे का तैसा रखकर; जो अकर्ता पक्ष था, वह क्रम से नाश होता हुआ विलय होता है और ज्ञान मध्यस्थ होकर अनुभव हो जाता है। (वह सम्यक् प्रकार से कर्ता हुआ)।

(७११)

आत्मा सुख का सागर है, उसमें दुःख नहीं, कि जिससे वह टलकर सुख मिले। दुःख तो उदयाधीन दृष्टि के कारण होता है। पर्याय में दुःख है, परन्तु मुझमें नहीं, ऐसे वहाँ से जरा-सा हट जा न!

(७१२)

दुःख है, वह आत्मसन्मुख होने में बाधक नहीं, परन्तु मुझे दुःख है, यह बुद्धि, बाधक है। तू ज्ञानमय है और दुःखमय हुआ ही नहीं; इसलिए विचार को बदल कि - 'मैं ज्ञानमय और सुखमय हूँ' यह मोक्ष के कारण का सेवन है। इससे अल्पकाल में मोक्ष होगा। 'मैं ज्ञानमय हूँ' – ऐसे पक्ष में आकर आगे बढ़ेगा तो 'मैं ज्ञानमय हूँ' - ऐसा अनुभव होता है। 'ज्ञानमय' कहने से ध्येयपूर्वक ज्ञेय।

(७१३)

समयसार में 'ज्ञान, वह आत्मा' यह वाक्य व्यवहार का प्रतिपादक है। जबकि नयचक्र में लिखा है कि 'ज्ञान, वही आत्मा' यह निश्चय, परमार्थ का प्रतिपादक है। पहले में निश्चय का भेद उठता है; जबकि दूसरे में निश्चय स्वयं अभेदभाव से है।

(७१४)

दृष्टि का विषय अभी ठीक से बैठा न हो और ज्ञान का विषय ले लेने से, उसे दृष्टि का विषय बैठता ही नहीं। जिसके लक्ष से अतीन्द्रियज्ञान होता है, वही ज्ञान का विषय होता है। जिसके लक्ष से राग होता है, वह ज्ञान का विषय नहीं होता।

(७१५)

अकर्ता को कर्ता माना, वह इतनी बड़ी भूल है कि उससे भटक रहा है। इस भव में नक्की कर ले कि - 'मैं अकर्ता हूँ और कर्ता नहीं।' आत्मा अकर्ता है, ऐसा बैठ जाए तो अल्प समय में मुक्ति हो जाए। अज्ञान का मूल कर्तापणा है। आत्मा अकर्ता है, इस बात की तरफ अनन्त काल से जीव का ध्यान ही नहीं गया। आत्मा को अकर्ता स्वीकार करने से ज्ञाता हो जाता है। खास बात पर ध्यान केन्द्रित करने जैसा है। परिणाम का कर्ता नहीं और पर का ज्ञाता नहीं, ऐसा स्वभाव लक्ष में आए तो काम हो जाए। ऐसा है!

(७१६)

कुन्दकुन्द भगवान ने बन्ध अधिकार में गजब कर दिया है। 'धर्मद्रव्य जानने में आता है, यह अध्यवसान है।' भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्ददेव का नाम तीसरे स्थान पर है, यह यथार्थ है।

(७१७)

मैं अकर्ता ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ - ऐसा बार-बार विचारने से कर्ताबुद्धि गलती है। कर्ताबुद्धि गलती है, वहाँ लक्ष नहीं होना चाहिए। गलता है, वह मेरे ज्ञान का ज्ञेय न हो!! मेरे ज्ञान का ज्ञेय एक ज्ञायक ही हो!

(७१८)

उत्पाद सत् है, उसे करे कौन? यह जैनदर्शन का महासिद्धांत है। प्रकाशक, वह तो जाननेवाला है, उसे कर्ता मानना बहुत बड़ी भूल है।

(७१९)

धर्मद्रव्य → ज्ञान को प्रसिद्ध करता है, यदि ऐसा लेगा तो तेरी दृष्टि, ज्ञान के ऊपर चली जाएगी।

(७२०)

रहित के श्रद्धानपूर्वक सहित का ज्ञान हो, यह निश्चय-व्यवहार की सन्धि है। परिणाम से रहित हूँ - ऐसा मानता है, तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से कथंचित् सहित हूँ - ऐसा जानने में आता है। रहित और सहित का खेल जो खेलना जानता है, उसका काम हो जाएगा।

(७२१)

स्वयं मनुष्य होने पर भी, खुद को पशु माने तो वह बात शत-प्रतिशत गलत है। वैसे ही जीव शुद्ध ही है; उसे शरीरवाला और रागवाला मानना शत-प्रतिशत गलत बात है। आत्मा को अशुद्ध मानना, वह मनुष्य को गधा मानने जैसा है।

(७२२)

पर्यायदृष्टि है, तब तक पर्याय में राग है - ऐसा जानने में आता है। द्रव्यदृष्टि होती है, तब पर्याय में ज्ञान होता है - ऐसा अनुभव होता है। जो राग बाकी रह गया है, वह ज्ञान का केवल ज्ञेय हो जाता है।

(७२३)

पहले निश्चय अच्छी तरह बैठ जाना चाहिए। निश्चय भलीभाँति बैठे बिना व्यवहार यथार्थ समझ में नहीं आता। जो व्यवहार का निषेध नहीं कर सकता, वह आत्मा को प्राप्त ही नहीं कर सकता। निश्चयनय से जब तक व्यवहार का निषेध नहीं होता, तब तक स्वभाव का निर्णय नहीं हो सकता। निश्चय, अज्ञाननाशक है; जबकि व्यवहार, अज्ञानपोषक है।

(७२४)

अनादि से यह निश्चय की बात समझा ही नहीं है। आत्मा में राग होता है, यह सबको अनुभव से सिद्ध हुई बात है। अनादि से यह बात परिचित है। आत्मा में राग होता ही नहीं, यह बात समझने लायक है।

(७२५)

आत्मदर्शन के लिए पहले श्रद्धा का अभ्यास करना चाहिए, फिर आत्म-सन्मुख उपयोग काम करता है। इस उपयोग को इन्द्रियज्ञान या कषाय की मन्दता की अपेक्षा नहीं है।

(७२६)

जिसमें कषाय जानने में आती है, उस ज्ञान की पर्याय को देखना तो बन्द कर! परन्तु जिस ज्ञान की पर्याय में अनन्त सिद्ध जानने में आते हैं, उस ज्ञान की पर्याय को भी देखना बन्द कर दे। परज्ञेय को जानना पाप है, अधर्म है; स्वज्ञेय को जानना, वह धर्म है।

(७२७)

जैसा सामान्य है, वैसा ही विशेष होता है। विशेष जब सामान्य से विरुद्ध जाता है, तब गहरा विचार माँगता है कि यह विशेष किसका है? द्रव्य को जाननेवाला ज्ञान, द्रव्य की जाति का होना चाहिए। सामान्य से जिस परिणाम की जाति अलग पड़ती है, वह सामान्य का विशेष नहीं है।

(७२८)

बात को लम्बी करेगा तो फिसल जाएगा, छोटी करेगा तो टिक जाएगा। इसलिए विचार के वर्तुल को छोटा कर दे। तेरे द्रव्य, पर्याय के अलावा, दूसरे विचार को छोड़ दे। जब तक स्वभाव से नहीं विचारेगा, तब तक स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी।

(७२९)

आत्मा अनादि से एकरूप है। उसके दो रूप, तीन रूप हों तो मैं उसे दूसरे नय से देखूँ न! परन्तु जो सदा एकरूप है, उसे मैं दूसरे नय से कैसे देखूँ?

(७३०)

मेरा लक्ष शुद्धात्मा के ऊपर पड़ा है, वहाँ से हटता नहीं; इसलिए कथंचित् अशुद्ध मुझे दिखता नहीं। आप भी ऐसे आत्मा के दर्शन करो तो समकित होगा। पहले से दोनों पक्ष का ज्ञान करने में भी, द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन लेने से; दोनों पक्ष का यथार्थ ज्ञान होगा। आत्मा को

मुख्य रखने से सभी पक्ष समझ में आ जाएँगे। पहले तो ऐसे ही लेना कि मैं तो पूर्ण हूँ, परिपूर्ण हूँ, निरावलम्ब हूँ, निरावरण हूँ।

(७३१)

ज्ञायक तो सबके हाथ में आ गया। अब इस बात का जवाब दो कि - काम क्यों नहीं होता? व्यवहार को निषेध करने का वीर्य उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए।

(७३२)

प्रश्न : शुद्धनय के विषय का विचार उसके विशेषणों से करते हैं, उसका ध्यान करते हैं, फिर भी कार्य की सिद्धि क्यों नहीं होती?

उत्तर : एक तो शुद्धात्मा के निर्णय बिना ध्यान कार्यकारी नहीं होता। दूसरा, शुद्धात्मा का विचार करता है, परन्तु व्यवहार का पक्ष रखकर करता है; इसलिए व्यवहार के पक्ष में मिथ्यात्व का पोषण होता है। अपूर्व वीर्य उत्पन्न होना चाहिए, वह नहीं होता।

(७३३)

व्यवहार के पक्ष के अनेक प्रकार हैं। द्रव्य-पर्याय के प्रदेश भिन्न होने पर भी, व्यवहार उसे अभिन्न कहता है। इस व्यवहार का जिसे निषेध नहीं आता, वह व्यवहार के पक्षवाला जीव है; उसमें पक्षातिक्रान्त होने का अवकाश नहीं है। द्रव्य-पर्याय के प्रदेशभेद की बात दृष्टि का विषय प्राप्त करने के लिए अपूर्व है।

(७३४)

मैं अकर्ता हूँ - ऐसा अज्ञानी सोचे तो क्या यह मायाचार है? यह मायाचार नहीं है, सच्चा विचार है। सच्चा विचार करने से ही द्रव्य के मार्ग पर आगे बढ़ेगा। द्रव्य को 'मैं पने' देखता हुआ ऐसा कहता है कि मैं अकर्ता हूँ। पर्याय को देखकर नहीं कहता।

(७३५)

स्वभाव निष्क्रिय होने से, उसमें स्वपरप्रकाशकत्व नहीं है परन्तु पर्याय में निश्चय से स्वपरप्रकाशकत्व ही है।

(७३६)

ज्ञानमयी होकर, ज्ञानरूप परिणमन करके, ज्ञानमय आत्मा त्रिकाल ज्ञेय हो गया।

(७३७)

समकित क्यों नहीं होता? विशेष को जानने का रस है इसलिए। सामान्य को जानने की अन्दर से जैसी उत्सुकता होनी चाहिए, वैसी नहीं होती; इसलिए उसका निर्णय करके अनुभव करना।

(७३८)

प्राथमिक भूमिका में भेदज्ञान के अलावा और कोई उपाय नहीं है। मोह के नाश का उपाय भेदज्ञान है। हर पल निरन्तर अप्रतिहतभाव से भेदज्ञान का मन्त्र भाने जैसा है। यदि संसार से छूटना है तो चौबीसों घण्टे भेदज्ञान का प्रयोग चालू रखना चाहिए।

(७३९)

दृष्टि के विषय में आते ही ज्ञान सम्यक् होता है। रहित के बल से सहित का ज्ञान होता है। सहित से उठता है, वह तो अज्ञान है; व्यवहार नहीं है।

(७४०)

कर्तापना से भी भयानक भूल है → पर जानने में आ रहा है और 'पर को जानता हूँ'। इस बात पर चौकड़ी (x) नहीं लगायेगा, तब तक अनुभव नहीं होगा। मैं ज्ञाता और छह द्रव्य मेरा ज्ञेय, यह भ्रान्ति है।

(७४१)

सत्य अन्दर से मिलेगा; गुरुदेव के पास से नहीं मिलेगा। अपने हाथों से ही काम करना है। स्वतन्त्र मंथन चाहिए। करणगुण आत्मा के अन्दर है, बाहर के साधन नाकाम हैं।

(७४२)

विकार का हेतु अजीव है, ऐसे नहीं समझाना है, परन्तु मैं उसका हेतु नहीं हूँ, यह समझाना है।

(७४३)

'होने योग्य होता है' - ऐसा जो जानता है, वह ज्ञानी है। यह परिणाम मैंने किया - ऐसा जिसे जानने में आता है, वह अज्ञानी है। अकर्तापणा जैनदर्शन की पराकाष्ठा है।

(७४४)

अकर्ता ही हूँ, फिर कर्ता भी हूँ - ऐसा आये तो बराबर है, परन्तु अकर्ता भी हूँ और कर्ता भी हूँ, यह बराबर नहीं है।

(७४५)

पर्याय, पर के साथ सम्बन्ध करती है, जबकि द्रव्यसामान्य, पर के साथ के सम्बन्ध बिना का है। पर्याय में बन्ध रहता है, परन्तु भगवान आत्मा तो मुक्त ही है।

(७४६)

निज परमात्मा को भूलकर अन्य की अधिकता लगे तो गलत हो जाता है। सर्वोच्च तत्त्व तो निज परमात्मा है। उससे कोई महान नहीं है। सादि-अनन्त काल आनन्द का दाता तो अपना परमात्मा है। इस तरह स्वभाव की अधिकता का विचार करके, पर की अधिकता का निषेध करना।

(७४७)

प्रथम क्या करना? ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना। आत्मप्राप्ति के लिए यह व्यवहार है। 'केवलमात्र ज्ञाता ही हूँ' - ऐसा निश्चय करे तो सम्यक्-सन्मुख हो जाता है।

(७४८)

जानने में तो आता है शत-प्रतिशत ज्ञान, और मानता है कि शत-प्रतिशत जानने में आता है, ज्ञेय; उससे पर जानने में नहीं आता → यह मोह के नाश का उपाय है। मुझे राग होता है, वह तो भ्रम है। मुझे तो ज्ञान हो रहा है और उसमें ज्ञायक जानने में आ रहा है, वह तो हकीकत है।

(७४९)

आत्मा को प्रसिद्ध करे वह ज्ञान की मर्यादा है। देव-गुरु-शास्त्र को प्रसिद्ध करे, वह ज्ञान, मर्यादा से बाहर चला गया।

(७५०)

जैसे मनुष्य होने पर भी स्वयं को पशु मानता है, वैसे शुद्धात्मा होने पर भी स्वयं को आस्रववाला मानता है। तू भावकर्म से भिन्न है.... वहाँ से तो शुरुआत होती है।

(७५१)

अनित्य की दृष्टि करने से नित्य का अज्ञान रह जाता है; इसलिए अनित्य का भी अज्ञान रहता है परन्तु नित्य के आश्रय से अनित्य का ज्ञान सहज हो जाता है।

(७५२)

इस जगत में वास्तव में कोई निमित्त है ही नहीं; सब ज्ञेय हैं। वीतराग जब सर्वज्ञ होते हैं, तब सारा जगत ज्ञेय की तरह जानने में आता है। कोई निमित्त दिखता ही नहीं। हैं तो सब ज्ञेय ही, परन्तु मूर्ख अज्ञानी, निमित्त बनाते हैं।

(७५३)

ज्ञान के ज्ञेय में से सात तत्त्व निकल नहीं जाते, परन्तु ... श्रद्धा के विषय में सात तत्त्व आते ही नहीं। आत्मा की दृष्टि हुई, वहाँ नवतत्त्व दिखते ही नहीं, इसलिए यह अवस्तु है। आहाहाहा! हजम करना कठिन पड़े ऐसी बात है।

(७५४)

एक समय भी आत्मा, पर्याय से रहित नहीं रहता। मिथ्यात्व से भेदज्ञान हुआ तो अनुभव हुआ; तो निर्मल पर्याय से सहित हो गया। पर्याय से रहित कहाँ रहा? यह ज्ञान प्रधान बात है।

(७५५)

परद्रव्य के कारक उसके द्रव्य में है, इसलिए मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। इसी प्रकार पर्याय के षट्कारक पर्याय में हैं, इसलिए मैं पर्याय का कर्ता भी नहीं हूँ। आत्मा अकारक और अवेदक है। यदि कर्ता हो तो संवर-निर्जरा को ही क्यों करे? सीधा मोक्ष को ही करे न!

(७५६)

ध्येय की भूल से ध्यान की भूल; लक्ष्य की भूल से लक्षण की भूल; ज्ञेय की भूल से ज्ञान की भूल; इसलिए ध्येय की भूल रखकर ध्यान की भूल को नहीं निकाल सकते। राग का कर्ता बने या राग का अकर्ता बने - ऐसा आत्मा ध्येय नहीं है।

(७५७)

जैनदर्शन की मूल बात ध्येय तथा ज्ञेय का विचार करना। ध्येय का भी पक्ष नहीं और ज्ञेय का भी पक्ष नहीं, तब अनुभव होता है। दृष्टि तथा ज्ञान की सन्धि, वह अपूर्व सन्धि है, असाधारण चीज़ है। जब तक सन्धि नहीं होती, तब तक द्रव्य के प्रति राग और पर्याय के प्रति द्वेष रहता है; इसलिए ज्ञान मध्यस्थ नहीं होता। बहुत गम्भीर विषय है। (इस पर) बहुत मन्थन अपेक्षित है।

(७५८)

कोई जीव, दृष्टि के विषय के एकान्त पक्ष में चढ़ जाए तो उसे ज्ञान का द्रोह होता है; इसलिए उसे अनुभव नहीं होता। यह साधारण बात नहीं है।

(७५९)

सूक्ष्म बात → पर्याय का स्वभाव भी विभावरूप से रहने का नहीं है; पर्याय में भी परमात्मा बन जाने का मेरा धर्म है। जल कितने समय तक गरम रहेगा? वैसे संसार कितने समय तक रहेगा? संसार का काल अति अल्प है, उससे मोक्ष का काल अनन्तगुणा अधिक है।

(७६०)

द्रव्यदृष्टि की बातें अलौकिक और अपूर्व हैं। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि सुख-दुःख तुझमें नहीं होते, वह तुझसे बाहर होते हैं। लौकिक बातें, व्यवहार की बातें या अशुद्धनय की बातों के साथ शुद्धनय की बातों का मेल नहीं होगा। निगोद में भी इस समय आत्मा दुःखी नहीं है। उसका आत्मा इस समय भी सुख के सागर से भरा हुआ है। वस्तु में दु:ख नहीं है, इसलिए अन्तर्मुख होते सुख का ही अनुभव आता है।

(७६१)

इस जीवन में शुद्धात्मा के स्वरूप को समझना है, ऐसी रुचि करना और बढ़ाना तो ही तत्त्व हजम होगा। आत्मा के प्रति प्रेम रखना; उसकी ही अधिकता रखना; अन्दर से जरूर मार्ग मिलेगा।

(७६२)

मैं ज्ञानमय हूँ तथा दुःखमय तो पुद्गल है - यह परमात्मा बनने की बात है। दुःख तो ज्ञेय है, परन्तु ज्ञेय-ज्ञायक के भेदज्ञान से शून्य होने से स्वयं को दुःखी मानता है।

(७६३)

आत्मा, मिथ्यात्व से सदा रहित है। रहित का ज्ञान और श्रद्धान कोई अद्‌भुत और अनोखी चीज है। आत्मा, राग से सर्वथा रहित है। वस्तु तो त्रिकाल शुद्ध है।

(७६४)

पर्याय में राग है, यह कोई सिखाने की बात नहीं है। राग से भिन्न भगवान आत्मा है, यह सिखाने की बात है।

(७६५)

आत्मा शुद्ध है, इस बात पर वजन है। शुद्ध होगा, यह जानने की चीज है। 'है' यह लक्ष करने योग्य चीज है। पर्याय की बातें सब करते हैं, द्रव्य की बातें करनेवाले कोई अनुभववाले विरल ही होते हैं। सामान्य के पक्ष की बात, जिसे अल्पकाल में जँच जाती है; उसे अति अल्पकाल में सम्यग्दर्शन हो जाता है। श्रद्धा बहुत बलवान है; क्योंकि उसमें कथंचित् नहीं है।

(७६६)

नव तत्त्व तो अभूतार्थनय का विषय है। नव तत्त्व मुझमें नहीं हैं - ऐसा ज्ञान उसका नाम नव तत्त्वों को भूतार्थनय से जाना, ऐसा कहना है। नव तत्त्व अनुभव से असिद्ध होते हैं। अनुभव में नव हैं ही नहीं। दिखते नहीं, इसलिए सिद्ध नहीं होते।

(७६७)

'मैं कर्ता हूँ' ऐसा लेने से तुम्हारी नजर कर्म के ऊपर ही जाएगी। 'मैं अकर्ता हूँ' ऐसा लेने से तुम्हारी नजर द्रव्य के ऊपर जाएगी। काम नहीं होता, उसका कारण कहीं न कहीं कर्ताबुद्धि का पोषण होता है। अन्त में शास्त्र के नाम से भी कर्ताबुद्धि का पोषण होता है।

(७६८)

परिणाममात्र से रहित हूँ, यह बात बैठ जाए, उसे परिणाम सुधारने का अभिप्राय नहीं रहता। इस बात का हंकार अन्दर से आना चाहिए। स्फुरणा होनी चाहिए कि 'ज्ञाता और कर्ता नहीं', बार-बार प्रयोग करने से गहरे संस्कार पड़ते हैं।

(७६९)

जिसे याद करोगे, वह जानने में आएगा। चैतन्य को बारबार याद करने से चैतन्य जानने में आएगा। भेदज्ञान के विचार में यदि अभेद का जोर आ जाए तो सम्यग्दर्शन हो जाता है।

(७७०)

अकर्ता का लक्ष छूटे नहीं और कर्ता-कर्म का भेद दिखे नहीं, तब अनुभव होता है। 'कर्ता, कर्म, क्रिया भेद नहीं भासतु हैं, अकर्तृत्व शक्ति अखण्ड रीति धरी है।'

(७७१)

दुःख, पुद्गल में होता है, परन्तु मानता है कि 'मैं दुःखी', तो वह अज्ञान हो जाता है। जब ऐसा ख्याल में आता है कि राग तो ज्ञेय है और मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञाता हूँ, तब उपयोग अन्तर्मुख होता जाता है।

(७७२)

'होने योग्य होता है,' इसमें विकार का काल भी नहीं बदलता... और अनुभाग भी नहीं बदलता। मैं उसे करता हूँ - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि होता है। 'होता है', उसे कौन करे? 'नहीं होता है', उसे कौन करे? 'हटता है' उसे कौन हटाए? व्यवहारनय से कर्ता कहलाता है, परन्तु निश्चयनय की मुख्यता से कर्ता नहीं है। समकित प्रगट करने के लिए यह बात कही है।

(७७३)

पहले निश्चय की बात को बहुत अच्छी तरह समझना चाहिए। पूरा वीर्य पहले ज्ञायकस्वभाव को समझने में लगाना चाहिए। ध्यान एक वस्तु पर केन्द्रित होगा तो बाद में ज्ञान दोनों को जानेगा।

(७७४)

पूरा समुद्र मन्थन करके किनारे जाना है; उसी प्रकार सब कुछ जान कर 'मैं ज्ञायक हूँ' वहीं पहुँचना है। तो पहले से यह करने में क्या तकलीफ है? कथन तो अनेक नय के आते हैं, परन्तु शुद्धनय का विषय क्या है, वहाँ ध्यान केन्द्रित किये बिना द्रव्यदृष्टि नहीं हो सकती। अध्यात्म शास्त्र में किस अपेक्षा से बात है, और क्या प्रयोजन है; यह बात बराबर समझे तो सब यथार्थ समझ में आ जाता है। आत्मा का लक्ष रखकर अभ्यास करने लगे तो नई लब्धि प्रगट होती है, और धीरे-धीरे ऐसी शक्ति खुलती है कि अध्यात्म-शास्त्र और उनमें रहे हुए भावों को समझने की शक्ति बढ़ जाती है।

(७७५)

श्री समयसार में कहा है कि 'परिणमित होता है, इसलिए कर्ता', इस बात को गौण करके; यहाँ आत्मा परिणाम का अकर्ता है, यह बात मुख्य है, क्योंकि उसका स्वामी नहीं है। कर्ताबुद्धि को छुड़ाना है। कर्ता अलग बात है और कर्ताबुद्धि, वह अलग बात है।

(७७६)

समाज धक्का मारेगा, परिवार धक्का मारेगा, देह भी धक्का मारेगा, परन्तु भगवान आत्मा कभी धक्का नहीं मारेगा।

(७७७)

निश्चयनय के पक्ष में आकर आत्मा के स्वभाव का अवलोकन तो कर! दृष्टि को बदलकर आत्मा को देखने का है। स्वभाव की बात सुनने से तुझे नया बल तथा शक्ति मिलेगी। शास्त्र में निश्चयनय के कथन कहीं-कहीं पर हैं, तो भी जिसकी दृष्टि उसके ऊपर गई, उसका अल्पकाल में मोक्ष हो जाएगा।

(७७८)

एक शुद्धात्मा में ध्यान केन्द्रित करने जैसा है। भेद में ध्यान केन्द्रित करोगे तो पण्डित तो बनेगा, परन्तु ज्ञानी नहीं बनेगा। अभेद को छोड़कर भेद को जानने रुकता है, वहाँ भेद का ज्ञान नहीं, परन्तु मैं भेदरूप हूँ - ऐसा अज्ञान हो जाता है।

(७७९)

जैसे संगमरमर के घर में बबूल के काँटे उगें और चुभें - ऐसा अवकाश ही नहीं; वैसे भगवान आत्मा में भावकर्म के काँटे उगने का अवकाश ही नहीं है।

(७८०)

समयसार के अजीव अधिकार में सबसे तीक्ष्ण बात है। तीक्ष्णता के बिना पर्यायदृष्टि नहीं छूटेगी। शुद्धभाव अधिकार से भी समयसार का अजीव अधिकार ऊँचा है... क्योंकि उसने नास्ति में ही जीव का स्वरूप मान लिया है।

(७८१)

देशनालब्धि सुनने में भी, जो आत्मा को ऊर्ध्व रखकर सुनता है; उसे शुद्धात्मा का पक्ष आ जाता है और पक्षातिक्रान्त हो जाता है।

(७८२)

आत्मा ज्ञाता और छह द्रव्य ज्ञेय, यह भ्रान्ति है, अध्यवसान है। किसके जैसा अध्यवसान? 'मैं पर को जीवित रखता हूँ,' उसके जैसा अध्यवसान।

(७८३)

निरन्तर गहन विचार अपेक्षित है। विचारने में स्वाधीनता है, पढ़ने में, सुनने में पराधीनता है। गम्भीर बनकर, सावधान होकर, आत्मार्थी बनकर अनुभव का प्रयत्न करना। सर्वथा पराधीनता अच्छी नहीं। थोड़ी स्वाधीनता भी चाहिए।

(७८४)

समस्त सुकृत भोगियों के भोग का मूल है। योगी उसे भोगते नहीं, क्योंकि वे उसे उत्पन्न नहीं करते।

(७८५)

ध्येय का निर्णय करने की लाईन पर जाना। जो ध्येय का निर्णय करे, उसका नाम ध्यान। जिसका ध्यान निश्चय की ओर खिंचता है; उसका अल्पकाल में मोक्ष हो जाएगा।

(७८६)

इन्द्रियज्ञान के ऊपर रोक इस तरह लगाना कि → मैं पर को जानता ही नहीं : जाननेवाला ही जानने में आ रहा है। पर को जाननेवाला माने, तब तक ध्येय गलत है। पर को जानने के बहाने भी अज्ञान का पोषण होता है। स्व और पर को जाननेवाला, ऐसा लोगे तो भी इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होगा।

(७८७)

अनुभव हो या न हो! मैं तो निरपेक्ष पूर्णानन्द का नाथ हूँ, अनुभव की मुझे अपेक्षा नहीं। संक्षेप रुचिवाला जीव परमशुद्धद्रव्यार्थिकनय का अभिलाषी होता है।

(७८८)

जवाब अंतर में से आता है। 'आत्मा ही चाहिए' ऐसी लगनी लगे, उसे जवाब मिलता है। जिसे शुद्धपर्याय चाहिए, उसे संसार मिलता है। निर्विकल्प होना है या निर्विकल्प हूँ? निर्विकल्प हूँ, ऐसी भावना जागेगी तो निर्विकल्पता आएगी ही आएगी।

(७८९)

क्षायिक समकित भी आत्मा में नहीं है। आगे की ५० से ५५ गाथा में उसे पुद्गल कहेंगे। अध्यात्म की बात बहुत तीक्ष्ण है, फिर भी मीठी है। कच्चा पारा है। यदि हजम हो जाए तो काया कंचन की बन जाए।

(७९०)

निर्मलपर्याय का भी उपचार से कर्ता नहीं है; ऐसा अकर्ता का पक्ष आकर → अकर्ता को श्रद्धा में दृढ़ कर लिया, परन्तु परिणमा नहीं; इसलिए उसे परिणाम का ज्ञान नहीं हुआ।

(७९१)

शुद्धात्मा ही एक है, उसमें दो भाग नहीं हैं; तो उसे प्रसिद्ध करनेवाला नय भी एक ही होता है न! इस समय हमारा लक्ष प्रमाण के द्रव्य के ऊपर नहीं, परन्तु दृष्टि के विषय के ऊपर है। उसमें दोपना नहीं है, इसलिए उसे प्रसिद्ध करनेवाला नय भी एक ही है।

(७९२)

सबसे बड़ी भूल कर्तृत्वबुद्धि है। एक समय की पर्याय का कर्तापणा भासन हो → वह लोकालोक का कर्ता बन गया। छह द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय सत् हैं। जो सत् है, उसका करनेवाला किसी भी संयोग में अन्य कोई नहीं बन सकता। कर्तापणा का शल्य संसार का बीज है।

(७९३)

ज्ञान का स्वभाव जानना है, उसमें करना कहीं भी नहीं आया। ओ...हो...हो...हो...! जानने में सुख है, करने में दुःख है। कर्ता का अभिप्राय, अगृहीत मिथ्यात्व है। पर को जानने का अभिप्राय, अव्यक्त मिथ्यात्व है।

(७९४)

अनादि से ज्ञाता होने पर भी कर्ता मानता है। अगृहीत मिथ्यात्व है, वह किसी के उपदेश से नहीं हुआ है, इसलिए वह छूटना मुश्किल है। फिर भी स्वानुभव से छूटता है। यदि किसी के कहने से हुआ है, तो किसी के कहने से निकल भी जाता है। सुनता है कि 'ज्ञाता हूँ', फिर भी समय-समय मान्यता में 'कर्ता हूँ' ऐसा ही रहता है।

(७९५)

कुम्हार घट का कर्ता नहीं, यहाँ तक तो आया, परन्तु मिट्टी, घट की कर्ता नहीं; वहाँ तक नहीं आया। यदि मिट्टी कर्ता हो तो मिट्टी तो एकरूप है, तो फिर पर्याय भी एकरूप होनी चाहिए, परन्तु पर्याय को अनेकरूप होती देख कर, मिट्टी, पर्याय की कर्ता नहीं है - ऐसा सिद्ध होता है। त्रिकाली द्रव्य और गुण भी निर्मल परिणाम के कर्ता नहीं। सभी छह द्रव्य निष्क्रिय हैं और उनकी पर्याय सक्रिय है। ऐसे वचन तो खोजे तो मिले।

(७९६)

आत्मा से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मा, एकरूप है, फिर भी ज्ञान में बदलाव होता है, इसलिए आत्मा अकर्ता है। आत्मा, ज्ञानपरिणाम का कर्ता है, यह व्यवहार झूठा है। ज्ञान की पर्याय का भी अकर्ता हूँ, तब ज्ञायक जानने में आता है। शुद्धनय से देखने से आत्मा, परिणाम का कर्ता नहीं है।

(७९७)

पर जानने में आता है, ऐसा सच्चा भासन हो और ज्ञान आत्मसन्मुख हो जाए – ऐसा कभी होता नहीं। समयसार ११ वीं गाथा में से ये सब तार निकलते हैं → समस्त व्यवहार अभूतार्थ है।

(७९८)

राग का मैं कर्ता हूँ - ऐसी जिसकी बुद्धि होगी, उसे समयसार का मर्म ख्याल में नहीं आएगा। राग, आत्मा में तो प्रवेश कर ही नहीं सकता, परन्तु उपयोग में भी राग प्रवेश नहीं कर सकता। उपयोग में राग प्रतिभासित होने से 'मैं रागी' तो अज्ञानी हो जाता है। राग के प्रतिभास के समय में 'मैं ज्ञानमय हूँ' ऐसा प्रतिभास होता है तो ज्ञानी हो जाता है।

(७९९)

अभेद का आश्रय आने से, अभेद में भेद नहीं दिखते; इसलिए भेदाश्रित विकल्प झूठे हैं। वस्तुस्वभाव में भेद नहीं है, इसलिए वस्तु के अनुभव में भी भेद नहीं है।

(८००)

शुद्धात्मा जैसा है, उसी प्रकार प्रतीति होती है। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप को साधने में आता है। प्रतीति के ऊपर वजन है। अनुभव के विषय को समझने में और 'मैं ऐसा ही हूँ' यह दृढ़ करने से जो जोर लगाता है, उसे अनुभव होगा ही।

(८०१)

समयसार में दो ही विभाग हैं - (१) जानना, (२) करना। करना, वह अज्ञान है, ऐसा समझे तो कर्ताबुद्धि छूट जाएगी। 'आत्मा में जानना ही है, करना नहीं'। अनादि के अगृहीत मिथ्यात्व से छूटने का यह मन्त्र है।

(८०२)

कषाय के उफान को शान्त करने का उपाय है कि → ज्ञान में आत्मा ही जानने में आ रहा है, वास्तव में पर जानने में नहीं आ रहा है। द्रव्य-पर्याय के बीच में अत्यन्त भिन्नता है। इन दोनों के बीच अत्यन्त अभाव की मेरु पर्वत जैसी दीवार है।

(८०३)

अनुमान से ज्ञान, ज्ञान को जानता है, उसमें कषाय की मन्दता होती है अर्थात् मिथ्यात्व की मन्दता होती है। ज्ञान, ज्ञान को प्रत्यक्ष जाने तो उसमें कषाय का अभाव होता है। कषाय का अभाव, आत्मा के आश्रय से ही होता है, परन्तु शुभभावरूप कषाय की मन्दता में परम्परा से भव मिलता है।

(८०४)

भेद से मत डर! भेद का तो विलय हो जाएगा। आत्मा जानने में आ रहा है, ऐसा घुंटन कर। यह बात सुनने के बाद इस बात पर जोर देना चाहिए कि जाननेवाला जानने में आ रहा है। 'मैं ज्ञायक हूँ' उसे निर्णय हुआ। फिर यह बात प्रेक्टीकल है कि 'जाननेवाला जानने में आ रहा है'। परोक्ष या प्रत्यक्ष दोनों में आत्मा ही जानने में आ रहा है। अलबत् एक इन्द्रियज्ञान है, दूसरा अतिन्द्रियज्ञान है।

(८०५)

कर्ताबुद्धि है, तब तक कठिन लगता है। यह बात धार रखने के लिए नहीं है, प्रयोग में के लिए है। जड़ जानने में आता है, यह अनुमान गलत है। जाननेवाला जानने में आता है, यह अनुमान सच्चा है।

(८०६)

जैसे, आँख को हाथ या पैररूप मानना गलत है, उसी तरह ज्ञाता को कर्ता मानना भूल है।

(८०७)

मुझे ज्ञान ही जानने में आता है, तो ज्ञान खुल जाएगा; केवलज्ञान का भड़ाका होगा और ऐसा माने कि मुझे ज्ञान जानने में नहीं आता, ज्ञेय जानने में आता है, तो उसका ज्ञान आच्छादित हो जाएगा।

(८०८)

परिणाम से द्रव्य की भिन्नता समझायी है, इसलिए साधक जी सकता है। बाकी आस्रव तो विष्टा जैसा है, उसमें कोई चौबीस घण्टे किस प्रकार से निकाल सकता है?

(८०९)

स्वभाव, विभाव और निमित्त तीनों भिन्न हैं। स्वभाव में विभाव नहीं और विभाव में निमित्त नहीं।

(८१०)

मुझे शुद्ध होना नहीं, 'मैं तो त्रिकाल शुद्ध हूँ' ऐसा भाव अन्दर में से आते, उसे अन्दर से पुकार आती है कि अब मुझे भव और भव का भाव नहीं है।

(८११)

निश्चयनय के पक्ष में आने के बाद, वह पक्ष भी छूटकर अनुभव कैसा होता है; उसकी बात करते हैं। व्यवहार का पक्ष छुड़ाया है, परन्तु व्यवहार का ज्ञान नहीं छुड़ाया। यदि उस ज्ञान को छोड़े तो भूल होती है। पक्ष में राग होता है, मध्यस्थता में वीतरागता होती है।

(८१२)

समयसार, नियमसार की बात अलौकिक है। 'मोक्ष की पर्याय से अत्यन्त भिन्न है' इसलिए आत्मा शुद्ध है।

(८१३)

यह अजीव है, ऐसा विकल्प उठे, वह अजीव है। यह अजीव है, ऐसा उसे जानते ही ज्ञेयाकार ज्ञान का आविर्भाव होता है, इसलिए उसे जानना बन्द कर दे।

(८१४)

भूल खोजने के बदले, त्रिकाली स्वभाव को पहचाने तो भूल निकल जाए। स्वभाव को पहचानने का काम बुद्धिपूर्वक हो सकता है, जबकि भूल तो बुद्धि में पकड़ में आये भी या नहीं भी पकड़ में आये।

(८१५)

धर्म के परिणाम से धर्मी भिन्न है। उस भिन्न का अवलम्बन लेने से भिन्न-अभिन्न का ज्ञान होता है। राग में कथंचित् भिन्न-अभिन्न नहीं लिया था, क्योंकि वह सर्वथा भिन्न है। संवर में कथंचित् भिन्न-अभिन्न लिया।

(८१६)

पहले आत्मा को अकर्ता कहा, फिर कहा कि अकर्ता भी नहीं; जो है, वही है।

(८१७)

जो बन्ध, मोक्ष के परिणाम से रहित है, वह कर्ता या भोक्ता बन ही नहीं सकता। बन्ध-मोक्ष के परिणाम का कर्ता कहना, वह व्यवहार है। जो कर्ता होता है, वह नियम से भोक्ता होता है। आत्मा, कर्ता हो तो भोक्ता भी होता है, परन्तु कर्ता ही नहीं तो भोक्ता कैसे होगा?

(८१८)

त्रिकाली द्रव्य कर्ता-भोक्ता नहीं, इसलिए निष्क्रिय है। क्षणिक आत्मा भोक्ता है। पर्यायधर्म से कर्ता-भोक्ता है। द्रव्यदृष्टि से कर्ता-भोक्ता नहीं है। वेद्य-वेदकपना, कर्ता-भोक्तापना, यह सब पर्याय में है।

(८१९)

पर्याय परिणत जीव भी ज्ञाता है। द्रव्यस्वभाव से तो ज्ञाता है परन्तु पर्यायस्वभाव से - विशेष अपेक्षा से ज्ञाता है।

(८२०)

अकारक, अवेदक - जब उसके श्रद्धा और ज्ञान में आया, तब वह ज्ञानी कहलाया। वह कर्मोदय को, निर्जरा को और उसी प्रकार मोक्ष को जानता है। परिणाम का कर्ता नहीं, कारण नहीं और अनुमोदक भी नहीं है।

(८२१)

जाननेवाले को जाननेवालेपने जानकर, जाननेवाले के रूप से परिणमता है; वह पुण्य को जानने के रूप परिणमता है। जाननेवाला, जाननेवाले को जानते हुए ऐसे जानता है कि 'पुण्य होने योग्य होता है।' होने योग्य और 'करनेवाला' इसमें माल भरा है।

(८२२)

नहीं होने योग्य नहीं होता, और मैं कर्ता, ऐसे भी नहीं है। पुरुषार्थ तो सम्यक् एकान्त का होता है। कर्ताबुद्धि नहीं होती तो जानने में आये बगैर नहीं रहता। जाननेवाले को जाननेवाला जाना, वह अब पुण्य का 'मैं करनेवाला' ऐसे जानता ही नहीं।

(८२३)

व्यवहार के पक्ष के संक्षिप्त में तीन प्रकार है - (१) आत्मा का स्वभाव ज्ञाता है, उसके बदले कर्ता माने तो शत प्रतिशत विपरीतता है, (२) ज्ञान का स्वभाव ज्ञायक को जानने का है, उसके बदले पर का ज्ञाता माने तो शत-प्रतिशत विपरीतता है। (३) व्यवहार का पक्ष समकित में बाधक है, जबकि व्यवहार, चारित्र में बाधक है।

(८२४)

श्रद्धा में कथंचित् नहीं है। या तो आत्मा को कर्तारूप माने या तो वह अकर्ता माने। निश्चय की बात में कथंचित् लगाने से तो राहु आड़े आ जाता है; इसलिए आत्मदर्शन नहीं होता। जिसका मोक्ष निकट है, उसका ध्यान निश्चय पर खिंचेगा।

(८२५)

'मैं ज्ञाता हूँ' इसमें पर का ज्ञाता है - ऐसा नहीं आया, परन्तु अब ज्ञायक में अहंपना आया कि 'मैं ज्ञाता हूँ'। जानने का स्वभाव आदि-मध्य और अन्त में है; इसलिए जानना रह गया और कर्तृत्व निकल गया। 'जाननेमात्र में' ज्ञान का कर्तृत्व नहीं है।

(८२६)

वस्तु का स्वरूप ज्ञान में आए बिना ज्ञान स्थिर नहीं होता। उस ज्ञानस्वरूप में स्थिर हुए बिना विकल्प नहीं टूटेगा, मतलब कि चित्त का निरोध नहीं होगा। वस्तुस्वरूप जैसे हैं, वैसे जानकर, ज्ञान उसमें एकाग्र होते ही, वहाँ राग या विकल्प किसी की उत्पत्ति होती ही नहीं।

(८२७)

एक समय की भूल है, दो समय की भूल नहीं होती। भूल का कोई भण्डार नहीं है। एक समय की भूल है, उसे एक समय में तोड़ सकते हैं; उससे डरने की कोई जरूरत नहीं है।

(८२८)

कर्तापने का तेरा जो अभिप्राय है, वह अर्थक्रियाशून्य है; इसलिए राग की या वीतरागता की पर्याय का कर्ता बनना अशक्य है। आत्मा, शुद्धपर्याय का भी कर्ता नहीं है, वह अकर्ता की चरमसीमा है, पराकाष्ठा है।

(८२९)

जिसे जानते हुए आनन्द आये, वह स्वभाव कहलाता है। ज्ञानी होने के बाद पर को जाने तो व्यवहार कहलाता है, परन्तु अज्ञानी को तो व्यवहार का पक्ष है। करने की भूल तो निकल गई, परन्तु यह जानने की भूल निकलना महा मुश्किल है।

(८३०)

इन्द्रियज्ञान से पर को जानने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। स्व या पर को जानना हो तो अतीन्द्रियज्ञान से जान। इन्द्रियज्ञान से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नहीं होते और जिनेन्द्र भगवान के आश्रय से अतीन्द्रियज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

(८३१)

उनका प्रश्न है कि राग को जानना तो चाहिए न? राग को जानने रुकोगे तो आत्मा को कब जानोगे? अनुभव में से बाहर आने पर राग के प्रतिबिम्ब को जानता है; राग को अर्थात् बिम्ब को नहीं।

(८३२)

आत्मा निरन्तर सुलभ है, सुख से प्राप्त होता है। उतना सुलभ समकित नहीं है, जितना सुलभ आत्मा है। मोक्ष दुर्लभ है; मुक्तस्वभाव सुलभ है। संसार दुर्लभ है और आत्मा सुलभ है। मोक्ष का पिता मेरे पास है। पर्याय के भरोसे रहकर कस निकल में गया। अज्ञानी के पास आत्मा तो है, इसलिए जानने में भी आता है परन्तु समकित तो नहीं है, इसलिए जानने में भी नहीं

आता। एक समय भी ऐसा नहीं है कि जब आत्मा दुर्लभ है। सम्यक्त्व करना, वह आत्माधीन नहीं है। 'मैं आत्मा हूँ', उसका नाम समकित है और वह आत्माधीन है।

(८३३)

स्वयं को जिस मार्ग से सुख मिला, उसका उपदेश दूसरों को देते हैं। जो (पंच महाव्रतादि) स्वयं नहीं करते, उसका उपदेश भी दूसरों को नहीं देते।

(८३४)

आत्मा को प्राप्त करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि वह प्राप्त है। जो प्राप्त है, उसकी भावना नहीं भाता और जो उसके पास नहीं है, उसकी भावना भाता है।

(८३५)

प्रत्येक समय में आत्मा ऊर्ध्व रहता है। जैसे ज्ञान प्रत्येक समय में ऊर्ध्वरूप से जानने में आता है। यहाँ कहा कि प्रत्येक समय, प्रत्येक क्रिया में हमें आत्मा ऊर्ध्व रहता है। इस तरह यह अकेलेपन का मार्ग है।

(८३६)

राग जानने में आने से → राग मेरा है; यह ज्ञान का अज्ञान हो गया। पर के सम्बन्धवाले ज्ञान को वह ज्ञान मानता है। वास्तव में पर के साथ ज्ञान ने सम्बन्ध किया ही नहीं है.... ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

(८३७)

स्व को चूककर पर को जानता है, अर्थात् पर को अपना मानता है। स्व को जानते पर जानने में आ जाए तो कोई दिक्कत नहीं, वह तो व्यवहार है। अज्ञानी के लिए ज्ञायक का ज्ञाता, वह व्यवहार है; पर का ज्ञाता, वह व्यवहार नहीं, अज्ञान है।

(८३८)

राग भिन्न है, ज्ञान भिन्न है। पर्याय की ओर से लो तो भी जो ज्ञान, राग से भिन्न पड़ा, वह ज्ञान, आत्मा से अभिन्न हो गया।

(८३९)

'होनेयोग्य परिणाम होते हैं', अज्ञानी कहता है 'मैं करता हूँ।' चक्षु क्या करता है? केवल दूर रहकर देखता है। भगवान आत्मा, शुद्धपर्याय का दाता नहीं, द्रष्टा है।

(८४०)

जाननेवाले को जाने, तब पर्यायें होती हैं, होगीं, उन्हें जानेगा क्योंकि उसने प्रत्याख्यान कर लिया है कि 'मैं केवलज्ञान को नहीं करूँगा।'

(८४१)

पर्याय अपने स्व-समय में होगी - ऐसा जानकर... मुनिराज स्वभाव में डुबकी लगाते हैं। मैं जिसका कर्ता नहीं हूँ, उसके सामने देखने का क्या काम! जिसके सामने देखने से ज्ञान या सुख नहीं हो, उसके सामने देखकर क्या करना।

(८४२)

दो नयों का स्वरूप समझकर, अन्दर से व्यवहार का निषेध आये, फिर ज्ञान मध्यस्थ होता है... तब अनुभव होता है। बहुत सारे व्यवहार को पार करे, निषेध करे, तब निश्चयनय तक पहुँचा जाता है। मार्ग ऐसा ही है।

(८४३)

निश्चयनय का विषय पूज्य है, इसलिए निश्चयनय भी पूज्य है - ऐसा कहा।

(८४४)

भेदज्ञान का अभ्यास करने जैसा है। मैं पुण्य-पाप से भिन्न हूँ। आत्मा का अनुभव न हो, तब तक आत्मा का परोक्ष अनुभव करने जैसा है।

(८४५)

इन्द्रियज्ञान घोर अन्धकारमय है। उसमें एकत्व रहेगा, तब तक आत्मा के दर्शन नहीं होंगे।

(८४६)

किसे कहना ध्यान? किसे कहना ध्येय? किसे कहना ध्याता? ध्येय के लक्ष से अभेद स्थिति उत्पन्न होती है।

(८४७)

बल से काम करना कठिन है; समझ से करना आसान है। बल में कर्ताबुद्धि होती है; समझ में ज्ञाताबुद्धि होती है।

(८४८)

पर विषय को जानने की अभिलाषा, राग है। ज्ञेय तो बदला नहीं। ज्ञायक का ही ज्ञाता हूँ, उसमें ज्ञेय बदल गया। अनादि मिथ्यादृष्टि के लिए यही एक उपाय है। आत्मानुभव के लिए यह वशीकरण मन्त्र है। अनुभव के बाद भी पर के प्रतिबिम्ब को जानता है। इनडायरेक्ट पर को जानता है। स्वपरप्रकाशक स्वरूप अभेदरूप से है।

(८४९)

वर्तमान में मैं सर्वज्ञ, निरावरण, पूर्ण, परिपूर्ण हूँ, पहले ऐसा व्यवहार श्रद्धा में तो आना चाहिए न! लगनी लग जाए, पीछे पड़ जाए तो मिले ऐसा है। इसका वीर्य बार-बार आत्मा की तरफ जाना चाहिए।

(८५०)

निगोद का जीव, जड़ कर्म में जुड़ता नहीं। जीवद्रव्य एक समय के लिये भी कर्म का अवलम्बन ले तो सब समय हो जाये।

(८५१)

आत्मा को कान तो नहीं है, परन्तु भावेन्द्रिय भी नहीं है। चित्त की प्रसन्नता से एक बार भी सामान्य तत्त्व की बात सुने तो 'भावि निर्वाण भाजनम्'।

(८५२)

अरे! विशेष को तो पुद्गल के परिणाम में डाला, अजीव में डाला। पर्यायमात्र को गौण करके सामान्य को देख, उतना ही आत्मा है।

(८५३)

द्रव्यलिंगी को पुण्य का कर्तृत्व, भोर्तृत्व रह जाता है; उससे द्रव्यस्वभाव एकदम भिन्न है, ऐसा जोर अन्दर से आना चाहिए, वह नहीं आता। कथंचित् भिन्न का जोर आता है, परन्तु सर्वथा भिन्न का जोर नहीं आता; इसलिए कथंचित् में रह गया।

(८५४)

सिद्ध को अनन्त सुख प्रगट हुआ, उससे अनन्तगुना सुख, द्रव्य में है।

(८५५)

अन्दर गोता लगाने के पहले, श्रद्धा में ऐसा आता है कि मैं भूत, भावि, वर्तमान में दुःखी हुआ नहीं, हूँ नहीं और होऊँगा भी नहीं। दुःख की पर्याय, द्रव्य को दुःखमय नहीं कर सकती और सुखमय द्रव्य, पर्याय को सुखी नहीं कर सकता।

(८५६)

शुद्धात्मा का अवलम्बन लेकर पर्याय को देखे तो पर्याय में भी सुख ही दिखता है। अनुभव के काल में दुःख था या नहीं था, वह कौन जाने?

(८५७)

पूज्य गुरुदेवश्री ने यह बोहनी दी है कि सबको ज्ञान ही जानने में आ रहा है। भेद से ज्ञान जानने में आता है, अभेद से तो ज्ञायक ही जानने में आता है। ज्ञान को अन्तर्मुख करने का एकमात्र यही उपाय है।

(८५८)

नव तत्त्व से अत्यन्त भिन्न, वह श्रद्धा का विषय है। ज्ञान की पर्याय, शुद्धात्मा को विषय करती है, परन्तु वह सविकल्प होने से भेदाभेद और भेद को भी विषय करती है।

(८५९)

कर्तृत्व और ममत्व का अविनाभाव सम्बन्ध है। भेदज्ञान होने से पहले यदि क्रिया में चढ़ जाए तो उसे कर्तृत्व हुए बिना नहीं रहता।

(८६०)

जिस पर्याय को हेय करता हूँ, वह पर्याय अनुभव के काल में आत्मा बन जाएगी; ऐसा उसे ज्ञान में समझ आना चाहिए। जिस पर्याय को परद्रव्य कहा, वह पर्याय आत्मा बन गयी। मेरे आत्मा को जो प्रसिद्ध करे, वह कथंचित् मेरा है।

(८६१)

आकुलता हो ऐसा कार्य नहीं करना। पर्याय के सामने देख कर 'होने योग्य होता है' ऐसे नहीं, परन्तु ज्ञायक के ऊपर लक्ष रखकर कह - 'होने योग्य होता है।'

(८६२)

राग होता है, उसी काल में उसे भोगता है। विभाव में भी एक ही समय में वेद्य-वेदक है। शास्त्र में आता है कि वेद्य-वेदक विभावभाव में समय भेद है, वह व्यवहार से है।

(८६३)

इन्द्रियज्ञान को आत्मसन्मुख होकर जीतना पड़ेगा, इन्द्रियज्ञान से ममता छूटे तो इन्द्रियज्ञान के विषय में से भी ममता जरूर ही छूटेगी।

(८६४)

जल का पर्यायस्वभाव भी शीतल होने का है। वैसे पर्याय में भी मोक्ष होने का स्वभाव है। मिथ्यात्व विभाव भले ही अनादि का हो! उसे मिटाने के स्वभाववाला है। संयोग तो मोक्ष को कहते हैं, मिथ्यात्व को नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व, विभाव है।

(८६५)

ज्ञान (पर) ज्ञेय का होता है या आत्मा का होता है? यह संक्षिप्त मार्ग है। किसे जानते धर्म होता है, और किसे जानते अधर्म होता है? - यह यहाँ बताते हैं।

(८६६)

पूज्य गुरुदेवश्री की क्षमा अनुपम थी। हम किसी को संसारी नहीं देखते, क्योंकि संसार, द्रव्य में नहीं है, तो फिर परिणाम में भी नहीं रहेगा।

(८६७)

पर्याय सापेक्ष द्रव्य है, वह मेरा है; ऐसी श्रद्धा करने से मिथ्यात्व दृढ़ होगा। अनन्य को जानकर, फिर अन्य है - ऐसा जानकर द्रव्यदृष्टि कर लेना। बाद में पर्याय से सहित का ज्ञान सच्चा होता है।

(८६८)

परद्रव्य से भिन्न करने के लिए ऐसा कहा कि व्यवहारनय से पर्याय, आत्मा की है; कथंचित् आत्मा उसका कर्ता-भोक्ता है। अब पर्यायदृष्टि छुड़ाने के लिए निश्चयनय में आता है, तो ऐसा जानता है कि वह परिणाम, पुद्गलद्रव्य के हैं। अरे! पुद्गलद्रव्य के परिणाम तो पुद्गलमय ही होते हैं न।

(८६९)

राग, पर्याय में होगा तब भी कर्ता मत हो, क्योंकि राग के ऊपर दृष्टि नहीं है। भूतकाल में भी मैंने राग किया नहीं, भविष्य में भी राग करूँगा नहीं। भेदज्ञान के मन्त्र से आत्मा की उपलब्धि होती है।

(८७०)

प्रश्न : (आत्मा) समकित का कर्ता है न?

उत्तर : जब तक मैं कर्ता हूँ, तब तक समकित नहीं होगा। अकर्ता आया क्या और अनुभव हुआ क्या? सम्यग्दर्शन कैसे होता है? ऐसा सब पूछते हैं, परन्तु आत्मा कर्ता है या अकर्ता? ऐसे पूछनेवाला कोई ही निकलता है।

(८७१)

सविकल्पदशा में मैं निर्विकल्प हूँ - ऐसा विकल्प का निषेध वर्तता है। निर्विकल्पदशा का आदर वर्तता है। यह विधि-निषेध छूटते ही अनुभव होता है।

(८७२)

प्रश्न : प्रयोजन कितने?

उत्तर : दो (१) प्रगट करने का प्रयोजन, (२) आश्रय करने का प्रयोजन।

(८७३)

मिथ्यात्व है, तब मिथ्यात्व का अकर्ता है; फिर शुद्धपर्याय का भी अकर्ता है। 'तद्रूपो न भवति'। जिसे अकर्ता आत्मा, दृष्टि में आया, उसका काम हो जाता है।

(८७४)

आत्मा को जाननेवाला ज्ञान प्रगट करूँ, ऐसे भी नहीं; क्योंकि ज्ञान तो आत्मा को जान ही रहा है। जो ऐसे माने कि आत्मज्ञान भविष्य में होगा, वह ऐसा मानता है कि शक्कर का मीठापन भविष्य में प्रगट होगा! ऐसी बात है। शक्कर में मीठापन तन्मय है, सूर्य में प्रकाश तन्मय है; वैसे मेरा ज्ञान मुझसे तन्मय है।

(८७५)

दूसरा सारा मजा स्वप्रकाशक में है। पर को जानने का निषेध करें तो इन्द्रियज्ञान को जीत सकते हैं।

(८७६)

पर्याय के कर्तृत्व का भासन होगा तो लक्ष वहीं रहेगा... और ज्ञेय का भासन होगा, तो भी लक्ष वहीं रहेगा। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; होने योग्य होता है' ऐसा भी मैं नहीं जानता → यह अपूर्व और अलौकिक मन्त्र है।

(८७७)

इन्द्रियज्ञान भिन्न साधन है, इसलिए उससे पर को भी जानता ही नहीं। अलिंगग्रहण के पहले दो बोल ऐसे हैं कि इन्द्रियज्ञान का व्यापार बन्द हो जाए।

(८७८)

द्रव्यदृष्टि करे या न करे; वह तो पहले से ही अकर्ता है। मैं जाननेवाला हूँ; करनेवाला नहीं हूँ - यह समकित होने का सरल उपाय है।

(८७९)

व्यवहारनय से आत्मा कर्ता है, परन्तु निश्चयनय से क्या है? उसकी तो जिज्ञासा कर! व्यवहार का निषेध करे, तब व्यवहार को जाना कहते हैं। सिर्फ जानना, ऐसा नहीं परन्तु व्यवहार जो कहता है, वैसा मैं नहीं हूँ; ऐसा जाना, तब व्यवहार को जाना कहते हैं।

(८८०)

'जानने में' कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, वह सहज ही है, क्योंकि वह स्वभाव है। समस्त परमागम का सार जानने के भाव को पकड़ कर रखे, तो सभी कार्य सहज में सिद्ध हो जायेंगे, कर्तृत्व की विपरीतता को छोड़कर, ज्ञार्तृत्व में आ फिर 'जाननेवाला वह मैं' ऐसा आते ही पूर्णाहुति हो जाती है, कुछ भी करने का भाव उठे, उसमें अज्ञान हो जाता है, जानने का भाव भासे, उसमें ज्ञान हो जाता है।

(८८१)

शुद्धात्मा का बोध जो दुष्कालरूप था, वह जिन्होंने दिया, उनका अनन्तानन्त उपकार है।

(८८२)

प्रकाश, सूर्य को प्रसिद्ध करता है, उसमें भी सूर्य के दर्शन नहीं होते। उसी प्रकार मैं आत्मा को जाननेवाला हूँ, ऐसा भेद भी निकाल दे। 'जाननेवाला वही मैं।'

(८८३)

दृष्टि के विषयपूर्वक कथंचित् आता है। अज्ञानी तो परिणाम से सहित सर्वथा ही मानते हैं। यह तो भाषा में कथंचित् कहते हैं।

(८८४)

प्रमाण के दो भेद हैं – (१) आगमप्रमाण में जीवद्रव्य कारण, राग की पर्याय कार्य। (२) अध्यात्मप्रमाण। अध्यात्मप्रमाण में जैसा कारण, वैसा कार्य। शुद्धपर्याय प्रगट होती है, वह कार्य।

(८८५)

सन्त कहते हैं – आहार, पानी को हम जानते नहीं; हम तो हमारे ज्ञान को जानते हैं। उसमें अन्न, जल प्रतिबिम्बरूप से जानने में आते हैं। 'दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उनको जानते हैं।'

(८८६)

प्रश्न : व्यवहारदृष्टि, वह मिथ्यादृष्टि उसका क्या अर्थ?

उत्तर : अकेले व्यवहार का पक्ष है, उसे निश्चयपूर्वक व्यवहार का ज्ञान नहीं है, वह व्यवहारदृष्टि है। व्यवहारदृष्टि अर्थात् पर्यायदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि। वह व्यवहारनय के विषय को ही आत्मा मान लेता है। निश्चयनय का विषय आत्मा है, उसे दृष्टि में से छोड़ देता है।

(८८७)

(ज्ञानी कहते हैं) जब तक हम अपने घर के बाहर हैं, तब तक सुनाइये.... बहुत ही सुनाइये, सुन लेंगे। क्योंकि हमारी मजबूरी है, परन्तु जब अपने घर में हम चले जायेंगे, तब कौन सुनाएगा?

(८८८)

यदि मलिनता को जल से अभेद विचारने में आये तो किसी को भी स्वच्छ जल की प्राप्ति ही नहीं होगी। वैसे रागादि, जीव की जाति के नहीं है। वे जीव के संग से होते ही नहीं, वे जिसके संग से होते हैं, उसके परिणाम हैं। कपड़े को रंग का संग हुआ ही नहीं है परन्तु कपड़े की अवस्था को रंग का संग हुआ है। संयोगदृष्टि से देखने से कपड़े को लाल कहते हैं, परन्तु लालिमा कपड़े के स्वभाव के साथ मिलती नहीं परन्तु रंग के साथ मिलती हुई आती है। एक

समय के लिए भी यदि आत्मा अज्ञानी बन गया हो तो उसका अज्ञान कभी भी टल नहीं सकता। जब पानी गरम है, तब कथंचित् पानी शीतल है। उष्णता कथंचित् अग्नि की पर्याय है। शीतल जल की प्राप्ति जिसका प्रयोजन है, उसे किस बात को आगे करना। शीतलता जल की है, अग्नि की नहीं; उष्णता अग्नि की है, जल की नहीं।

(८८९)

निश्चय का पक्षवाला ही व्यवहार का निषेध कर सकता है। उसे बार-बार निषेध आता है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। परोक्षज्ञान में भी आत्मा का अनुभव होना चाहिए न। उसमें ज्ञायक की धारा चलती है। पहले ऐसा घूँटते हैं कि मैं अकर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ, शुद्ध हूँ, परिपूर्ण हूँ, ज्ञायक हूँ, अबद्ध हूँ, मुक्त हूँ। त्रिकाली स्वभाव बार-बार घूँटन में आता है। उसका कारण यह है कि उसे अनुभव होने में ज्यादा समय बाकी नहीं है। यह बात धारणा ज्ञान से आगे की है। उसे सहज ही स्फुरणा होती है; गुरुदेव ने कहा इसलिए 'शुद्ध हूँ' ऐसा नहीं है। वह अन्दर उतर गया है। यह तो उसकी सहज स्थिति है।

(८९०)

(१) अकर्ता के ऊपर दृष्टि पड़ते ही अकर्ता हो जाता है। जैसा द्रव्य कारण, वैसी कार्यरूप पर्याय हो जाती है। राग को अकर्तापना होने का यह मूल है कि 'मैं अकर्ता हूँ।' (२) समस्त जीव, दु:ख के अभोक्ता हैं। यह बात जिसे बैठ जाए, उसे भव नहीं रहेगा, क्योंकि वह आत्मा का सामान्य पक्ष देखने लगा है।

(८९१)

मैं पर को जानता नहीं, उसमें दो बातें सिद्ध हुईं - अज्ञान का निषेध कराया और प्रतिभास का लक्ष छुड़ाया।

(८९२)

प्रश्न : निर्णय किस का नाम है?

उत्तर : जिसके विषय में बार-बार सोचना न पड़े, उसका नाम निर्णय है।

(८९३)

सेटिका की गाथा में न्याय दिया कि ज्ञान पर को जाने तो आत्मा का नाश हो जाता है। ज्ञान में पर जानने में आए तो ज्ञान का नाश होता है। ज्ञानक्रिया भी पर को जानने की क्रिया से रहित है। अपरिणामी को जानने की क्रिया से सहित है। जिस प्रकार से अपरिणामी, पर्याय को करता नहीं है, उसी प्रकार से परिणामी, पर को जानता नहीं है।

(८९४)

अपरिणामी में अपरिणामी की प्रसिद्धि नहीं है, परन्तु परिणामी में अपरिणामी की प्रसिद्धि है। जाननेवाला भी परिणामी और जानने में आता है, वह भी परिणामी - कर्ता-कर्म का अनन्यत्व।

(८९५)

प्रश्न : मुख्यता तो ध्येय की ही होती है न?

उत्तर : मुख्यता तो ध्येय की ही होती है, परन्तु उसमें ध्येय का पक्ष होता था। अनुभव में मुख्य-गौण कुछ भी नहीं है, जैसा है वैसा जानने में आता है। ध्येय का पक्ष छूट जाता है और ध्येय की दृष्टि हो जाती है। ज्ञेय का द्वेष छूट जाता है और ज्ञेय का सहज ज्ञान हो जाता है।

(८९६)

परिणाम के भेद उपादेयरूप से जो जानने में नहीं आते, परन्तु मेरेरूप से जानने में नहीं आते। हेयरूप से या ज्ञेयरूप से जब जानने में नहीं आते, तब अभेद के दर्शन होते हैं।

(८९७)

अज्ञानी का स्वपरप्रकाशक - परप्रकाशक ही है → लक्ष की विवक्षा से।

ज्ञानी का स्वपरप्रकाशक - स्वप्रकाशक ही है → ज्ञानत्व की विवक्षा से।

(८९८)

(१) उपयोग लक्षण नया प्रगट नहीं होता, उसका भान नया होता है।

(२) उपयोग का कभी भी नाश नहीं हुआ; ज्ञान तो हो ही रहा है, इसलिए ज्ञान में ज्ञान जानने में आता है।

(८९९)

व्यवहार से नि:शंक अर्थात् निर्णय में नि:शंक हो। निश्चय से निःशंक अर्थात् अनुभव से नि:शंक हो।

(९००)

दूसरे के लाभ में वाणी निमित्त है, परन्तु ज्ञानी निमित्त नहीं बनते।

(९०१)

जैसे, दीपक की प्रकाशक्रिया, वह स्वभावभूत है। वैसे आत्मा की ज्ञानक्रिया स्वभावभूत है।

(९०२)

द्रव्य में से द्रव्य की पर्याय आती है, उसका अर्थ कि पर्याय, द्रव्य को ही जानती है, उसमें द्रव्य का ज्ञान आ जाता है।

(९०३)

ध्यान में ज्ञान तो आ जाता है परन्तु ज्ञान में ध्यान नहीं आता, यह बात बहुत ही गहन है।

(९०४)

सम्यग्दर्शन का प्रतीति लक्षण, वह आगम अपेक्षा से है। सम्यग्दर्शन का आनन्द लक्षण, वह वेदन प्रत्यक्ष है।

(९०५)

(१) स्वयं का अस्तित्व, वही निज का ज्ञेय है, प्रमेय है। अपने अस्तित्व के बाहर अपना प्रमेय नहीं है। अन्य को प्रमेय बनाये तो अपने अस्तित्व का भासन नहीं होता। (२) भेदकारक भी अपने अस्तित्व में नहीं है, इसलिए वह ज्ञेय नहीं है, अभेदकारक अस्तित्व में है, इसलिए प्रमेय है। (३) जिसकी स्वयं में नास्ति है, वह जानने में नहीं आता। ज्ञान में ज्ञेय का अस्तित्व नहीं है, इसलिए ज्ञेय जानने में नहीं आता।

(९०६)

परज्ञेय जानने लायक नहीं है, आत्मा ही जानने लायक है। परज्ञेय जानने में आते भी नहीं, आत्मा ही जानने में आ रहा है। परज्ञेय को जानने की जरूरत भी नहीं है, आत्मा को ही जानने की जरूरत है।

(९०७)

आत्मा ही आत्मा का गुरु है, स्वयं ही गुरु है और स्वयं ही शिष्य है। गुरु, शिष्य के बीच में कोई भेद नहीं है। जो मुझे नित्य आनन्दित करे और सुखी करे, वही मेरा गुरु है। जो दु:खी करे, जिसके निमित्त से राग होता है, वह मेरा गुरु नहीं है।

(९०८)

(श्रीमद्‌जी पत्रांक नम्बर ५०६) कथन शैली दो प्रकार की है - (१) उपदेश बोध, (२) सिद्धांत बोध। सिद्धांत शाश्वत् है; इसलिए चौथा काल हो या पंचम काल – उसमें कोई बदलाव

नहीं आता, परन्तु उपदेश बोध तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के बदलने पर नियम बदल देता है। उपदेश बोध से → कषाय की मन्दता होती है। सिद्धांत बोध से → कषाय का अभाव होता है।

(९०९)

भक्त तथा भगवान की अनुभूति एक जैसी ही होती है। अनुभूति में कुछ भी अन्तर नहीं है। अंतर दिखे तो वह भक्त नहीं है।

(९१०)

कर्ता → पर्याय से सहित। ज्ञाता → पर्याय से रहित। सहित, रहित को भाता है। सहित, सहित को भावे और जाने तो मिथ्या है।

(९११)

राग मिश्रित ज्ञान अर्थात् अज्ञान। पर सापेक्ष ज्ञान में राग मेरा - ऐसा अनुभव होता है परन्तु राग से निरपेक्ष ज्ञान होता है, ऐसा अनुभव में आये तो, ज्ञान में ज्ञायक ही जानने में आता है। सापेक्ष सम्बन्ध दूर होते ही निरपेक्ष सम्बन्ध खड़ा है, जिसमें वीतरागभाव प्रगट होता है।

(९१२)

आत्मा इतना तृप्त है, समृद्ध है, सम्पन्न है कि अनन्त कालपर्यन्त, समस्त पर्यायें तृप्त ही रहेगीं।

(९१३)

अनुभव से पहले सविकल्प निश्चयनय द्वारा निर्णय हुआ, अनुभव से पहले निर्णय में भूल छूट गई। अब, दूसरे पाठ में पर्याय का लक्ष रहेगा तो निर्णय नहीं होगा, क्योंकि भेद के ऊपर से लक्ष छूटकर, उपयोग अकेले अभेद में जुड़ता है।

(९१४)

परपदार्थ अपने निरपेक्ष ज्ञान में ... इच्छा के बिना, प्रयत्न के बिना, विकल्प के बिना, इन्द्रियज्ञान के बिना, पर के आलम्बन बिना जानने में आ जायेंगे। कैसे जानने में आयेंगे? 'दर्पण' में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान, क्योंकि प्रतिबिम्ब को बिम्ब की अपेक्षा नहीं होती।

(९१५)

(समयसार, गाथा-२) हे भव्य! जो जीव, दर्शन-ज्ञान और चारित्र में स्थित है, उसे स्वसमय जान। वह निश्चय ज्ञानप्रधान दृष्टि का विषय है और जो जीव, पुद्गल कर्मों के प्रदेश में स्थित है, उसे परसमय व्यवहार जीव जानो।

(९१६)

इन्द्रियज्ञान अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, इसलिए वह पर को जानता है और उसमें ममत्व करता है। अतीन्द्रियज्ञान अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, इसलिए वह आत्मा को जानता है और उसमें ममत्व करता है।

(९१७)

भक्त, सिद्ध को देखता है, अर्थात् कि जो शुद्ध हुए हैं, उन्हें देखता है। परन्तु सिद्ध भगवान तो जो शुद्ध नहीं हुआ, ऐसे स्वयंसिद्ध स्वरूप शुद्धात्मा को ही देखते हैं।

(९१८)

उपयोग को पर के तरफ रखेगा तो भी ज्ञान ही जानने में आयेगा। जहाँ भी नजर डालो, वहाँ ज्ञान ही जानने में आता है। हर समय ज्ञान ही ऊर्ध्व रहता है। 'मेरा तो ज्ञान ही है' ऐसा दिन में २०-२५ बार विचारना।

(९१९)

इन्द्रियज्ञान से पर को जानने का स्वभाव हो, तो सिद्ध भगवान को भी इन्द्रियज्ञान होना चाहिए। अब इन्द्रियज्ञान में भी केवल राग ही नहीं जानने में आता है, उसमें भी ज्ञान जानने में आ रहा है... ऐसा माने तो निर्णय होगा।

(९२०)

इन्द्रियज्ञान मूर्तिक है, उससे संसार की सिद्धि होती है। अतीन्द्रियज्ञान अमूर्तिक है, उससे मोक्ष की सिद्धि होती है। साधक को दोनों ज्ञान होने से भेदज्ञान वर्तता है। भेदज्ञान दो प्रगट पर्यायों के बीच का है। एक समय का संसार और एक समय का मोक्ष।

(९२१)

सब ज्ञान के ऊपर छोड़ दो! वह राग को जान लेगा! ज्ञान को जाननेवाला जानने में आ रहा है, इससे भेद पड़ता है, बाद में वह भेद भी नहीं रहता, क्योंकि ज्ञायक का ज्ञान होने से, ज्ञान, ज्ञायक को ही जानेगा।

(९२२)

प्रथम से ही ज्ञान में ज्ञायक तन्मय है, परन्तु ऐसा श्रद्धान नहीं है और राग का प्रतिभास होते, वहाँ लक्ष जाने से मैं रागी। ज्ञान में ज्ञायक तन्मयता से जानने में आते हुए भी उसका निषेध कर दिया, उससे ज्ञान का अज्ञान हो गया। ज्ञान एक समय में एक में (मान्यतागत) तन्मय होता है।

(९२३)

(१) राग को करनेवाला दूसरा, अर्थात् द्रव्यकर्म, (२) राग को जाननेवाला दूसरा, अर्थात् इन्द्रियज्ञान, (३) ज्ञान, उन दोनों से व्यावृत्त हुआ कि मुझे तो जाननेवाला ही जानने में आ रहा है।

(९२४)

निर्णय में बुद्धिपूर्वक के विचार का पता चलता है, परन्तु करणलब्धि में बुद्धिपूर्वक विचार नहीं है, अबुद्धिपूर्वक होता है।

(९२५)

विकप के दो अर्थ (१) खण्ड-खण्ड ज्ञान, (२) राग। अब मन का विषय विकल्प है। भावमन का विषय कथंचित् रूपी और कथंचित् अरूपी भी है। धर्मास्तिकाय आदि अरूपी होने पर भी, वह मन के विषय में जाते हैं। विकल्प, मन का धर्म होने से, वह ज्ञान का धर्म नहीं है।

(९२६)

विकल्पात्मक नय इन्द्रियजन्य है।

निर्विकल्पात्मक नय → अतीन्द्रियजन्य है।

(९२७)

प्रवचनसार, गाथा ५३ में इन्द्रियज्ञान को मूर्तिक कहा है।

(१) मूर्तिक पदार्थों का ज्ञान, मूर्तिक ही होता है।

(२) अमूर्तिक पदार्थों का ज्ञान, अमूर्तिक ही होता है।

(९२८)

इन्द्रियज्ञान भिन्न क्यों है? क्योंकि वह खण्डज्ञान है, परोक्ष है, सापेक्ष है और नाशवान है। वह एकान्त पर को प्रसिद्ध करता है, उसमें आत्मा प्रसिद्ध नहीं होता; इसलिए सर्वथा भिन्न है।

(९२९)

जिनागम में नव तत्त्वों को दो प्रकार से कहा गया है - (१) नव तत्त्वों को व्यवहारनय से अर्थात् अभूतार्थनय से कहा है। (२) नव तत्त्वों को भूतार्थनय से जानने को कहा है।

(९३०)

स्वभाव में भव का और भव के भाव का अभाव है... उसे देखने से परिणाम में भव का और भव के भाव का अभाव हो गया। जीव को ज्ञान में मुक्ति की भणकार सुनाई देती है। मेरी अल्पकाल में मुक्ति होगी ही, ऐसी निःशंकता वर्तती है।

(९३१)

"करना गया, होना गया और 'मैं' रह गया।" इस बात का एक बहिन ने बहुत प्रमोद किया था। 'करना' गया (कर्तृत्व गया) 'होना' गया और 'हूँ' रह गया। यह तो महान सूत्र बन गया।

(९३२)

जैसे, दो परस्पर विरोधी शक्तियों का प्रकाशना, उसे अनेकान्त कहते हैं; वैसे आत्मा ज्ञाता है और कर्ता नहीं, उसे भी अनेकान्त कहते हैं। जिसमें विधि-निषेध आता है, उसे सम्यक् अनेकान्त कहते हैं।

(९३३)

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि → ज्ञान बढ़ता है। ज्ञानी कहते हैं - ज्ञेय बढ़ता है। ज्ञान का जन्म ही नहीं हुआ या होता नहीं। मोह राजा ने उघाड़ का नाम 'ज्ञान' रखा है, परन्तु वह ज्ञेय है और उस ज्ञेय से ज्ञान सर्वथा भिन्न है। 'इन्द्रियज्ञान और शास्त्रज्ञान बढ़ने से क्या बढ़ा, यह तो कहो।'

(९३४)

छह द्रव्य परिणाम से सहित है। जीवद्रव्य परिणाम से सहित है, हर एक पदार्थ दो पक्षवाला है। कोई द्रव्य एकान्त कूटस्थ नहीं है। कमलिनी पत्र दो पक्षवाला है। इस प्रकार प्रमाण में तो आया, परन्तु परिणममात्र से रहित जीवतत्त्व है; वहाँ तक नहीं पहुँचा; इसलिए जीवतत्त्व के यथार्थ श्रद्धान के बिना जीवद्रव्य का ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

(९३५)

स्व-पर का करना → व्यक्त मिथ्यात्व।

स्व-पर का जानना - अव्यक्त मिथ्यात्व, क्योंकि स्व तो भाषा में है, श्रद्धा में नहीं।

(९३६)

देशनालब्धि ग्रहण करने की शक्ति रागांश में नहीं है, वह शक्ति ज्ञानांश में है, क्योंकि ज्ञानांश में जानने-देखने की क्रिया हो रही है और ये दोनों अंश प्रगट हैं। वर्तमान उपयोग की उपयोग में स्थापना करते हैं। सुनते... सुनते भी मानसिक ज्ञान में आत्मा की स्थापना होती है। अपूर्व निर्णय होते - 'मन पावे विश्राम।' शुद्धात्मा का प्रबल ताप भावमन सहन नहीं कर सकता, इसलिए अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है।

(९३७)

ज्ञाताभाव कहो या साक्षीभाव कहो, ऐसा ज्ञातास्वभावी आत्मा होने पर भी, सहज उदासीन अवस्था को छोड़कर, राग को अपना मानकर, राग का कर्ता बनता है, तब पर्याय में मिथ्यात्व होता है।

(९३८)

परिणाम की अनेकता परिणाम में रही और मेरी एकता मुझमें ही रही। मैं एक हूँ, अनेकरूप हुआ भी नहीं और होऊँगा भी नहीं। पर्याय में से मेरेपन का भाव छूटते ही, द्रव्य में मेरापन होगा ही।

(९३९)

समयसार, १७, १८ गाथा में जीवमात्र की स्थिति का वर्णन किया है- (१) क्या जानने में आ रहा है? भगवान आत्मा जानने में आ रहा है। (२) किसको जानने में आता है? सबको जानने में

आता है। (३) कब जानने में आता है? अभी जानने में आ रहा है। सदाकाल जानने में आ रहा है, स्वयमेव जानने में आ रहा है।

(९४०)

स्व को जाननेवाला है, इसलिए ज्ञायक है? नहीं। पर को जाननेवाला है, इसलिए ज्ञायक है? नहीं। वह तो स्वभाव से ही निरपेक्ष ज्ञायक है। स्वत: सिद्ध अनादि ज्ञायक है। ज्ञायक केवल नामनिक्षेप से ही नहीं, परन्तु भावनिक्षेप से भी ज्ञायक ही है। ज्ञायक अर्थात् जाननहार... जाननहार... केवल जाननहार। ज्ञानगुण से भरपूर परमात्मा उसी को ज्ञायक कहते हैं।

(९४१)

(१) ज्ञान की विस्मृति का नाम संसार है। (२) ज्ञान की जागृति का नाम मोक्ष है। निरंतर ज्ञान की जागृतता रहती होने से अज्ञान होता ही नहीं।

(९४२)

अधर्म करने की तो मनाही, परन्तु धर्म करने की भी मनाही! यह क्या रहस्य है? करने जायेगा तो धर्म उत्पन्न नहीं होगा। 'मैं तो ज्ञाता हूँ, ज्ञायक हूँ' - ऐसे धर्मी को जानते धर्म प्रगट होता है। धर्म को नहीं करता, इसलिए आत्मा धर्मी है। धर्म को करे तो आत्मा धर्मी ही नहीं रहेगा, कर्ता हो जाएगा।

(९४३)

श्रीगुरु मार्ग दिखाते हैं, चलना तो स्वयं ही है। गुरु साथ में नहीं आते। मार्ग मिले, बाद में उसे प्रयोग करना चाहिए।

(९४४)

रुचि, अरुचि का आत्मा में त्रिकाल अभाव है। ऐसे स्वभाव की तरफ लक्ष नहीं जाये तो क्या काम का? बार-बार बात को याद कराना पड़े तो अपनी अपात्रता है - ऐसा समझना।

(९४५)

ज्ञानगुण भी जीव को परिणाम ही नहीं है, तो उसका विस्तार कैसे होगा? जीव को ज्ञान गुण भी नहीं है; जीव अभेद है। व्यवहार से समझाने के लिए इशारा है। किसी न किसी प्रकार से सामान्य समझाना है। उद्देश्य तो एक ही है।

(९४६)

जो आत्मा से भिन्न है, उसका त्याग करनेवाला आत्मा नहीं; जो आत्मा में नहीं है, उसका त्याग करनेवाला भी आत्मा नहीं है। ग्रहण सापेक्ष त्याग, वह त्याग है। ग्रहण निरपेक्ष त्याग, वह त्याग ही नहीं है।

(९४७)

सर्वज्ञ भगवान की वाणी में आया कि – 'मैं ज्ञाता और तू भी ज्ञाता।'

(९४८)

द्रव्य एक है, क्योंकि उसमें अनेकत्व नहीं है। द्रव्य एकरूप है क्योंकि वह परिवर्तित नहीं होता। परिणाम को एक समान रखने का प्रयत्न किसलिए करते हो? जो एक समान – एकरूप तत्त्व है, उसे देख ना! जीव कभी भी बदलता नहीं। जीव का तो एक परमपारिणामिकभाव है, जो कभी भी नहीं बदलता।

(९४९)

परिणाम को जानता है, वह → व्यवहार बोध है। परिणाम जानने में आ जाता है, वह → सिद्धांत बोध है।

(९५०)

आत्मार्थी कहते ही धनार्थी नहीं, मानार्थी नहीं, मतार्थी भी नहीं; मोक्षार्थी है। मोक्षार्थी है, वह छह द्रव्य और नव तत्त्व के स्वरूप को पूछता ही नहीं। 'मैं कौन हूँ' इतना ही वह पूछता है।

(९५१)

इसने दो ही चीज़ सीखी हैं - बन्ध और मोक्ष। बन्ध- मोक्ष से रहित वस्तु है, वह तो इसने सीखा ही नहीं है।

(९५२)

(श्लोक नम्बर ३९) 'भिन्ना भावानोदृष्टाः स्यु' – भिन्नता का गुप्त रहस्य बाहर आया है। 'भिन्नाभावानो दृष्टाः स्यु' जो दिखता ही नहीं, उसका नाम भिन्नता है। इसलिए आत्मदर्शन है, वही भेदज्ञान है।

(९५३)

ज्ञान तो अभेद आत्मा का लक्ष करके आत्मा को जानता है, इसलिए ज्ञान अभेदग्राही ही होता है और उसी ज्ञान में अनन्त शक्ति, अनन्त धर्म, और अनन्त पर्यायें अक्रम से जानने में आ जाएँ, उसे ज्ञान कहते हैं, परन्तु नयज्ञान ऐसा नहीं है। वह दोषरूप क्यों है? नयज्ञान, भेद का लक्ष करता है और भेदों को क्रम से जानता है, वह दोष है।

(९५४)

अन्दर में अपने पास उपयोग वेदी है। इस भगवान के भी दर्शन कर ले।

(९५५)

(प्रमाण से बाहर) पर का कर्ता तो है ही नहीं, अज्ञान में भी (पर का कर्ता) नहीं है; तो फिर मैं ऐसा क्यों मानूँ कि 'मैं कर्ता हूँ?' ज्ञान के प्रकाश में ऐसा जानने में आया कि 'मैं ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं।' पर की पर्याय का कर्ता परद्रव्य ही है, इस बात का प्रयोग करना। पर्याय का कर्ता पर्याय है, मैं कर्ता नहीं।

(९५६)

जैसे अज्ञान में; पर को करता नहीं, उससे संबंधित राग को करता है। वैसे अज्ञान में पर को जानता नहीं, पर के प्रतिभास को जानता है। अज्ञान में ज्ञेयाकार ज्ञान का लक्ष करता है।

(९५७)

जीव और सिद्ध में कुछ भी भेद नहीं मानना। 'द्रव्यदृष्टि से भेद नहीं है' ऐसे नहीं कहा। स्वभाव से कोई भेद नहीं है - ऐसे कहा।

(९५८)

उपदेश अर्थात्! उप अर्थात् समीप, देश अर्थात् चैतन्य स्वदेश; जो चैतन्यस्वरूप में ले जाये, वह उपदेश है।

(९५९)

या तो राग को जीव का स्वभाव मानकर अथवा जीव का विभाव मानकर राग में एकता करता है। मार्मिक बात → राग का भिन्नपने से भी भासन नहीं होना चाहिए।

(९६०)

हे भव्य! तू तुझे रसरहित (जड़रहित) चैतन्य जान! आचार्य ने आदेश दिया। बस! इतने में तो पूरा काम ही हो जाये। जीभ के सामने देखने से मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, ऐसा नहीं आता। 'मैं जीभरहित हूँ' ऐसे स्वयं को देखने से; जीभ का स्वामित्व सहज में ही छूट जावेगा।

(९६१)

हे भव्य! तू ऐसे जान कि - जैनदर्शन में जानने की बात कही है, करने की तो बात है ही नहीं।

(९६२)

जैसे कोई जीवित हो, उसे मृत कहे तो पाप लगता है। वैसे जीवत्वशक्ति से जीवित जीव को मृत मानना, वह अध्यवसाय का महापाप है। जीवित को देखना, वह धर्म है।

(९६३)

क्षयोपशमिकभाव का अभाव है, ऐसा ही परमपारिणामिकभाव का स्वभाव है। यहाँ अन्दर में परमपारिणामिकभाव पर नजर करके देख! क्षायोपशमिकभाव के ऊपर नजर रखकर नहीं देखना।

(९६४)

पदार्थ के कारण या पदार्थ को देखकर समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता ही नहीं। ज्ञान की पर्याय का स्वज्ञेय के आलम्बनपूर्वक परिणमन होता है, उसमें समस्त ज्ञेयों का प्रतिभास होने से, उस ज्ञेयाकारज्ञान का ज्ञान सहज में हो जाता है।

(९६५)

शरीर और आत्मा दो वस्तुएँ हैं। उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी भिन्न-भिन्न है। तब उसने दोनों का भिन्नत्व जाना - कहा जाता है।

(९६६)

प्रश्न : पर से एकत्व छूटने का उपाय क्या है?

उत्तर : मैं पर को जानता ही नहीं - यह रामबाण उपाय है। पर का स्वरूप कैसा है? उस बहाने से भी पर को नहीं जानना। ज्ञान में आत्मा जानने में आता है, ऐसे भी नहीं है। ज्ञान स्वयं ही आत्मा है।

(९६७)

सब को ज्ञान जानने में आता है। कैसा ज्ञान जानने में आता है? यह न पूछो तो अच्छा।

(९६८)

जिसने आत्मा प्राप्त किया, उसने जगत में प्राप्त करने योग्य सब कुछ प्राप्त कर लिया।

(९६९)

ज्ञान की पहुँच शुद्धात्मा तक ही है; ज्ञान, कषाय तक पहुँचता ही नहीं।

(९७०)

जिन्हें निरपेक्ष स्वभाव पसन्द नहीं, वह ऐसे कहते हैं कि व्यवहार से तो ध्यान आत्मा में होता है न! जिस अपेक्षा से बात है, उसका ज्ञान करके, आगे बढ़कर सामान्य तक चले जाना। द्रव्य को देखे, वह ज्ञान सच्चा।

(९७१)

दिन में दस बार बोलो → मैं परमात्मा हूँ और मुझे परमात्मा ही जानने में आता है।

(९७२)

जैसे इन्द्रियज्ञान होने पर भी, सामान्य उपयोग की श्रद्धा हो सकती है, वैसे बद्ध के समय में भी अबद्ध आत्मा की श्रद्धा हो सकती है। स्वयं को बँधा हुआ मानकर, अबद्ध होने के चाहे जितने भी उपाय करे, यह सारे उपाय गलत हैं।

(९७३)

आत्मा में आत्मा का अभ्यास करो। ऐसा अभ्यास करो कि मैं चैतन्यशक्तिमय ही हूँ। 'राम रस गाढ़ करे यही पाठ पढ़े है।' मैं चैतन्यमय हूँ, ऐसा लेने से रामरस, आत्मरस गाढ़ होता है।

(९७४)

जड़ जानता नहीं, तथा जानने में भी नहीं आता, वैसा तू जानना! जड़ जानने में नहीं आता, तब वह जड़ (आत्मा से) भिन्न सिद्ध होता है। चेतनेवाला ऐसे चेतता है कि मैं चेतनेवाला हूँ। वह जड़ को जान ही नहीं सकता।

(९७५)

हमने चैतन्यशक्ति को जान लिया!

जाननेवाला ऐसा नहीं जानता कि मैंने जान लिया है। वह तो ऐसे ही जानता है कि 'मैं चैतन्यशक्तिमात्र हूँ।'

(९७६)

यह एक ही शास्त्र ऐसा है कि जिसमें अजीव अधिकार में जीव के परिणाम को अजीव कहा है। अन्य शास्त्रों में तो पाँच द्रव्य को अजीव कहा है। यह 'अ जीव है' ऐसे कहकर, अजीव में से जीवपने की मान्यता को छुड़ाना है।

(९७७)

ग्रन्थाधिराज समयसार की सबसे बड़ी विशेषता उसकी ५० से ५५ गाथाओं में है। जैसे नियमसार में पाँच रत्न हैं, वैसे ये पाँच रत्न हैं। जीव को निर्दोष सिद्ध करना, यह भगवान की वाणी का सार है।

(९७८)

जैसे पुद्गल, स्वभाव से ही ज्ञानरूप से नहीं परिणमता; वैसे ही जीव, स्वभाव से ही क्रोधादिरूप नहीं परिणमता।

(९७९)

इन्द्रियज्ञान को ज्ञान मानना, बस यही भूल थी। उसे तो छोड़ना है, क्योंकि वह आत्मा को जानने का साधन ही नहीं है। सन्तों ने यह बात देकर बहुत बड़ा उपकार किया है।

(९८०)

स्वभाव से देखते ही नय दूर हो गई। नय से देखता है तो स्वभाव दूर हो गया। इसलिए स्वभाव से देखना, वही एकमात्र नयातीत होने का उपाय है। नव तत्त्व को सिद्ध करने के लिये नय है; स्वभाव को सिद्ध करने के लिये नय नहीं है। वस्तु को स्वभाव से समझने से विकल्प छूट जाता है; नय से समझने से विकल्प रह जाता है।

(९८१)

नास्ति का विचार किये बिना मिथ्यात्व का अभाव होता ही नहीं और अस्ति को लक्ष में लिये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(९८२)

(१) व्यवहार का अवलम्बन लेनेवाला प्रसिद्ध मिथ्यादृष्टि है।

(२) निश्चयनय का अवलम्बन लेनेवाला → अप्रसिद्ध मिथ्यादृष्टि है।

(९८३)

अशुभ और शुभ की तरह, व्यवहार या निश्चय का विकल्प, विषकुम्भ है। ज्ञानी जिसको उल्टी करके वमन कर देता है, अज्ञानी उसे चाटता है।

(९८४)

समयसार, १३ गाथा में लालबत्ती दिखाई है। एक-एक अधिकार के ऊपर सुनहरे अक्षरों से लिखना 'भूतार्थनय से नव तत्त्व को जानना।'

(९८५)

'मैं करनेवाला नहीं' तब उसके भव का अन्त आता है। एक कहता है कि मैं जानता हूँ, दूसरा कहता है कि मैं करता हूँ - तू परिणाम को देखता है, हम द्रव्य को देखते हैं; देखने-देखने में बहुत बड़ा अंतर। यह ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अंतर है।

(९८६)

परिणाम में ममत्व का त्याग, वह वैराग्य। आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान। साधक को इस तरह ज्ञान और वैराग्य की सन्धि होती है।

(९८७)

ज्ञानी को → पाप, पुण्य, धर्म के भेद, इन तीनों का (दृष्टि में) त्याग ही होता है। जो आता है और जाता है, वह मेरी वस्तु ही नहीं। मैं तो हूँ... हूँ... और हूँ ही।

(९८८)

परिणाममात्र से आत्मा भिन्न है, यह बात अध्यात्म-शास्त्र में बार-बार आती है। इसलिए 'सर्वथा' रहित से शुरू करना। सामान्य तत्त्व पर दृष्टि आते ही, सामान्य विशेष की एकता हो गई।

(९८९)

'मैं ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं', यह भगवान होने का जाप है। 'मैं ज्ञाता हूँ' उसमें स्व-तरफ का प्रयाण होता है। पंच परमेष्ठी के स्मरण में पर का लक्ष है; इसलिए कहते हैं 'पर दव्वादो दुग्गई, सद्व्वादो सुग्गई।'

(९९०)

पूज्य गुरुदेव कहते हैं → 'परिणाम का मुझमें अभाव है।' 'अभाव होगा' ऐसे नहीं। परिणाम में होना, होता है, उसे होने दे न! उससे भिन्न आत्मा को जान ले न!

(९९१)

पर्याय में राग होता है, परन्तु द्रव्य में होता है या नहीं? यह तो देख! राग को पर्याय में देखकर, उसकी द्रव्य में स्थापना करता है, वह भूल है। पर्याय में ममता है, परन्तु द्रव्य में नहीं है; वहाँ तक तेरी दृष्टि पहुँचती ही नहीं है। जीव और राग के बीच में मेरुपर्वत जैसी अत्यन्त अभाव की दीवार है। एक में दूसरे का अभाव है, ऐसा अस्ति-नास्ति अनेकान्त से अनुभव होता है।

(९९२)

व्यवहार के सद्भाव में मोक्ष रुक जाता है। ज्ञाता का व्यवहार उसे खटकता है। पर्याय को जानने का स्वभाव नहीं है। मैं तो चैतन्य-विलासस्वरूप एक आत्मा की ही भावना करता हूँ। कथंचित् आत्मा का बहुमान और कथंचित् परिणाम का बहुमान - ऐसा नहीं है।

(९९३)

वास्तव में जो दोष का करनेवाला था, वह मैं नहीं था, मेरी मान्यता मिथ्या थी। इसमें पूर्व के दोष की निवृत्ति हो जाती है।

(९९४)

ज्ञाता की व्याख्या → ज्ञायक को अभेद होकर जाने। उसमें उसे लगता है कि पर को भी जानता होगा न? परन्तु ऐसा नहीं है।

(९९५)

पण्डित राजमलजी कहते हैं - निर्मलपर्याय का उपचारमात्र से कर्ता है, जबकि भावी तीर्थंकर, नियमसार में फरमाते हैं कि निर्मलपर्याय का उपचार से भी कर्ता नहीं है। भेद पड़े तो कर्तृत्व का उपचार आवे, जबकि अभेद में कर्तृत्व का उपचार छूट जाता है। भेद मेरे ज्ञान में ज्ञेय भी नहीं है, तो उनका कर्ता तो कहाँ से होऊँ?

(९९६)

यथाख्यातचारित्र हो या न हो; हमें उसकी परवाह नहीं, हम तो त्रिकाल यथाख्यात-चारित्रस्वरूप ही हैं। यह मस्ती का कथन है।

(९९७)

अज्ञानी कहता है कि मुझमें ममता है। ज्ञानी पूछते हैं कि तू कौन है? तुझे तो बस इतना संक्षिप्त वचन बिठाना है कि 'मुझमें ममता नहीं है।'

(९९८)

पर को जानना, वह भयंकर दोष है। यह बात सुनकर बहन को आघात लगा... तो रोने लग गयीं। जिसे चोट लगेगी, उसका काम हो जायेगा। यह साधारण पाप नहीं, महापाप है – अनुपयोग पर की ओर जाता है, उपयोग आत्मा की तरफ रह जाता है।

(९९९)

जो विस्तार करता है → वह व्यवहारनय है।

जो विस्तार को छोटा करता है → वह निश्चयनय है।

(१०००)

भव्य जीव को शुद्धात्मा की बात सुनते ही अन्दर चोट लगती है कि मैं तो शुद्धात्मा ही हूँ। 'आत्मा' याद आये, उसके अच्छे दिन आ गए हैं।

(१००१)

पर के परिणाम को करने की शक्ति तो नहीं परन्तु वास्तव में शुद्धात्मा में पर को जानने की शक्ति भी नहीं है। एकदम गहराई की बात है।

(१००२)

पूर्वोक्त चार भाव आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं है, उनका लक्ष करने योग्य नहीं है, बहुत ऊँचा पारा है।

(१००३)

जिसके सिर पर गुरु है और वह भेदज्ञान का मन्त्र जपता है, वहाँ मोह का कुछ चलता ही नहीं।

(१००४)

कुन्द प्रभु की वाणी → तू शुद्ध है; अशुद्ध हुआ ही नहीं। पर के क्षेत्र में आग लगे, उसमें तुझे क्या?

(१००५)

परिणाम के सामने देखना बन्द कर दे! परिणाम को देखने पर 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भासित होता है। जैनदर्शन में परिणाम का करना नहीं, वैसे परिणाम को छोड़ना भी नहीं; परिणाम मुझमें नहीं हैं - इतना देख ले न!

(१००६)

आत्मा, कर्ता और परिणाम, कर्म - व्यवहारनय अभूतार्थ कथन करता है, इसलिए उसे छोड़ना, उससे चेत जाना! कर्ता को जाने, कर्म को जाने, परज्ञेय को जाने, उसमें ज्ञाता नहीं होता; ज्ञायक को जाने तो ज्ञाता होता है।

(१००७)

नयार्थ निकालने के लिये यह वाक्य व्यवहारनय का है या निश्चयनय का – ऐसा बारम्बार आत्मा को पूछना चाहिए। अनुभव न होता हो तो गहराई से खोजना चाहिए कि मुझे कहीं व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

(१००८)

जिस समय आँख पर को जानती है, उस समय मैं आत्मा को जानता हूँ - ऐसा लेने से अनुभव हो जायेगा।

(१००९)

देखे, परन्तु करे नहीं → ऐसी निषेधबुद्धि आवे, तब केवल देखने का स्वभाव ख्याल में आ जायेगा।

(१०१०)

समर्थ आचार्य के सिवाय वाणी में न आ सके ऐसी यह बात है; रागादि तेरा ज्ञेय नहीं, ज्ञायक तेरा ज्ञेय है।

(१०११)

'ज्ञान की पर्याय कर्म' ऐसे भेद में आया तो वहाँ राग की उत्पत्ति दिखती है, तब राग ज्ञेय है - ऐसा उपचार किया जाता है।

(१०१२)

तीन मार्मिक प्रश्न –

प्रश्न १ : राग, आत्मा का कर्म ही न हो तो संसार सिद्ध नहीं होगा?

उत्तर : ज्ञाता का कोई कर्म होता ही नहीं, ज्ञाता का तो ज्ञेय ही होता है।

प्रश्न २ : व्यवहार से तो राग ज्ञेय है या नहीं?

उत्तर : निश्चय-व्यवहार अन्दर में होता है; बाहर में नहीं।

प्रश्न ३ : ज्ञान में ज्ञायक ज्ञात होता है - ऐसा लेने पर भी अनुभव क्यों नहीं होता?

उत्तर : जाननेवाला और ज्ञात होता है, वह अभेदभाव से है, भेदरूप नहीं ऐसा ले ले।

(१०१३)

ध्येय को जाने, अभेद ज्ञेय को जाने → एक नम्बर का व्यापार। पर्याय के भेद को जाने - नम्बर दो का व्यापार। ध्रुव को जानता है, मोक्ष की पर्याय को अभेदरूप परिणमन कर जानता है। मोक्ष को जानता है, यह भेद का कथन है, भेद करके जाने तो राग हो जाता है।

(१०१४)

ध्रुव में, उत्पाद-व्यय होना अशक्य है। उत्पाद-व्यय होता नहीं, इसलिए तो ध्रुव है।

(१०१५)

अरे! आत्मा है तो ज्ञान है! ऐसा भी नहीं; तो फिर निर्जरा है तो ज्ञान है - ऐसा तो कहाँ से होगा? अति सूक्ष्म रहस्य → द्रव्य, गुण है तो उनका यहाँ ज्ञान हुआ - ऐसी सापेक्षता ज्ञान को नहीं होती।

(१०१६)

सूक्ष्म बात है → आनन्द को उपचार से भोगता है - ऐसा कहा जाता है परन्तु स्वभाव से देखे तो पारिणामिकभाव आनन्दरूप नहीं होता, इसलिए आनन्द को नहीं भोगता 'केवल जानता है' मैं आनन्दस्वरूप हूँ और मुझे आनन्द भोगने की आवश्यकता भी नहीं है।

(१०१७)

प्रश्न : पर्याय को हेयरूप से तो जानना न?

उत्तर : जानना ही बन्द कर दे।

(१०१८)

तू आत्मा को परिणाम से सर्वथा सहित मानता है, जबकि हम 'कथंचित्' सहित कहते हैं। हमारा 'कथंचित्' सहित कब आवे? कि 'सर्वथारहित' में आवे तब आवे।

(१०१९)

ज्ञान में लोकालोक का प्रतिभास होने से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान लोकालोक को जानता है परन्तु ज्ञान, लोकालोक से तन्मय नहीं; इसलिए उसे नहीं जानता।

(१०२०)

प्रश्न : द्रव्य-पर्याय की भिन्नता, दो द्रव्यों की भिन्नता जैसी तो नहीं न?
उत्तर : दो द्रव्यों से भी अधिक है, क्योंकि 'सर्वथा भिन्न' है।

(१०२१)

इन्द्रियज्ञान से आत्मा ज्ञात नहीं होता, आत्मज्ञान से ज्ञात होता है। इस पर सूक्ष्म विचार करने से 'आत्मलाभ' हो ऐसा है।

(१०२२)

अभी तो पर में ज्ञाता-ज्ञेय स्थापित करता है। मैं ज्ञाता और मैं ज्ञेय - ऐसे व्यवहार में भी नहीं आता तो निश्चय में तो कहाँ से आयेगा।

(१०२३)

अनुभव करना हो तो 'सर्वथा' में आजा! अनुभव के बाद कथंचित् आ जाता है। साधना के लिये, सच्चा-खोटा दोनों व्यवहार समकक्षी हैं। 'कथंचित्' में मर गया। 'प्रमाण' में आ गया और स्वभाव से हट गया।

(१०२४)

'ज्ञानमात्र भाव' स्वयं ही ज्ञान है, वह किसी नय से ज्ञाता नहीं है। किसी की अपेक्षा बिना स्वभाव से ही ज्ञानमात्र है।

(१०२५)

निश्चय क्षमापना → मेरे ज्ञान में, मेरा आत्मा ज्ञात होने पर भी मैं.... दर्शन करता नहीं; यह मेरा अपराध है। आज प्रतिज्ञा करता हूँ कि मुझे जाननहार ज्ञात हो रहा है, उसका विश्वास करता हूँ, उसका ही दर्शन करूँगा।

(१०२६)

'मैं जाननहार हूँ' यह मूल मुद्दे की बात है, यह ख्याल में आवे तो बाकी के सब रास्ते मिलें ऐसा है।

(१०२७)

जिसे जिसका लक्ष हो, उसे वही ज्ञात होता है, जिसे जिसका लक्ष न हो, वह ज्ञात होने पर भी ज्ञात ही नहीं होता। अतीन्द्रियज्ञान, स्व को ही जाने और इन्द्रियज्ञान, पर को ही जाने। यदि छद्मस्थ को दोनों के ऊपर लक्ष हो तो निश्चय-व्यवहार नहीं रहता।

(१०२८)

इन्द्रियज्ञान ने पर को जाना था और विशेष ने उसे जानने का बन्द किया, आत्मा ने तो पर को जाना ही नहीं था।

(१०२९)

जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं होता, वैसे आत्मा में राग नहीं होता। जैसे प्रकाश में अन्धकार नहीं दिखता, वैसे ज्ञान में राग नहीं दिखता।

(१०३०)

अनन्त परिभ्रमण का कारण यह इन्द्रियज्ञान है। उसे ज्ञान मानने में अनन्त दुःख का समुद्र है। भावेन्द्रिय घोर अन्धकार है, घोर संसार है। इन्द्रियज्ञान, ज्ञान ही नहीं ... इसकी धुन लगनी चाहिए। ज्ञान उसे कहते हैं, जिसमें आत्मा ज्ञात हो। हिलते-चलते इन्द्रियज्ञान से मेरा आत्मा भिन्न है, ऐसा विचार करने का अब काल पका है।

(१०३१)

नव तत्त्व को व्यवहारनय से जानने पर मिथ्यात्व का दोष लगता है। इससे यह होता है और इससे यह होता है 'वह सत् का खून करता है'। अब यह सापेक्षता छोड़ दे। परिणाम सत् हैं और असत् नहीं - ऐसा अनेकान्त है।

(१०३२)

जैसे आत्मा निरपेक्ष है, वैसे पर्याय भी निरपेक्ष ही है। 'सर्वथा' निरपेक्ष है। 'निरपेक्ष' परम हित का कारण है। हम तो द्रव्य-गुण-पर्याय से निरपेक्ष हैं... ध्येय भी निरपेक्ष; ज्ञेय भी निरपेक्ष। निरपेक्ष को देखने से सापेक्षदृष्टि (मिथ्यात्व) का व्यय हो जाता है।

(१०३३)

आत्मा अकर्ता है, इसलिए उसने अशुद्धता की ही नहीं, इसलिए उसे शुद्धता करनी ही नहीं। अकर्ता अन्दर से जँचा न? तो जा! तेरी मुक्ति हो जायेगी!

(१०३४)

मैं पर को जानता हूँ → यह संसार का मूल है। कषाय का मूल इन्द्रियज्ञान है, इसलिए उसे जीतने की बात है। (अज्ञान के ऊपर एक बार ऐसा प्रहार कर कि मैं पर को नहीं जानता।)

(१०३५)

इसी शुद्धनय ने ऐसा जाना कि → होने योग्य होता है।

उसी शुद्धनय ने ऐसा जाना कि → जाननेवाला ही जानने में आता है।

(१०३६)

आस्रव दुःखरूप हैं - ऐसा तो अनन्तबार जाना, परन्तु उस दुःख का कर्ता कौन? कारण कौन? निमित्त कौन? यह नहीं जाना।

(१०३७)

'होने योग्य होता है' इसमें आत्मा को नौ तत्त्वों से पृथक् छाँटने की विधि बतायी। पर्याय को 'होने योग्य' मानो, तब उससे जीव को पृथक् छाँट लिया जाता है।

(१०३८)

यदि परज्ञेय का ज्ञान होवे तो ज्ञायक का ज्ञान तिरोभूत हो जाता है। अंतर की बातें अपूर्व है। इतना ढिंढोरा पीटकर कहते हैं, फिर भी तेरा विकल्प भी सुलटा नहीं होता!

(१०३९)

प्रश्न : व्यवहार से राग का ज्ञाता है, अर्थात् क्या?

उत्तर : राग को जानता है इन्द्रियज्ञान और कहा कि ज्ञानी उसे जानता है; इसलिए वह व्यवहार है।

(१०४०)

राग को जाननेवाला ज्ञान क्षण भर बन्द हो जाता है। किस प्रकार? अन्दर से प्रबल निषेध आने पर कि 'मैं पर को जानता ही नहीं', जाननेवाले को ही जानता हूँ। मैं जाननेवाला ही हूँ।

(१०४१)

इस प्रकार व्यवहार के पक्ष में चढ़कर मर गया परन्तु अनुभव नहीं हुआ। निश्चय के पक्ष में आने से थोड़े काल में अनुभव होता है। व्यवहार का पक्ष → पर्याय द्वारा आत्मा को लक्ष में लेना, वह। दुःख के नाश का उपाय → पर्याय को मत देख न!

(१०४२)

मार्मिक बात → यदि आत्मा से परिणाम होते हों तो अनेकरूप परिणाम क्यों होंगे?

(१०४३)

'परिणाम होने योग्य होते हैं' ऐसा जानना, वह ज्ञान का स्वभाव नहीं है, क्योंकि परिणाम, श्रद्धा का विषय नहीं है। 'होने योग्य होता है' ऐसा जिसे ख्याल में आया तो, लक्ष अकर्ता ज्ञायक पर जाने से उसकी उत्तरपर्याय में समकित होता, होता और होता ही है।

(१०४४)

द्रव्य-पर्याय के बीच का उत्कृष्ट भेदज्ञान होने पर, अभिन्न हो जायेगा! उससे पहले भिन्नता का अपूर्व बल आना चाहिए।

(१०४५)

नव तत्त्व के विशेष लक्षण (औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक) नव तत्त्व के विशेष लक्षण को जानने से ऐसा ख्याल में आयेगा कि वे हेय हैं; तो भी वे हेय नहीं होंगे। वे 'होनेयोग्य होते हैं' और जाननहार जानने में आता है - ऐसा जानने पर वे अपने आप हेय हो जायेंगे।

(१०४६)

परिणाम मेरा ज्ञेय है, यह ज्ञाता-दृष्टा की बुद्धि खोटी बुद्धि है। यदि वह ज्ञेय हो तो उसमें अनुभव होना चाहिए। सच्चे विचार में भी अनुभव नहीं होता तो खोटे विचार की क्या बात करें?

(१०४७)

पर में ममता किस प्रकार होती है? यह सब मेरा ज्ञेय है... ऐसा मानने से। जबकि वह था भावेन्द्रिय का ज्ञेय और माना मेरे ज्ञेय - इससे पर में ममता होती है।

(१०४८)

स्वभाव के स्मरण में → विभाव गलता है। स्वभाव के अनुभव में → विभाव टलता है। यह एक ही उपाय है, दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। स्वभाव तक दृष्टि भले न पहुँचे परन्तु उसका स्मरण करने की कहाँ मनाही है?

(१०४९)

द्रव्य को ही विकारी माने, उससे बड़ा पापी जगत में कोई नहीं है, क्योंकि उसने परमात्मा को ही विकारी माना है। आत्मा, राग को करता है... अरे रे! क्या कहें प्रभु! उसे जीभ नहीं मिलेगी।

(१०५०)

ज्ञानी कहता है 'तू ज्ञाता ही है'... कथंचित् ज्ञाता, कथंचित् कर्ता, ऐसी आशा ज्ञानी से मत रखना। एक ज्ञाता का मन्त्र ऐसा है कि उसे जीवनदान देगा, इससे ज्ञाता के पक्ष में आने की बहुत आवश्यकता है। ज्ञाता के विचार में आवे न, तो ज्ञान उघड़ेगा 'मैं ज्ञाता हूँ' यह तो विकल्प है। नहीं, 'मैं ज्ञाता हूँ' यह तो विकल्प टालने की विधि है। सुन तो सही!

(१०५१)

इन्द्रियज्ञान पर को जानता है, तब भगवान आत्मा पर को नहीं जानता और जाननहार जानने में आता है, ऐसे ज्ञान से छूटा नहीं है - ऐसी अपूर्व बातें समयसार ग्रन्थाधिराज में हैं।

(१०५२)

इसने परमार्थ की बात सुनी नहीं और व्यवहार सच्चा लगा है, उसका फल चार गति का अनन्त दु:ख है; जब निश्चय सच्चा लगेगा, तब अनुभव होगा।

(१०५३)

आत्मा को जाने बिना, ज्ञान को जाने बिना, ज्ञेयों को जानने का व्यवहार उत्पन्न नहीं होता। ज्ञान, ज्ञान को जानता है ... फिर ज्ञेय को जाने ऐसा व्यवहार आता है, वरना अज्ञान होता है। यह क्या कहा? (समझ में आया?)

(१०५४)

आत्मा को जानने का साधन भी आत्मा के पास है → ऐसा जानने पर उसे हिम्मत आ गयी। अब इतना विचार कर कि मेरे पास ज्ञान है और उसमें आत्मा ही जानने में आ रहा है।

(१०५५)

प्रश्न : जब सूक्ष्म उपयोग होता है, तब क्या होता है?

उत्तर : अकेला आत्मा ज्ञात होता है, दूसरा कुछ ज्ञात नहीं होता।

(१०५६)

दुःख का अस्तित्व या दु:ख का प्रतिभास, वह दुःख का कारण नहीं है, परन्तु दु:ख का लक्ष करता है, वह दुःख का कारण है। पर्याय में दुःख है - ऐसा विचार करने से दुःख नहीं मिटता; पर्याय में दुःख है, मुझमें नहीं - ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए। मुझे दुःख का ज्ञान होता है - ऐसे विचार में दुःख हल्का हो जायेगा।

(१०५७)

पर को जानने से, पर से पृथक् आत्मा जानने में नहीं आता - यह सूत्र है। होती है एकता और उसे उत्पन्न होता है भ्रम कि हम तो भेदज्ञान कर रहे हैं। वास्तविक आत्मार्थी न हो और केवल शास्त्रपाठी हो गया हो, उसे यह बात कभी भी जमती ही नहीं कि 'आत्मा पर को जानता ही नहीं।'

(१०५८)

निगोद में दुःख को नहीं भोगता, मोक्ष में सुख को नहीं भोगता - यह स्वभाव की पराकाष्ठा है। नय की अपेक्षा अभी गौण है।

(१०५९)

इन्द्रियज्ञान कथंचित् तो ज्ञान की पर्याय है न? ऐसा कर-करके उसमें एकत्व किया करता है। तुम इन्द्रियज्ञान में एकत्व करना छोड़ दो... तो वह इन्द्रियज्ञान पर से एकत्व करने का छोड़ देगा। हजार नेत्र खोलकर पढ़ना ऐसी Most Important बात है। यह रागादि विभावभावों से एकत्व करनेवाला तो इन्द्रियज्ञान है। इससे भेदज्ञान की बात तो शास्त्र में कहीं-कहीं है।

(१०६०)

प्रश्न : व्यवहार से तो पर को जानता है न?

उत्तर : अरे! पर का जानना स्वभाव में ही नहीं है। राग, ज्ञान में प्रविष्ट ही नहीं होता तो उसे ज्ञान जाने कहाँ से? दूसरा → ज्ञान का लक्ष राग के ऊपर नहीं तो जाने कहाँ से? भिन्नरूप से भी राग, आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय नहीं परन्तु इन्द्रियज्ञान का ज्ञेय है।

(१०६१)

ज्ञानी के ज्ञान का, ये तीर्थंकर ज्ञेय हों - ऐसा तीन काल में भी बननेवाला नहीं है।

(१०६२)

धर्मी को जाने तो धर्म होता है, कर्म को जाने वहाँ तक धर्म नहीं होता, धीमे से कहें तो अधर्म होता है। पुण्य का भाव, धर्मी और धर्म - इन दोनों से विरुद्ध भाव है।

(१०६३)

आत्मा को जानने पर, जो जानने में आता है, वही आत्मा का स्वरूप है। आत्मा को जानने पर, जो जानने में ही नहीं आता, वह आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।

(१०६४)

भेद के लक्ष से तो अपरिणामी ज्ञेय ज्ञात नहीं होता परन्तु परिणामी के लक्ष से भी अपरिणामी ज्ञेय ज्ञात नहीं होता।

(१०६५)

अतींद्रियज्ञान → जाननेवाला जानने में आता है।

सम्यक् इन्द्रियज्ञान → परिणाम होने योग्य होते हैं।

(१०६६)

आत्मा को, परिणामसहित मानने से → अनन्त दोष प्रगट होते हैं।

आत्मा को, परिणामरहित मानने से → अनन्त गुण प्रगट होते हैं।

(१०६७)

यह गुप्त बात है → ज्ञानी का जन्म ही शक्तिरूप मोक्ष को बताने के लिए होता है। हे भगवान! मेरा मोक्ष कब होगा? हे भव्य! तू इसी समय मोक्षस्वरूप ही हो। 'तू' और 'इसी समय' इन दो बातों में तुझे आश्चर्य होता है।

(१०६८)

इन्द्रियज्ञान को जीतने की कला → मैं पर को जानता ही नहीं; जाननेवाला जानने में आ रहा है। जानता नहीं तो कर्तापने के ऊपर विजय ही होती है।

(१०६९)

समर्थ आचार्यदेव ने लिखा है → 'व्यवहारनय का प्रलय होता है, तब' अर्थात् अज्ञान का प्रलय होता है, तब शुद्ध निश्चय प्रकाशमान होता है।

(१०७०)

व्यवहारनय, आत्मा रागी है ऐसा कहा करता है। उस समय भी आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप को नहीं छोड़ता। राग, धर्मी को धर्म तो नहीं, परन्तु धर्मी का कर्म भी नहीं।

(१०७१)

अत्यन्त निशंक और निःशल्य होकर जो स्वयं को एकांत परमात्मस्वरूप अनुभव करता है, यह दिगम्बर जैन है।

(१०७२)

जो स्वयं को कर्ता मानता है, उसे भोक्ता बनना ही पड़ता है। राग को कर्ता माननेवाले को उसका फल जो दुःख है, उसे भोगना ही पड़ता है। तो फिर भोक्ता का मोक्ष कैसे होगा!

(१०७३)

स्वरूप को समझे बिना, व्यवहार भी झूठ नहीं लगता। परिणाम में किसी भी प्रकार के भाव आयें, उन्हें देखकर, स्वयं को उसरूप मत मानना। व्यवहारनय, पर की-भेद की प्रसिद्धि करता है, इसलिए तो वह अप्रयोजनभूत है।

(१०७४)

'मैं भव्य हूँ' कैसे-कैसे बहाने! किस-किस प्रकार से उसकी पर्यायबुद्धि पुष्ट हो जाती है - उसे उसका पता भी नहीं चलता।

(१०७५)

'परद्रव्य को' परिणाम कहना, वह व्यवहार है। परद्रव्य को परिणाम मानना, वह अज्ञान है।

(१०७६)

आत्मा जानने में नहीं आता - ऐसा माननेवाला नास्तिक है। 'मुझे' आत्मा जानने में नहीं आता। 'मुझे' अर्थात् किसे? निर्णय तो कर!

(१०७७)

जैसे शत-प्रतिशत प्रकाश ट्यूब में से ही आता है, वैसे शत-प्रतिशत प्रकाश में सिर्फ ट्यूब ही जानने में आती है। प्रकाश है, वह प्रकाश नाम क्यों पाता है? वह प्रकाशक से 'कथंचित्' अभिन्न है... अन्यथा उसे प्रकाश नाम ही नहीं मिलता।

(१०७८)

अज्ञान में जैसा लगता है, उसका निषेध करो और जो वस्तुस्थिति है, उसे मुख्य करो। असत्य के निषेध बिना, सत्य का आविर्भाव नहीं होगा। असत्य का निषेध कर, तो सत्य स्वयं प्रगट होगा, अवतरित होगा।

(१०७९)

'संसारी जीवों को शुद्धनय से दस प्राण का अभाव होने से'; इस वाक्य को इस तरह पढ़ना 'संसारी जीवों को शुद्धनय से सर्वथा ही दस प्राण का अभाव होने से।'

(१०८०)

ऐसा कौन जाने कि → ध्यान विनश्वर है। सदा रहनेवाला ऐसे जानता है कि ध्यान विनश्वर है। योगी ही जान सकते हैं कि ध्यान विनश्वर है। ध्यानावलि मुझमें है ही नहीं तो मैं कैसे जानूँ कि ध्यान कैसे करना? और किस का करना?

(१०८१)

पर जानने में आता है, उसे मिथ्यात्व क्यों कहा है? स्वभाव को जानना छोड़ दिया क्योंकि ज्ञान में तो आत्मा जानने में आ रहा है। स्वभाव में सम्यक् एकान्त होता है; अथवा अस्ति - नास्ति अनेकान्त होता है। मैं तो जाननेवाला हूँ। ज्ञान, आत्मा को ही जान रहा है। ओहो! मुझे तो इस बात का पता ही नहीं था। पर जानने में आता है, इसमें से कितने दोष उत्पन्न होंगे, उसकी कोई मर्यादा ही नहीं।

(१०८२)

अनन्त काल से चल रही विपरीत मान्यता का सर्वथा निषेध करना बहादुर - वीर्यवान का कार्य है।

(१०८३)

पुत्र को जानते 'अपनापन' पिता में आया। उस प्रकार मेरा लक्षण त्रिकाली ज्ञान, उसमें 'अपनापन' ज्ञायक में होता है। 'मात्र जानना' यह लक्षण लेने से सिर्फ और सिर्फ जाननेवाला ही जानने में आता है।

(१०८४)

(१) काललब्धि के बिना नहीं होता अर्थात् काललब्धि के स्वीकार बिना नहीं होता। (२) जिस समय जो होना हो, तब होगा; इसलिए परिणाम को बदलने का अभिप्राय मिथ्यात्व है। (३) काललब्धि का स्वरूप समझने से काललब्धि का लक्ष भी छूट जाता है। इस प्रकार काललब्धि में बहुत माल भरा है।

(१०८५)

चार दीवार के बीच में बैठनेवाला, जैसे चार दीवार से अलग है, उसी प्रकार चार भाव से आत्मा अलग है।

(१०८६)

कर्ताबुद्धि छुड़ाने के लिए; कर्तापने के उपचार का निषेध करते हैं, क्योंकि उपचार मिथ्या है। आत्मा, पर्यायरूप हुआ ही नहीं। द्रव्य, कारणपरमात्मा कहलाता है, परन्तु यह कारण है नहीं। है तो अकारणपरमात्मा। कारणपरमात्मा की हयाति है, इसलिए निर्मलपर्याय हुई है - ऐसा नहीं है।

(१०८७)

अरे! सन्त भी व्यवहार का निषेध करते हैं, क्योंकि व्यवहार से मिथ्यात्व पुष्ट होता है। ये मुनिराज के पेट की - अंतर की बातें हैं। उपचार कर्ता का भी निषेध!

(१०८८)

आचार्यदेव कहते हैं- मेरी दूसरी बात तू मान या न मान; एक बात अवश्य मानना। चौबीस घण्टे निषेध कर कि 'मैं पर को नहीं जानता' 'अदयं' शब्द है, क्योंकि निषेध में विधि प्रगट हो जाती है। बाद में आपको स्वप्न में भी ऐसा नहीं आएगा कि मैं पर को जानता हूँ। उसका न्याय → दर्पण में अग्नि नहीं है। नहीं है तो जानने में आए कैसे? उसी तरह ज्ञान में पर नहीं, नहीं है तो जाने कैसे?

(१०८९)

पर्याय का कर्ता पर्याय है → यह बात अति महत्वपूर्ण है। इसके बगैर अकर्ता हाथ में नहीं आएगा। स्वभाव से ही दोनों सत् अलग हैं, इसलिए तो उसमें प्रयोजन सिद्ध होता है।

(१०९०)

निर्मलपर्याय मेरे लक्ष से होती है, ऐसा भी नहीं है → यह निरपेक्षता की पराकाष्ठा। मैं, आत्मज्ञान से भी निरपेक्ष हूँ।

(१०९१)

'भेदविज्ञान' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। नव तत्त्व की सिद्धि करके, नव तत्त्व से भिन्न, जीवतत्त्व का लक्ष कराता है! आत्मा, अनात्मा को भिन्न जान ले, वह ज्ञान सच्चा। दोनों की मिलावट करे वह ज्ञान खोटा।

(१०९२)

जानना चाहिए आत्मा को और जानता है पर को; यह उपयोग का दुरुपयोग हो गया। उपयोग के दुरुपयोग का नाम इन्द्रियज्ञान।

(१०९३)

दिव्यध्वनि में आई हुई बात कर्ताबुद्धि, ज्ञाताबुद्धि, अनन्त दुःख का कारण है। इस सनातन सिद्धांत का सार - 'मैं जाननेवाला हूँ, करनेवाला नहीं।'

(१०९४)

ज्ञाता की व्याख्या → ज्ञायक को अनादि-अनन्त जाने → उसे ही वास्तव में ज्ञाता कहते हैं। 'ज्ञातापना' वह आत्मा का मूल स्वभाव है।

(१०९५)

आत्मा में ज्ञान है, सुख है। उसे जानने-जाननेवाले को ज्ञान भी है, सुख भी है।

नम : समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥

एक श्लोक ही काफी है।

(१०९६)

व्यवहार सत्संग तो अनन्त बार किया, सत्संग का भाव आता है, यह तो ठीक है, परन्तु उसमें कार्यसिद्धि नहीं है। कार्यसिद्धि तो स्व को देखने में है, सत् को देखने में है।

(१०९७)

शास्त्र की भाषा → अज्ञानी राग का कर्ता है। आत्मा की भाषा राग को कर्ता → मानने से अज्ञानी बनता है। अज्ञानी, राग को करता है और भोक्ता है - ऐसा नहीं है। मैं राग को करता हूँ - ऐसा कहे और माने, वह अज्ञानी बन जाता है।

(१०९८)

ज्ञाता को कर्ता मानने से सम्यक्त्व नहीं होता। परिणाम को करता भी नहीं और जानता भी नहीं, यहाँ मैंने जोर दिया। समुद्र-मन्थन नहीं करना है, बहुत संक्षिप्त है। कर्ता हूँ या अकर्ता? पर का ज्ञाता हूँ या स्व का? इस बात का बराबर निर्णय करना है।

(१०९९)

परिणाम को परद्रव्य कहा हो, ऐसी गाथाएँ बहुत कम हैं। परिणाम मेरे नहीं तो परद्रव्य मेरे कैसे हो सकते हैं? इसलिए यहाँ से अर्थात् मूल से बात उठाई है।

(११००)

स्वभाव से ही ज्ञान स्व को जानता है। निश्चय से स्व को जानता है, ऐसा लेने से, व्यवहार से पर को जानता है - ऐसे प्रमाण में आ गया, तो निर्णय नहीं हुआ।

(११०१)

मलिनता के सद्भाव में भी पानी अत्यंत शुद्ध है। स्वजाति के परिणाम भी त्रिकाली के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते तो विजाति के परिणाम तो कैसे प्रवेश कर सकते हैं?

(११०२)

जो स्वभाव से शुद्ध है, वह निश्चय से शुद्ध है - ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वभाव, परम निरपेक्ष है; निश्चयनय सापेक्ष है। सापेक्ष में विकल्प उठेगा; इसलिए नय के विकार से चिपकने जैसा नहीं है।

(११०३)

प्रत्येक जीव को पहले निर्णय करना चाहिए कि - 'मैं ज्ञानस्वभावी' आत्मा हूँ। इसमें वह राग से अलग हो गया। उसके बाद ज्ञान से आत्मा को जानना।

(११०४)

परिणाम में क्या होता है? उसे देखो ही नहीं। 'मैं कौन हूँ?' उसे देखो! उसे जानने से पर्याय स्वयं सुलट जायेगी।

(११०५)

मिथ्यात्व, द्रव्य तक, शुद्धोपयोग तक या सामान्य उपयोग तक पहुँचता ही नहीं।

(११०६)

पर्याय का ग्रहण या त्याग पर्याय ही करती है, द्रव्य नहीं, इसका ध्यान रखना। यह मर्म की बात है। भगवान आत्मा को आरोप मत दो। आत्मा को तो सुरक्षित ही रखो।

(११०७)

जो तुझमें नहीं है, उसकी चिन्ता मत कर। परिणाम का अनित्य स्वभाव है, इसलिए उसकी चिन्ता मत कर। क्योंकि परिणाम को बारम्बार देखने से मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। परिणाम को गौण करके, चिन्ता को छोड़कर, ज्ञेय बनाना छोड़कर, मैं तो कृतकृत्य हूँ - ऐसा लेने से मिथ्यात्व गलता है और शुद्धात्मा का अनुभव करते, वह मिट जाता है।

(११०८)

आस्रव, अज्ञानी की भूमिका का परिणाम है, साधक की भूमिका में आस्रव नहीं है। यह द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से बात है।

(११०९)

आत्मा को 'कर्ता' देखता है, उसे पर्याय कर्मपने दिखती है। अकर्ता को कर्म नहीं होता। यह मेरा ज्ञेय भी नहीं। क्योंकि भेद को जानते हुए, अभेद जानने में नहीं आता। अभेद को जानने पर भेद जानने में नहीं आता, इसलिए वह ज्ञेय भी नहीं है।

(१११०)

आत्मा ऐसा है कि जिसका लक्ष करने से वह जानने में आता है। परद्रव्य ऐसा है कि जिसका लक्ष नहीं करे तो भी वह जानने में आता है।

(११११)

निर्जरा को जानता है, उसका नाम ज्ञाता नहीं; वह तो व्यवहार से कहा। जानता है, जाननहार को और कहना निर्जरा को जानता है; अर्थात् कि ऐसे है नहीं।

(१११२)

भोगने में आनन्द को जानता है, परन्तु मैं उसे भोगता हूँ, ऐसा है नहीं। अरे! उसका लक्ष करके उसे जानता भी नहीं। आनन्द के सामने तो देखता नहीं, तो फिर उसे भोगने की तो बात ही कहाँ रही?

(१११३)

'सर्व विशुद्ध = पूर्ण शुद्ध, नित्य शुद्ध, अत्यन्त शुद्ध, शुद्ध और शुद्ध।' पर का और परिणाम का अकर्ता केवल शुद्धता का ही पिण्ड है, जो सर्व प्रकार से और सर्वांग से शुद्ध ही है; अकेला शुद्ध न कहकर, सर्व विशुद्ध कहा।

(१११४)

जिसने "आत्मा सुना" उसे क्या सुनना बाकी रहा? जिसने एक "आत्मा को जाना", उसे क्या जानना बाकी रहा? समस्त भूमिका में रहे हुए साधक को एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है। प्रयोजन बिना के आत्मा को जानने से प्रयोजन की सिद्धि होती है।

(१११५)

अज्ञानी कहते हैं → हमने बहुत ज्यादा सुना है। ज्ञानी कहते हैं, स्वयं को सुननेवाला मानना ही भ्रमणा है। आत्मार्थी जीव को ऐसा होता है कि बहुत सुना; अब तो प्रयोग का समय आ गया है। उसे सुनने का रस मन्द हो जाता है।

(१११६)

आत्मार्थी सावधान होते हैं, किसमें? भेदज्ञान में।

(१११७)

उपादेय तत्त्व में 'कथंचित्' लगाना वह अपात्रता की पराकाष्ठा है। सर्व को, सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, एक शुद्धात्मा ही परम उपादेय है।

(१११८)

पर को निमित्त बनाओगे तो राग होगा, पर को ज्ञेय बनाओगे तो इन्द्रियज्ञान होगा।

(१११९)

आत्मा निश्चय से मुक्त, व्यवहार से बन्धक; उससे अन्य प्रकार के आत्मा की बात चल रही है - यह आत्मा स्वभाव से ही मुक्त है।

(११२०)

धर्मी के अंतर की खुमारी तो देखो! 'इस जगत में मैं एक ही हूँ।' मुझे जाननहार ही जानने में आ रहा है।

(११२१)

मैं ज्ञाता और लोकालोक ज्ञेय - ऐसा किसने कहा? इस विपरीतता को किसने चलाया? दो ज्ञेय किसलिए कहे? भेदज्ञान के लिए। एक को जाने, दूसरे को जानना बन्द करे।

(११२२)

परज्ञेय → यह तो भ्रान्ति है। अन्दर का भेद, वह व्यवहार है। इस प्रकार ज्ञेय में अनन्त काल से भूला है, इसलिए आत्मज्ञान का उदय नहीं होता। पर ज्ञेय और मैं ज्ञायक यह सम्बन्ध होना तो दूर रहो! तीन (ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय) इन तीन भेदरूप भी मैं नहीं हूँ।

(११२३)

यह सूत्र है। स्वपरप्रकाशक भी स्वप्रकाशक ही है। लक्ष तो स्व के ऊपर ही है। अथवा ज्ञानपर्याय ही जानने में आती है।

(११२४)

यह मन्त्र है - प्रथम तो अपनी पर्याय में ज्ञान ही होता है और वह ज्ञान, ज्ञायक का ही होता है। आत्मा का ज्ञान होने से, उसे आत्मा का ज्ञान हो रहा है। पर का प्रतिभास होता है, परन्तु जानने में नहीं आता। इस मन्त्र के रहस्य को समझ ले, उसे आत्मज्ञान हो जाता है।

(११२५)

चार भाव से रहित आत्मा → यह सापेक्ष से कहा।

अनादि-अनन्त आत्मा - यह निरपेक्ष से कहा।

(११२६)

अपने द्रव्य की ओर दृष्टि करने से; स्वयं ही ज्ञाता, स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय है - ऐसा अनुभव में आता है। इसमें पूरा रहस्य भर दिया है। ध्येय को 'अहंपने' अनुभव करनेवाला ज्ञेय को 'अहंपने' के बिना अनुभव करता है। मैं ज्ञाता और राग ज्ञेय - ऐसा तो है ही नहीं। मैं ज्ञाता मैं ज्ञेय, ऐसे है, फिर भी नहीं है, इसमें अनुभव होता है।

(११२७)

स्वयं को संसारी मानकर संसाररहित होने के अनन्त उपाय करो, सफलता नहीं मिलेगी। तो उपाय क्या है? मैं तो संसार से रहित हूँ। जो संसार से उदास है, उसका संसार उदास है।

(११२८)

ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञेय जानने में नहीं आता। यह मर्म की, अति मर्म की बात है। ज्ञान की पर्याय के भेद को जानता नहीं है, मैं जाननेवाला हूँ, ऐसा जानने में आता है।

(११२९)

सर्व दुःखों का मूल - ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की गलत समझ। जब तक पर के साथ किसी प्रकार का, कोई भी सम्बन्ध भासित होता है, तब तक उसने जिनवाणी का रहस्य पाया भी नहीं और पायेगा भी नहीं।

(११३०)

जिसे कारण मिलता है, उसका कार्य सिद्ध होता ही है। रुचि एक आत्मा की रखना, मोक्ष के साथ तो संयोग सम्बन्ध है।

(११३१)

पर, भिन्नरूप से तो जानने में आता है न? भिन्न को जानना ही नहीं होता, ऐसे समझ लेना। जो जानने में आता है, वह वस्तु है। जो जानने में ही नहीं आता, वह अवस्तु है, जा!

(११३२)

दृष्टि → दर्पण ऊपर और ज्ञान → दर्पण की पर्याय का ही। जैसे दृष्टि नहीं बदलती, वैसे ज्ञान भी नहीं बदलता।

(११३३)

व्रतादि का अभ्यास तो मिथ्यात्व का अभ्यास है। जैनदर्शन में कुछ भी नहीं करना है, सिर्फ भेदज्ञान ही करना है।

(११३४)

ज्ञाता का पक्ष गहनता से आ जाये तो अल्प समय में ही अन्तर्मुख हो जाता है।

(११३५)

२७१ श्लोक का संक्षिप्त सार → तेरे आत्मा को जानना छोड़कर, तू पर को जानने में रुक गया। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं, लोकालोक जानने में आये - ऐसी तेरी पर्याय नहीं है। तेरी ज्ञान पर्याय को तू जान - ऐसा तेरा स्वरूप है।

(११३६)

ध्येय तो स्वप्रकाशक ही है, परन्तु ज्ञेय भी स्वप्रकाशक ही है। क्योंकी अपने को जानते समय, स्वयं ही जानने में आता है, क्योंकि ज्ञानधर्म, ज्ञेयधर्म मुझमें ही हैं। इसलिए अन्य के साथ मुझे जानने का भी सम्बन्ध नहीं है। कर्ता, कर्म आदि कारकों से रहित, राग के कारक से तो रहित है ही, परन्तु आत्मा कर्ता, ज्ञान कर्म, ऐसे भेद कारक से भी रहित है।

(११३७)

शरीर से सर्वथा भिन्न है, इसलिए उसे देखना सर्वथा बन्द करो, तो शरीर से सर्वथा भिन्न आत्मा आपको सर्वथा देखने में आयेगा। सर्वथा भिन्न है, इसलिए उसे देखना सर्वथा बन्द होता है, मार्मिक बात है।

(११३८)

भेदज्ञान के मन्त्र का विचार करता हो, उसे ही सावधान मरण होता है, अन्य को नहीं।

(११३९)

स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञाता, स्वयं ही ज्ञेय - यह चमत्कार है; इससे बाहर निकलने की सख्त मनाही है। यह चमत्कार प्रगट कब होता है? स्व द्रव्य की ओर दृष्टि करते ही यह चमत्कार प्रगट होता है।

(११४०)

यदि राग ज्ञेय है, तो आत्मा जड़ हो जायेगा; लोक में पाँच द्रव्य हो जायेंगे, छह द्रव्य नहीं रहेंगे। राग को नहीं करे और नहीं जाने, उसमें ज्ञायक भी रहता है और ज्ञायक का अनुभव भी रहता है।

(११४१)

अमृत समुद्र → सब अभेद एक है। सब एक आत्मा ही है। इसका वाच्य अनुभवगम्य है। यह वचन की पराकाष्ठा है, इसके बाद वाणी नहीं होती।

(११४२)

इस ज्ञेयत्व धर्म की बाहर में स्थापना की; तो अपने ज्ञेयत्व का छेद कर दिया, धर्म का सर्वथा छेद कर दिया। इस पर्यूषण पर्व में, मेरा ज्ञेयत्व आत्मा में ही है; ऐसी स्थापना कर दे। भगवान आत्मा के दर्शन मात्र से अनन्त काल के पाप का नाश हो जाता है।

(११४३)

जो प्रमेय लगेगा, उसमें ही अपने अस्तित्व का भासन होगा। ज्ञान में ज्ञेयत्व है; यह बात कोई जानता ही नहीं। मेरा ज्ञान मुझे निरन्तर जान रहा है, यह बात सुनकर बहुत अपूर्वता लगी थी।

(११४४)

कोई जानता ही नहीं कि 'इन्द्रियज्ञान, ज्ञान ही नहीं है।' इसमें प्रयोजन सिद्ध ही नहीं होता। इन्द्रियज्ञान और मोह, अविनाभावी है। इन्द्रियज्ञान, ज्ञान ही नहीं है, अर्थात् अज्ञान है; उसका अज्ञान नाम सार्थक है। यदि उसे स्वज्ञेय मानेंगे तो अज्ञान उत्पन्न होगा।

(११४५)

स्वद्रव्य-परद्रव्य की संक्षिप्त साररूप परिभाषा → जिसके लक्ष से आनन्द का अनुभव होता है, वह स्वद्रव्य और जिसके लक्ष से आनन्द का अनुभव नहीं हो परंतु विकल्प हो, वह परद्रव्य। आनन्द के प्रति लक्ष जाने से → आनन्द का भाटा (उतार)। आनन्दमूर्ति के प्रति लक्ष जाने से → आनन्द का ज्वार; इसलिए अनुभव से सिद्ध हुआ कि पर्यायमात्र परद्रव्य है।

(११४६)

द्रव्य एकदम अपरिणामी → परम सत्य। द्रव्य ही परिणमता है → कथंचित् सत्य। दोनों बात एक समय में 'हाँ' → परम सत्य। फिर कथंचित् सत्य और परम सत्य कुछ भी नहीं।

(११४७)

जैसे गुणभेद बिना आत्मा को नहीं समझा सकते, उससे अनन्तगुणा जरूरी है गुणभेद का निषेध, उसके बिना अभेद की दृष्टि नहीं हो सकती। बाहर की बात छोड़ो; आत्मा में जो गुण हैं, उसका लक्ष करे तो भी धर्म नहीं होता।

(११४८)

यह वृक्ष दिखता है, ऐसी भ्रांति क्यों है? ज्ञान में तो यह नहीं है। निद्रा में ऐसा भासित हुआ कि घर जल गया, उस प्रकार जानने में आता है, वह आभास मात्र है।

(११४९)

इन्द्रियज्ञान को आचार्य भगवान देश निष्कासन की सजा का फरमान करते हैं। यह घर का चोर है। इन्द्रियज्ञान से बहुत धोखा खाते हैं। इन्द्रियज्ञान अज्ञान है, ज्ञान है ही नहीं।

(११५०)

अकेले ध्येय में जैनदर्शन प्रगट नहीं होता, यह तो एकान्त है। जब अनुभव से सम्यक् अनेकान्त प्रगट होता है, तब उसे सम्यक् एकान्त नाम प्राप्त होता है।

(११५१)

पर के सामने देखने से पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे नहीं दिखेगा। पर को जानना बन्द करने से, पर से भिन्न आत्मा जानने में आएगा।

(११५२)

आत्मा अकर्ता है → जैनदर्शन की पराकाष्ठा। वही जानने में आ रहा है → यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। (विधि सम्बन्धी) सरलता की पराकाष्ठा समयसार की १७-१८ गाथा में बतायी है।

(११५३)

प्रश्न : पर्याय की अपेक्षा से तो कुछ करना चाहिए न?

उत्तर : पर्याय में भी तुम्हें ऐसा आभास होना चाहिए कि मुझे कुछ नहीं करना है। तुम्हारे ज्ञान और श्रद्धान में से एकदम निकाल दो कि 'मुझे कुछ करना है।'

(११५४)

परिणाम मात्र से रहित आत्मा जिसे दृष्टि में आता है, वह सर्वज्ञ का अनुयायी है।

(११५५)

प्रश्न : कार्य क्यों नहीं होता है?

उत्तर : पर्याय की राह क्यों देखते हो? पर्याय मेरे आश्रित है, मैं उसके आश्रित नहीं हूँ।

(११५६)

दुख का ज्ञात होना तो ज्ञान को जाहिर करता है। आत्मा दुःखी हो गया या ज्ञान दुःख को जानता है; ऐसा जाहिर करता ही नहीं। पर सम्बन्धी का ज्ञान ही कहलाता है, परन्तु वह पर सम्बन्धी ज्ञान कहाँ है? यह तो आत्मा सम्बन्धी ही ज्ञान है।

(११५७)

स्वच्छता को नहीं समझता है, उसे झलक दिखती है - ऐसा समझाते हैं। पदार्थ की झलक = दर्पण की अवस्था।

(११५८)

प्रश्न : आप परज्ञेय का निषेध करते हो?

उत्तर : हम तो जहाँ हैं वहाँ, जैसे हैं वैसे; स्थापना करते हैं। उलटा तू निषेध करता है और आरोप हमें देता है?

(११५९)

जिसने दर्पण को जाना है, वही जान सकता है कि प्रतिबिम्ब दर्पण की ही अवस्था है। जिसने परज्ञेय को, ज्ञेय के प्रतिभास को जानना बन्द किया; वह ऐसा जान सकता है कि यह ज्ञान की ही अवस्था है।

(११६०)

छह द्रव्य ज्ञेय हैं, परन्तु तेरा ज्ञेय थोड़े ही हैं? ज्ञेय को ज्ञान सापेक्ष देखता है, ज्ञान को ज्ञेय सापेक्ष देखता है → यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है।

(११६१)

भावमन आत्मा की हद लेने जाये तो, उसमें आत्मा का समावेश नहीं होता; क्योंकि आत्मा तो ज्ञान में आ जाता है।

(११६२)

शीलवान सम्यग्दृष्टि को ज्ञायक के अलावा अन्य किसी भी ज्ञेय का आभास नहीं होता। शीलवान ज्ञान → यह मेरा ज्ञेय नहीं है, तो उसे जानना बन्द कर देता है। उसके ऊपर से लक्ष हटा ले! जैसे सती स्त्री का एक ही पति होता है, वैसे ज्ञान का ज्ञेय भी एक ही है।

(११६३)

सामान्य हूँ और सामान्य को ही जानता हूँ → यह राग है।

विशेष नहीं हूँ और विशेष को जानता भी नहीं हूँ → यह द्वेष है।

विधि-निषेध से निर्णय होता है, अनुभव नहीं। यह मार्ग, राग-द्वेष का नहीं है।

(११६४)

एक को जानो, दूसरे को जानना बन्द करो, तब तो दो ज्ञेय की सिद्धि होगी। फिर ज्ञायक ही ज्ञेय है → उसमें साध्य की सिद्धि होगी।

(११६५)

सचोट तर्क → 'सहित को नहीं मानोगे, तो रहित का उपाय कैसे करोगे?' सहित तो अनादि से मान रहे हो तो फिर आज तक उपाय तो हुआ ही नहीं।

(११६६)

ज्ञेयाकार ज्ञान, ज्ञेय की पर्याय नहीं है; ज्ञान की पर्याय है; इसलिए वह ज्ञेयाकार नहीं, परन्तु ज्ञानाकार ही है। इसलिए ज्ञेय को और ज्ञेयाकार ज्ञान को जानता नहीं है, वह तो ज्ञानाकार को ही जानता है... ज्ञान, ज्ञेयाकार है ही नहीं। ज्ञेयों के प्रतिभास को गौण करके उसका लक्ष छोड़ दे!

(११६७)

करता नहीं है, उसका निषेध करने के लिए (पर को) जानता है, ऐसा धीरे से कहा, तो पर को जानने में रुक गया। धीमें आवाज से कहते हैं। यदि खेंचकर कहेंगे तो उसे ग्रहण कर लेगा कि भेद को जाननेवाला तो है न?! ज्ञानी की भाषा भेद से कहने की होती है, परन्तु भाव तो अभेद का ही प्रवर्तमान होता है।

(११६८)

(पर)ज्ञेय को आत्मारूप माने तो वह कर्म बन जाता है। ज्ञेय को ज्ञेयरूप से मानने से (स्वयं) ज्ञायक बन जाता है। राग कर्म → आत्मा कर्ता दिखेगा। राग ज्ञेय → आत्मा ज्ञायक दिखेगा।

(११६९)

प्रश्न : द्रव्य-पर्याय के टुकड़ें क्यों करते हो?

उत्तर : हेय, उपादेय करने के लिए।

प्रश्न : ध्रुव उपादेय तत्त्व निकालने के लिए 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं' इस सूत्र में से सत् को तोड़ना जरूरी है।

उत्तर : हाँ, बहुत आवश्यक है, निर्दयता से तोड़ना पड़ेगा।

(११७०)

कुछ करने से, कुछ जानने से शुद्धपर्याय नहीं होगी। जाननेवाले को जानने से शुद्धपर्याय, बिना कुछ किये ही होगी। तुझे कुछ नहीं करना है। तेरा काम तुझे जानने का है, उसे कर ले न!

(११७१)

शुभाशुभभाव में विभाग किया क्या? और शुभ उपादेय हुआ क्या!! शुभभाव करना, वह प्राथमिक भूमिका है या निगोद का पंथ है? इसका गहनता से विचार करना।

(११७२)

जानता है, करता नहीं → यह भेदज्ञान हुआ। जानता भी है और करता भी है → एकत्व हुआ। परिणाम को करता है, यह व्यवहार भी कहाँ है? परिणाम को जाने, वह व्यवहार है। आहाहाहा! स्वभाव सदा 'सर्वथा' होता है। देखे और करे भी; ऐसे नहीं होता।

(११७३)

उत्पाद, व्यय और ध्रुव का ज्ञान करने से समकित नहीं होता, परन्तु समकित के काल में उत्पाद, व्यय, ध्रुव का ज्ञान हो जाता है।

प्रश्न : तीव्र मोह में आत्मा याद आता ही नहीं?

उत्तर : आत्मा को याद करे, उसे तीव्र मोह रहता ही नहीं।

(११७४)

ध्येयपूर्वक ज्ञेय होता ही है। मात्र ध्येय से काम नहीं होगा। मात्र ज्ञेय से भी काम नहीं होगा। द्रव्य का निश्चय और पर्याय का निश्चय एक साथ आता है, तब अनुभव होता है। क्रम पड़े तो पक्ष होता है।

(११७५)

ज्ञानी तो बहुत कहकर गये हैं, परन्तु इसे भेदज्ञान करना नहीं आता है। कथन दो प्रकार के आयेंगे, परन्तु उसमें से निश्चय निकालना वह अपना काम है। 'केवल' और 'ही' शब्दों से सम्यक् एकान्त किया।

(११७६)

अज्ञानी को ज्ञान नैमित्तिक क्यों लगता है? क्योंकि उसका लक्ष निमित्त के ऊपर है, इसलिए।

(११७७)

लक्ष ज्ञायक के ऊपर है, इसलिए कहा जाता है कि → ज्ञान आत्मा से होता है; परन्तु ऐसा कभी भी नहीं मानना। ज्ञान स्वयंकृत है, सत् और अहेतुक है। 'स्वयं' पर वजन है। ज्ञान परकृत तो नहीं, परन्तु ज्ञायककृत भी नहीं है। पहले परम सत्य को समझ ले!

(११७८)

(स्वानुभव के काल में) पर्याय होने पर भी, पर्याय नहीं रहती। अभेद होने पर भी, अभेद नहीं होती - यह रहस्य है। 'अचलं ज्ञानं' ज्ञान पर्याय हलन- चलनवाली नहीं है। चंचलतारहित निस्तरंग स्थिर हो गयी है। आत्मा ही हो गयी है। आत्मा में डूब गयी है।

(११७९)

परज्ञेय कहता है मेरा लक्ष कर → ऐसा जिनवाणी में लिखा ही नहीं है। मेरा लक्ष छोड़ दे - ऐसा लिखा है, तुझे पढ़ना नहीं आता।

(११८०)

'ही' शब्द मिथ्या एकान्त का द्योतक बिल्कुल नहीं है। सम्यक् एकान्त से डरोगे तो अनेकान्त कैसे प्रगट होगा? शास्त्र में 'अत्यन्त भिन्न' असमर्थ - दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(११८१)

प्रश्न : पर को जानता हूँ वह गौण करना?

उत्तर : नहीं; उसका निषेध करना।

(११८२)

वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, यह बात ज्ञेय की है; ध्येय की बात नहीं है। तू बहुत बड़ी भूल में खड़ा है।

(११८३)

मूल भाव → अकर्ता से शुरुआत होकर अकर्ता में ही पूर्णता होती है। कर्ता से शुरुआत कभी भी नहीं होती। उसे उत्साह आ जाए कि पाप के समय में मेरा आत्मा उसका कर्ता नहीं था, ऐसा श्रीगुरु कहते हैं।

(११८४)

पर का तो ज्ञाता नहीं परन्तु स्व-पर का ज्ञाता हूँ → यह अति सूक्ष्म भूल है। स्व-पर जानने में आ रहा है → इस प्रमाण के पक्षवाले को अनुभव नहीं होता। ज्ञान की पर्याय जानने में आ रही है, ज्ञायक जानने में आ रहा है; ऐसा निश्चय में आने पर अनुभव होता है।

(११८५)

स्व-पर दोनों को जानना, ऐसा स्वपरप्रकाशक का अर्थ ही नहीं है, परन्तु स्व-पर का जिसमें प्रतिभास होता है, ऐसी ज्ञान की पर्याय ज्ञात हो रही है – स्वपरप्रकाशक का अर्थ तो ऐसा है।

(११८६)

ध्येय में बैठने (स्थिर होने) से ध्यान हो जाता था। उसके लक्ष बिना जानने में आ जाता है। ध्यान को जानता नहीं था। कर्ताबुद्धिवाले को करने की बात रुचती है। उसे ध्यान कदापि प्रगट नहीं होगा। ध्यान के बहाने उसे पर्याय में बैठना है। मुझे ध्यान करना है तो तूने स्वयं को परमात्मा के रूप में स्वीकार ही नहीं किया।

(११८७)

हे भगवान! अब तो प्रसन्न हो जाओ! **प्रसीद प्रसीद ....** तुझे कुछ करने का भी नहीं रहा और तुझे कुछ जानने का भी नहीं रहा। आत्मा का ज्ञान हो रहा है, आत्मा जानने में आ रहा है; ऐसे देख ले! तुझे ऐसा ही जानने में आयेगा।

(११८८)

मेरा ज्ञान मुझे जानना छोड़कर, पर को जानने जाये, तो आत्मा ज्ञान बिना का हो जायेगा। ज्ञान, आत्मा बिना का हो जाए, तो दोनों जड़ हो जायेंगे।

(११८९)

ज्ञान स्वप्रकाशक है, इसमें अधूरापन नहीं है; पूर्ण बात है। स्वभाव पूर्ण ही होता है, सहज ही होता है। स्वप्रकाशक स्वभाव है और उसका कभी अभाव नहीं होता।

(११९०)

प्रश्न : मुख्यता तो ध्येय की ही होती है न?

उत्तर : मुख्यता, गौणता यह.... फिर क्या? जैसा है, वैसा सब ज्ञात होता है। अनुभवगम्य बात वचन से कही। 'ध्येय की मुख्यता' इसमें ध्येय के राग को पुष्ट करता था। जैसा है, वैसा ज्ञात होता है। ध्येय का राग छूटकर और ध्येय का ध्यान हुआ; ज्ञेय का द्वेष छूटकर ज्ञेय का ज्ञान हुआ।

(११९१)

अज्ञान तो अज्ञान लगता है परन्तु व्यवहार सच्चा लगता है, यह महा बड़ा अज्ञान है।

(११९२)

निर्विकल्पध्यान में शरीर तो क्या? परिणाम भेद नहीं दिखता। अभेद को जानता है, और अभेद (परिणामी) ज्ञात हो जाता है। **"भाति न द्वैतमेव"** - मैं अनुभव करता हूँ – ऐसा विकल्प भी नहीं होता। 'मैं तो द्रव्य हूँ' एकान्त से ऐसी ही भावना होती है।

(११९३)

द्रव्य-गुण-पर्याय का अभेदपना हो, तब मोह का नाश होता है। इसमें दृष्टि तो त्रिकाली पर ही होती है।

(११९४)

प्रमाण से देखो तो निश्चयनय सापेक्ष है। निश्चयनय से यह निश्चयनय निरपेक्ष है। आगम का स्टेज → निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं - ऐसा नहीं; व्यवहार का निषेध, यही निश्चय की सापेक्षता हुई।

(११९५)

यह मूल मुद्दे की बात है। निश्चयनय ऐसी वस्तु है कि जिसमें तुम्हें पर्याय है या नहीं, याद नहीं आना चाहिए। जो आत्मा में नहीं, उसे तुम 'नहीं, नहीं' ऐसे किसलिए याद करते हो? तुम पर्याय को याद करो तो द्रव्य गया हाथ में से; तुम्हें द्रव्य को देखना हो तो पर्याय की आँख सर्वथा बन्द कर दो!

(११९६)

'निश्चयनय परमार्थ का प्रतिपादक है' → उसमें भेद को उल्लंघ कर अभेद में जाना, ऐसा नहीं। ज्ञान, वह आत्मा - ऐसा भेद आता ही नहीं; सीधा अभेद ही आता है। व्यवहार से समझाते हैं कि 'ज्ञान, वह आत्मा' तो व्यवहार में ही जीव अटक जाते हैं। जबकि यहाँ तो अटकने का कोई चाँस ही नहीं है।

(११९७)

निश्चय, व्यवहार का प्रलय करता है। 'प्रलय' करता है, गौण करता है - ऐसा नहीं कहा। आत्मा में स्याद्वाद है ही नहीं। स्याद्वाद आत्मा में है - ऐसा यदि तुम लो, तो तुम ज्ञानप्रधान व्यवहार में आ गये।

(११९८)

उत्पाद-व्यय से रहित हूँ - ऐसा सविकल्प में आता है, वह व्यवहार श्रद्धा है। उत्पाद-व्यय से सहित की श्रद्धा, वह व्यवहार श्रद्धा है ही नहीं; वह तो अज्ञान है। आत्मा, पर्याय से रहित है, यह बात उसने रुचिपूर्वक सुनी नहीं; इसलिए उसकी व्यवहार श्रद्धा खोटी है।

(११९९)

समवसरण में यह बात कही जाती है। 'सामान्य को अवलोकते हुए, विशेष को नहीं अवलोकते हुए' कथंचित् पर्याय है, कथंचित् नहीं... यह याद नहीं आता। जो धारा उठी है, वह सामान्य को ही देखती है; तब ज्ञान का पहलू याद ही नहीं आता।

(१२००)

पहले द्रव्य को जान, फिर पर्याय को जान! ऐसे तो फिर पर्याय ज्ञात हो ही जायेगी, तीर्थंकर का फरमान लेकर देवीदूत यहाँ पधारे हैं।

(१२०१)

कथंचित् भिन्न से शुरुआत करना यथार्थ नहीं है; पहले सर्वथा भिन्न से शुरुआत होती है, जहाँ 'सर्वथा' भिन्न लिया, वहाँ तो दृष्टि, द्रव्य पर आ गयी।

(१२०२)

क्षणमात्र इतना समय भी तुझे आत्मा को देखने के लिए नहीं मिलता? प्रथम आत्मा को देख! प्रथम आत्मा को जान! नहीं तो भव हार जायेगा।

(१२०३)

दिव्यध्वनि के लक्ष से बुरी गति होगी, इसलिए दिव्यध्वनि का भी लक्ष छोड़ दे! उपकारी गुरु को जाननेवाला ज्ञान, वह ज्ञेय है; उससे भगवान आत्मा को जाननेवाला ज्ञान अलग है। सूक्ष्म बात है।

(१२०४)

सूक्ष्म बात है! व्यवहार, मोहराजा का सेनापति है। मोह कहता है - इन्द्रियज्ञान को तू ज्ञान कहना, ज्ञेय नहीं कहना। आज प्रसिद्ध होओ कि इन्द्रियज्ञान का नाम ज्ञेय है।

(१२०५)

कोहिनूर का हीरा → जो अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल द्वारा यह विधि बतायी है।

(१२०६)

द्रव्य सत् है, पर्याय सत् है। आहाहा! क्या पर्याय मुझे प्रसिद्ध करे तो मैं हूँ? ऐसा नहीं। दिगम्बर मुनि को जंगल में कैसी मस्ती चढ़ जाती होगी! फूल को कोई सूँघे अथवा न सूँघे, उसकी सुगंध तो स्वयं से है।

(१२०७)

ज्ञानी कैसे होते हैं? जैसे आत्मा अकर्ता होता है, वैसे ज्ञानी होते हैं।

(१२०८)

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति का विधान सम्यक् एकान्त में आकर ज्ञान, अनेकान्त के प्रति मध्यस्थ होता है, इसलिए अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष का नाश होता है। आत्मानुभव, सम्यक् एकान्तपूर्वक अनेकान्त में ही होता है। जो भाव, सम्यक् एकान्त की पुष्टि करे, उसका नाम अस्ति-नास्ति अनेकान्त।

(१२०८)

अशुद्ध निश्चयनय से (एकदेश या सर्वदेश शुद्धनय से नहीं) बन्ध- मोक्ष को करता है। शुद्ध निश्चयनय से तो बन्ध- मोक्ष को करता ही नहीं, कथंचित् करे और कथंचित् न करे - यह भी निकाल दिया।

(१२०९)

मेरे ज्ञान में ज्ञायक तन्मयरूप से निरन्तर जानने में आ रहा है, इसलिए मेरा नाम ज्ञाता है। वहाँ तो साक्षात् ज्ञाता हो जाता है।

(१२१०)

ज्ञान का ज्ञायक को आश्रय है; ज्ञायक को जानता है - ऐसा नहीं। ज्ञान निर्विषय है- ज्ञान सत् अहेतुक है। आत्मा का अवलम्बन ले, तब ज्ञान होता है, यह व्यवहार से है। ज्ञान उसके जन्मक्षण में प्रगट होता है।

(१२११)

दुःख को सर्वथा भिन्न कहोगे तो अज्ञान सिद्ध नहीं होगा! यह उसकी वक्रता है। आत्मा को उपचार से अज्ञानमय कहा है; अनुपचार से तो ज्ञानमय रहा है।

(१२१२)

पर का ज्ञाता, यह व्यवहार तो है न! ऐसा घोलन करेगा तो फिर ज्ञाताबुद्धि रह जाना संभव है। छह महीने से अधिक पर को जानने में रुकेगा तो फिर मिथ्यादृष्टि हो जायेगा।

(१२१३)

आत्मा से विमुख हुए परिणाम, वह ज्ञान ही नहीं है; वह तो ज्ञेय है। (ज्ञान, आत्मा से विमुख होता ही नहीं)।

(१२१४)

ज्ञान की उत्पत्ति के लिए किसी के संग की अपेक्षा नहीं है क्योंकि आत्मा असंग स्वभावी, निसंगी स्वभावी है।

(१२१५)

इन्द्रियज्ञान, जड़ और अचेतन है, क्योंकि उसमें आत्मा ज्ञात नहीं होता; इसलिए अचेतन है। इन्द्रियज्ञान में ज्ञातापना नहीं होता। कर्ताबुद्धि होती है। बहुत सूक्ष्म बात है।

(१२१६)

आत्मा का स्वरूप तुम कहोगे परन्तु उसके लक्षण बिना, मैं उसे जान नहीं सकूँगा।

(१२१७)

ज्ञान के उघाड़ की ओर देखेगा तो आत्मा में उसका अभाव है - ऐसा नहीं दिखेगा। स्वभाव को देखेगा तो मुझमें उसका अभाव है - ऐसा दिखेगा।

(१२१८)

भिन्न रस, भिन्न साधन द्वारा ज्ञात नहीं होता। अभिन्न साधन द्वारा अभिन्न आत्मा का ज्ञान हो तो रस का (भिन्न का) ज्ञान मुफ्त में हो जाता है।

(१२१९)

सामान्य अपेक्षा से ज्ञाता है; विशेष अपेक्षा से ज्ञाता ही है। सामान्य से विरुद्ध विशेष को माने, वह स्पष्ट, अत्यन्त स्पष्ट मिथ्यादृष्टि है। जो ऐसा स्वीकार करे कि विशेष अपेक्षा से ज्ञाता ही है, वह सामान्य में आ जाता है क्योंकि सामान्य-विशेष में भेद नहीं है। यहाँ ज्ञेय के पहलुओं की बात है।

(१२२०)

प्रश्न : ज्ञायक अनुभव में आता है? तन्मय हो तो अनुभव में आये न?

उत्तर : परिणामी और परिणाम अलग नहीं होते।

(१२२१)

अज्ञानी कहता है → शुभ करो। ज्ञानी कहता है → शुभ को देखना बन्द करो। शुभ को धर्म का कारण माननेवाला दिवाला निकालेगा।

(१२२२)

वाणी, निमित्त की प्रधानता से है, जबकि ज्ञान, उपादान की प्रधानता से होता है। उपादान की प्रधानता से ज्ञान का ज्ञान होता है; राग का ज्ञान नहीं होता। राग उसमें निमित्त भी नहीं है। काम हो जाये ऐसा है।

(१२२३)

'योग्यता' आत्मा का केवल ज्ञातापना दर्शाती है। कर्ताबुद्धि तो नहीं, परन्तु कथंचित् कर्ता का भी निषेध है।

(१२२४)

नैमित्तिक को गौण करो तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ही है। ज्ञान को निरपेक्ष देख लो तो ज्ञायक पर चले जाओगे। जब तक विवक्षा का अभाव नहीं करोगे, तब तक 'उपयोग लक्षण' ख्याल में नहीं आता।

(१२२५)

समयसारजी शास्त्र की ३१ गाथा विषय को जीतने की है और ७३ गाथा कषाय को जीतने की है। कषाय को तो जीता जा सकता है परन्तु विषय को जीतना बहुत मुश्किल है।

(१२२६)

परिणाम में राग होता है, इस बात को भूल जा! राग प्रगट होता है, यह भूल जा! ज्ञान में दु:ख ज्ञात होता है, यह भी भूल जा! ज्ञान में ज्ञायक ज्ञात होता है - ऐसा ले न!

(१२२७)

स्वभाव में अर्थात् पर्याय की योग्यता में बिल्कुल पर की सहायता नहीं होती। पानी को ठण्डा करने फ्रिज में नहीं रखना पड़ता। ज्ञाता के पक्ष में आया हुआ 'योग्यता' पर वजन दे सकता है।

(१२२८)

वस्तु को सर्वथा नित्यानित्य माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। आत्मा में परिणाम होते हैं - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

(१२२९)

प्रमाणज्ञान नियम से शुद्धनय सापेक्ष होना चाहिए, तब वह सम्यक् प्रमाणज्ञान है, वरना प्रमाणाभास है।

(१२३०)

प्रश्न : सम्यग्ज्ञान पराश्रित है या स्वाश्रित?

उत्तर : स्वाश्रित है - ऐसा कहने से व्यवहार हुआ; परिणाम का निश्चय नहीं रहा। महासिद्धांत 'सत्' स्वयं से ही होता है।

(१२३१)

पर का जैसा स्वरूप है, वैसा जानना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान नहीं है। आत्मा का स्वरूप जैसा है, वैसा जानना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। द्रव्यलिंगी मुनि इसमें भूला है। असाधारण बात है, भूल जैसी लगे नहीं, ऐसी यह भूल है। पर के यथार्थ स्वरूप को जानने से सम्यग्ज्ञान नहीं होता; आत्मा को जानने से स्व-पर का यथार्थ स्वरूप सहज ज्ञात होता है। यह तो अत्यन्त गम्भीर और मार्मिक बात है।

(१२३२)

सातवें नरक की अपेक्षा निगोद के परिणाम तो झट कर लेता है कि → मैं पर को जानता हूँ।

(१२३३)

बाजी तेरे हाथ में है, मैं परिणाम का निमित्त भी नहीं - ऐसे वहाँ से हट जा! मैं निमित्त नहीं, वहाँ तो अज्ञान टल जाता है; पर का जाननेवाला भी नहीं, तो निमित्तकर्ता तो कहाँ से होऊँगा?

(१२३४)

निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं, नहीं तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आयेगा अर्थात् नित्य अज्ञान ही रहा करेगा।

(१२३५)

सविकल्प में → राग नहींरूप से ज्ञात होता था।

निर्विकल्प में → राग नहींरूप से ज्ञात नहीं होता।

(१२३६)

स्वरूप से सत्ता, पररूप से असत्ता - इन दोनों के द्वारा एक सत्ता का निश्चय होता है, यह महासिद्धांत है। यह अस्ति-नास्ति अनेकान्त ऐसा है कि सम्यग्दर्शन न हो; उसे हो जाये; होवे, उसे जाये नहीं और चारित्र को लावे - ऐसा भेदज्ञानपरक यह अनेकान्त है।

(१२३७)

राग को जीवरूप जाने, वह जीव को जीवरूप नहीं जानता। जीव को जीवपने जाना, तब राग अजीव है - ऐसा राग के सन्मुख हुए बिना, राग को जानता है।

(१२३८)

आत्मा को कर्तारूप माना, वह सात व्यसन से अनन्तगुना बड़ा पाप है। यह आत्मा के प्रति बलात्कार है। पूरे मिथ्यात्व का मूल यह कर्ताबुद्धि है।

(१२३९)

वर्णादिक का व्यवहार से भी जीव के साथ तादात्म्य दिखेगा तो निश्चय से पुद्गल के साथ तादात्म्य नहीं दिखेगा, तो जीव का परम पारिणामिकभाव के साथ तादात्म्य है, यह भी नहीं दिखेगा। जिसे व्यवहार का निषेध करना आ जायेगा, उसका काम हो जायेगा।

(१२४०)

जब तक पर्याय का अकर्तापना लक्ष में नहीं आवे, तब तक समकित नहीं होता।

(१२४१)

जीवतत्त्व परिणाम से रहित है - ऐसा जिसे नहीं जँचे, उसे परिणाम सुधारने का अभिप्राय रहा ही करता है, रहा ही करता है। परिणाम करने की भावना में उसे द्रव्य या पर्याय कुछ ज्ञात नहीं होता।

(१२४२)

पहले से निषेध से उठा है, फिर भी निषेध से श्रेणी में आता है तो निषेध से लाभ हुआ न?

(१२४३)

आत्मा में इतना आनन्द है कि वह फटे तो तीन लोक डूब जाये।

(१२४४)

विशिष्ट प्रकार का परमात्मतत्त्व मैं हूँ। राग के मध्य में वह अपनी शुद्धता को छोड़ता नहीं → यह तो परम चमत्कार है। जो स्वरूप है, वह अन्यथा नहीं होता - यही एक अद्‌भुत आश्चर्य है। नहीं

(१२४५)

परिणाम मेरा ध्यान करे तो करो! मैं किसका ध्यान करूँ? ध्यान की भी कितनी उपेक्षा है, यह देखो तो सही!

(१२४६)

पर्याय, श्रद्धा का विषय तो है ही नहीं परन्तु अनुभव पहले ज्ञान का विषय भी नहीं है; इसलिए प्रथम परिणाम जानने लायक नहीं है परन्तु जानने का बन्द करने लायक है, क्योंकि अनुभव से पहले पर्याय ज्ञात होती है, वह अज्ञान है।

(१२४७)

(नियमसार की ३८ वीं गाथा में लिया) पहला हेय शब्द है, दूसरा उपादेय शब्द है। क्रम में भी रहस्य है। व्यवहार के निषेधपूर्वक निश्चय होता है।

(१२४८)

पूँजी नहीं तो ब्याज कहाँ से आयेगा? संवर-निर्जरा तो ब्याज है, पूँजी नहीं। मोक्षतत्त्व, नाशवान है; शुद्धात्मा की पूँजी उपादेय है। ब्याज, अर्थात् मोक्ष (आश्रय के लिये) उपादेय नहीं है।

(१२४९)

जानने का और जानने में आने का आत्मा का ही स्वभाव है; स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता। काल पका हो, उसे स्वरूप की बात सुनने को मिलती ही मिलती है।

(१२५०)

(१) आत्मा में कर्तृत्व नहीं

(२) आत्मा के देखनेवाले को कर्तृत्व दिखता नहीं

(३) आत्मा में लीन रहनेवाले को कोई कर्तृत्व रहता नहीं।

(१२५१)

प्रश्न : समकित है, वह द्रव्य है या पर्याय?

उत्तर : ध्यान से सुनना... वह आत्मा है (अलिंगग्रहण, बोल २०)

(१२५२)

अनन्त काल से नुकसानी का ही धन्धा किया है परन्तु विशिष्टता की बात यह है कि नुकसान बिल्कुल हुआ ही नहीं; पूँजी सलामत पड़ी है।

(१२५३)

अपरिणामी आत्मा, परिणामी आत्मा, या (शुद्धज्ञानपरिणत जीव) ज्ञान की पर्याय तीनों ज्ञाता ही हैं; कर्ता नहीं।

(१२५४)

परमात्मा होने की तैयारीवाले धर्मात्मा कहते हैं कि → जीव दो प्रकार का नहीं है। जैसे, मोक्षमार्ग एक प्रकार का है; वैसे जीव भी एक प्रकार का है। जीव को दो प्रकारवाला मानना, वह उसे गाली देने के समान है, अरे! गाली ही है।

(१२५५)

निर्विकल्प में तो पर्यायार्थिक चक्षु बन्द की परन्तु सविकल्प में भी वह बन्द की है। भावी तीर्थंकर कहते हैं हमारे पास व्यवहाररूप ज्ञान है ही नहीं; इसलिए हमें कोई संसारी और कोई सिद्ध - ऐसा दिखता ही नहीं न! परिणाम को जानने की कितनी उपेक्षा!

(१२५६)

गुणों को आधार-आधेय सम्बन्ध का व्यवहार, द्रव्य के साथ है; पर्याय के साथ नहीं। आधार-आधेय के व्यवहार से पार अनुभूति है।

(१२५७)

अनुभूति करनी है - ऐसी चिन्ता में और चिन्ता में 'जो सहज प्राप्त है' उसकी ओर तेरी दृष्टि नहीं जाती।

(१२५८)

सम्यग्ज्ञानी को आत्मा ज्ञात होता है - ऐसा नहीं। मुझे आत्मा ज्ञात होता है – ऐसा माने तो स्वयं सम्यग्ज्ञानी हो जाता है।

(१२५९)

जैसे पाँच परमेष्ठी हैं, वैसे यह पाँच गाथाएँ हैं (नियमसार, ७७ से ८१ तक)। पाँच गाथाओं का रहस्य समझेगा तो पंच परमेष्ठी में समाहित हो जायेगा।

(१२६०)

आत्मा, ध्रुवत्व को नहीं छोड़ता; पर्याय, परिणमनस्वभाव को नहीं छोड़ती – ऐसा चमत्कार है।

(१२६१)

ढिंढोरा पीटकर कहता हूँ → मैं भूतकाल में नारकी नहीं था।

(१२६२)

आत्मा का लक्ष हो, तब उपचार से कर्ता कहा जाता है परन्तु इस उपचारकर्ता में अटकेगा तो सम्भव है, कर्ताबुद्धि रह जायेगी।

(१२६३)

अकर्ता की परिपक्व स्थिति आने पर समकित सन्मुख हो जाता है। भेदज्ञान की शक्ति विकास पाये, तब अभेद लक्ष में आ जाता है।

(१२६४)

द्रव्य, वह निश्चय और द्रव्य को जानना, वह व्यवहार। यदि द्रव्य को जानना, वह निश्चय लोगे तो पर को जानना, वह व्यवहार हो जायेगा। इसमें हेतु → तुम्हें प्रमाण से बाहर नहीं जाने देना है।

(१२६५)

पहले तो किसी का सुनो नहीं। कुन्द प्रभु, अमृत प्रभु, पद्मप्रभमलधारिदेव, कहानगुरु कहते हैं → पर्याय अत्यन्त भिन्न है... इस बात को लक्ष में ले!

(१२६६)

ज्ञेय की, ज्ञेयरूप से अस्ति, ज्ञानरूप से सदाकाल नास्ति - ऐसी ही कोई ज्ञान की अस्ति, वैसे ज्ञान की मस्ती, उसका नाम अनुभव।

(१२६७)

अरे... रे! विकल्प हो या निर्विकल्प हो! ये दोनों परिणाम के धर्म हैं, मुझमें कुछ होता ही नहीं → यह भेदज्ञान की पराकाष्ठा है। अभेद विज्ञानघन की पराकाष्ठा है।

(१२६८)

आत्मा उपचार से निर्मलपर्याय का कर्ता है, यह बात साधक को खटकती है। नियमसार, परमार्थ प्रतिक्रमण में कहा है कि → आत्मा उपचार से भी निर्मलपरिणाम का कर्ता नहीं है - ऐसा अकर्तापना/ज्ञायकपना मुझमें है। यह रहस्य यहाँ खोलते हैं, तब साधक फिर से उपचार को उल्लंघकर अनुपचार में चले जाते हैं। अरे! देखो तो, श्रेणी आ जाये ऐसी बात है।

(१२६९)

जो ज्ञान का निश्चय है → वह दृष्टि का व्यवहार है। आत्मा निष्क्रिय जाननहार ज्ञायक है, वह निश्चय है। आत्मा जाननहाररूप परिणमा है, यह व्यवहार है। यह ज्ञानप्रधान निश्चय, दृष्टिप्रधान निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार में जाता है।

(१२७०)

श्रद्धेय तत्त्व निष्क्रिय होने से वह उसका परिचय नहीं देता... परन्तु उसका परिचय देनेवाला दूसरा एक पहलू है, वह भी (वस्तुगत) भिन्नता रखकर द्रव्य में पूर्ण का अनुभव करता है। श्रद्धा में मुख्य-गौण कुछ नहीं होता; ज्ञान में मुख्य-गौण होता है।

(१२७१)

प्रश्न : ज्ञानस्वभावी आत्मा है, वह अभी इन्द्रिय के अवलम्बन से जानता है या इन्द्रिय के अवलम्बन बिना जानता है?

उत्तर : (१) यदि ज्ञान, इन्द्रिय से जानता हो तो उस समय सामान्यज्ञान है, उसके विशेष का क्या कार्य? (२) यदि वर्तमान ज्ञान, इन्द्रिय से जाने तो सामान्य ज्ञानस्वभाव के विशेष का अभाव होता है। (३) आत्मा का ज्ञान, इन्द्रिय से नहीं जानता परन्तु सामान्यज्ञान के विशेष से ज्ञात होता है। (४) इन्द्रिय से, आत्मा ज्ञान का कार्य करता ही नहीं; ज्ञान स्वयं से ही जानने का विशेषरूप कार्य करता है। (५) आत्मा का जो विशेषरूप स्वभाव है, वही जानने का काम करता है।

(१२७२)

रंग में वर्ण;
राग में → समस्त ही रागादि परिणाम;
भेद में → वीतरागी पर्यायें तथा गुणभेद (समाहित हो जाते हैं)।

(१२७३)

श्रद्धा की पर्याय में दो विषय नहीं होते। ज्ञान में हेय-उपादेय का विभाग है। एक पहलू हेय, दूसरा पहलू उपादेय है।

(१२७४)

केवल वर्तमान पर्याय जितना ही संसार है। इस कारण मुझमें संसार नहीं है – ऐसा जानकर प्रमुदित हो! अब प्रसन्न हो!

(१२७५)

श्रद्धा का विषय एक (परमात्मा) होवे तो सम्यग्दर्शन है और श्रद्धा का विषय दो होवे तो मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन ने जितने आत्मा में अहम् किया जाना; उतना ही आत्मा है; बाकी का अनात्मा है।

(१२७६)

मेरी दृष्टि में केवल मैं ही हूँ; मेरी दृष्टि में विश्व का अत्यन्त अभाव है। श्रद्धा के विषय में संसार की सत्ता नहीं है, यदि होवे तो श्रद्धा उसमें भी ममत्व करे।

(१२७७)

(१) सत्ता में कर्म पड़े हैं, वे प्योर जड़ हैं। (२) पुद्गल जड़कर्म का उदय आता है, वह प्योर जड़ है। (३) जड़कर्म के लक्ष से होनेवाला राग, वह प्योर जड़ है और (४) उसके कारण होनेवाला नया कर्मबन्ध, वह प्योर जड़ है - ये चारों ही भाव अत्यन्त अचेतन और प्योर जड़ हैं।

(१२७८)

अंतर सन्मुख के परिणाम में आत्मा उपादेय होता है, तब सम्यग्दर्शन का परिणाम अनुपादेय है और तब मिथ्यात्व का परिणाम उत्पन्न ही नहीं होता होने से... वह ज्ञान का ज्ञेय भी नहीं है। जिसका अस्तित्व हो, वह ज्ञान का ज्ञेय होता है; इसलिए मिथ्यात्व, रागादि परिणाम अवस्तु है। जिसका अभाव है, वह ज्ञेय कैसे हो? ज्ञान के ज्ञेयरूप भी राग को रखने योग्य नहीं है - यह वस्तु की स्थिति है।

(१२७९)

अनेकान्त = न एकान्त; अनेकान्त के बहाने नीचे रुक जाता है। अनेकान्त में आने पर पण्डित होता है परन्तु यदि उसमें से सम्यक् एकान्त निकाले तो ज्ञानी होता है।

(१२८०)

अजब-गजब की बातें हैं। अजब करे तो निहाल हो जाये। इस जीवन में एक ही लक्ष रखना कि मुझे शुद्धात्मा का स्वरूप समझना है।

(१२८१)

निश्चय का विषय एक है; व्यवहार का विषय अनेक है।

निश्चय का विषय स्थिर है; व्यवहार का विषय अस्थिर है।

(१२८२)

पर्याय न छूने बराबर द्रव्य को छू जाती है। छूती है और नहीं छूती, यह दोनों एक समय में आवे, तब अनुभव होता है।

(१२८३)

भेद को जानने से ज्ञान भी नहीं है और सुख भी नहीं है; इसलिए वह ज्ञान का विषय नहीं है। अभेद को जानने से ज्ञान भी है और सुख भी है, इसलिए अभेद, वह ज्ञान का विषय है।

(१२८४)

श्री नियमसारजी शास्त्र, गाथा ३ में आता है कि निःशेषरूप से अन्तर्मुख, अर्थात् पर्याय को देखने की आँख सर्वथा बन्द करके → यह कोहिनूर का हीरा है।

(१२८५)

परिणाम से सर्वथा भिन्न द्रव्य, यहाँ से उठे, तब कथंचित् भिन्न-अभिन्न का ज्ञान होता है। प्रमाण के फिसलते कदम पर खड़ा रहेगा तो अनुभव नहीं होगा।

(१२८६)

श्री समयसारजी शास्त्र का अजीव अधिकार बहुत ऊँचा है, उसमें दृष्टि के विषय की तीक्ष्णता है, पर्याय की एकता छुड़ाने को गुणस्थान आदि को पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है।

कुन्दकुन्द आचार्य की ऐसी मधुर बात पढ़कर, हमें बहुत बार उनसे साक्षात्कार करने का मन होता है।

(१२८७)

श्रद्धा-पोषक ज्ञान → गाथा-गाथा में, जगह- जगह में, अभेद को ही शोधता है। 'अकर्ता है' - ऐसा जहाँ पढ़े, वहाँ तो उसका ध्यान खिंचता है, अन्दर से उछाला आता है। ज्ञान पर्याय का कर्ता है - ऐसा पढ़े, वहाँ उसका ध्यान नहीं खिंचता, अन्दर से उछाला नहीं आता।

(१२८८)

व्यवहार के पक्ष के दो प्रकार - (१) विशेष का पक्ष, (२) सामान्य-विशेष स्वरूप का पक्ष। व्यवहार और प्रमाण का ज्ञान हुआ, (वह) अलग बात है परन्तु वैसी ही श्रद्धा पोषित करे कि ऐसा मेरा स्वरूप है तो वह भेद-पोषक विचार होने से, वह श्रद्धा-घातक भाव है।

(१२८९)

परमपारिणामिकभाव के साथ आत्मा को तादात्म्य (सम्बन्ध) है; क्षायिकभाव के साथ आत्मा को संयोगसम्बन्ध है।

(१२९०)

प्रवचनसार, गाथा ११४ में सामान्य को जानने का पहला नम्बर, विशेष को जानने का दूसरा नम्बर, सामान्य-विशेष को जानने का तीसरा नम्बर - ऐसा लिया है। तीसरे नम्बर में भी प्रमाण ही लिया; पर नहीं। मैं भी श्रेणी माँडने के लिये तीसरे नम्बर से आगे नहीं जाऊँगा।

(१२९१)

अनुभव के पहले कारण-कार्य की श्रृंखला अनुकूल तथा अनुरूप हो जाती है। उसे ऐसा ख्याल आने लगता है कि मार्ग ऐसा ही होता है! अनादि से नहीं आया हुआ ख्याल आने लगता है।

(१२९२)

हम तो हमारी शान्ति के लिये कदम भरते हैं, दूसरे के सामने देखते ही नहीं। दूसरे का चाहे जो हो!

(१२९३)

इन्द्रियज्ञान, कर्मजन्य है; आत्माजन्य नहीं; इसलिए स्वभाव का अंश नहीं है। पंचाध्यायीकार की दृष्टि बहुत तीक्ष्ण है, उन्होंने कहा कि इन्द्रियज्ञान को स्वभाव का अंश मानने से, उसमें आत्मबुद्धि हो जाती है। स्वभाव का कार्य मान लिया जाये तो इन्द्रियज्ञान से विभक्तता नहीं होती।

(१२९४)

चाँदखेड़ी दर्शन करने गये, तब मेरे मुँह से निकल गया कि- 'पाप हो गया'। भगवान की प्रतिमाजी बहुत ही मनोहारी... दृष्टि वहाँ प्रतिमाजी पर स्थिर हो गयी। पर को जानना वह भावबन्ध का पाप है। पाप लगेगा तो वहाँ से पीछे हटेगा। निश्चय की बात को झेलना साधारण नहीं है।

(१२९५)

द्रव्य और पर्याय का अतन्मयपना कायम रहता... तन्मयपना उस-उस काल में होता है। द्रव्यार्थिकनय से तन्मय होता तो परिणाम पलटता ही नहीं। द्रव्यार्थिकनय से तन्मय हो तो पर्याय के नाश से द्रव्य का नाश हो जाता। पर्यायार्थिकनय से तन्मय न हो तो बन्ध-मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। अतन्मयपना कायम रखकर, तन्मय हुआ; नहीं हुआ वहाँ तो पर्याय पलट जाती है।

(१२९६)

पर्याय, द्रव्य से अनन्य है, वह भले सर्वज्ञ द्वारा कथित व्यवहार है तो भी निश्चय की हद में पहुँचने पर वह व्यवहार झूठा है। पर्याय से अन्य है, इतना ही भूतार्थ-सत्यार्थ आत्मा है।

(१२९७)

प्रवचनसार, गाथा ११४ में अपने भेद को जानने का सर्वथा निषेध किया है। बहुत तीक्ष्णता है (प्रवचनसार, गाथा ११४ में) बहुत माल भरा है। जिसे इस गाथा के न्याय से सम्यग्दर्शन होगा, उसे श्रेणी जल्दी आयेगी। इतना इस गाथा का, दूसरी गाथा से अंतर है।

(१२९८)

कितने काल तक अनुमानज्ञान से आत्मा को देखना है? अब सीधे आत्मा को जान! अनुमानज्ञान में भी भेद को जानने की चक्षु तो बन्द ही कर।

(१२९९)

पचास प्रतिशत पर्याय की आँख और पचास प्रतिशत द्रव्य की आँख खोलना - ऐसा नहीं लिखकर, शत-प्रतिशत की बात लिखी है, क्योंकि पर्याय की आँख खुली रहे तो द्रव्य की आँख खुलती ही नहीं। पूरे ही संसार को उथलाना है तो पूरा ही उपयोग पलटाये बिना ऐसा नहीं होता; इसलिए सर्वथा बन्द कर, यह शब्द यथार्थ है।

(१३००)

ज्ञेय ज्ञात होता है - ऐसा स्वीकार दुर्बुद्धि है। तुझे ऐसा क्यों नहीं भासित होता है कि मुझे जाननहार जानने में आता है। अन्धा है? देखता नहीं। देखनेवाले को देखता नहीं, ज्ञेय को जानना और ज्ञान को या ज्ञानी को न जानना, यह एक आश्चर्य की बात है।

(१३०१)

स्वपरप्रकाशक स्वभाव है - ऐसा कहा, वहाँ ज्ञान की सामर्थ्य सिद्ध की है। स्वपरप्रकाशक को आगे करने से अनुभव होता है - ऐसा नहीं कहा है।

(१३०२)

व्यवहार को साधन कहा है, वह भूतनैगमनय से कहा है। इसमें व्यवहार के पक्षपाती की हार हो गयी। व्यवहार को जहाँ साधन कहा हो, वहाँ सर्वत्र ऐसा समझना कि भूतनैगमनय से ऐसा कहा है।

(१३०३)

कोयला है, वह दर्पण की कालिमा को प्रसिद्ध नहीं करता परन्तु दर्पण की स्वच्छता को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार क्रोधादि, ज्ञान की स्वच्छता को प्रसिद्ध करते हैं; ज्ञान, मलिन हुआ है - ऐसा प्रसिद्ध नहीं करता!

(१३०४)

कालिमा तो कोयले में ही है, क्योंकि कालिमा, कोयले का धर्म है; इसलिए कालिमा को कोयले के साथ ही तादात्म्यसम्बन्ध है। दर्पण में कालिमा नहीं है, भूतकाल में, वर्तमान काल में, या भाविकाल में दर्पण काला हुआ ही नहीं, है नहीं और कभी होगा नहीं। दर्पण सदाकाल स्वच्छ ही है; इसी प्रकार अज्ञानदशा में बँधे हुए कर्मों का उदय आने पर, वे ज्ञानपद में ज्ञात होते हैं, तथापि राग, ज्ञान में नहीं आता; ज्ञान, रागमय नहीं होता, ज्ञान के सन्मुख देखने से ज्ञान, ज्ञानरूप ही ज्ञात होता है... परन्तु ज्ञान, ज्ञान को देखना छोड़कर राग को देखता है, वह अज्ञान है।

(१३०५)

राग को पुद्गल में स्थापित करने का ज्ञानी का इरादा नहीं है परन्तु जीव में से है उत्थापित करना है; इसलिए थोड़ा टाइम... 'है', वहाँ तक उसे पुद्गल का कहते हैं।

(१३०६)

(१) अज्ञान सिद्ध करने के लिये राग कथंचित् जीव में होता है।

(२) भेदज्ञान के विचार के लिये राग कथंचित् पुद्गल में होता है।

(३) भेदज्ञान, अर्थात् अभेदज्ञान प्रगट करने के लिये राग अवस्तु है।

पहला कथन व्यवहार का है, दूसरा कथन निश्चय का है और तीसरा कथन परम शुद्ध निश्चयनय का है। जहाँ आत्मा, आत्मा में लीन होता है, वहाँ निमित्त का लक्ष नहीं रहता; इसलिए नैमित्तिकभाव प्रगट ही नहीं होता। इसलिए वह भाव जीव का है या पुद्गल का है - ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता... इसलिए राग अवस्तु है।

(१३०७)

२७१ श्लोक की बात ही क्या कहना! गजब की बात और गजब का भाव है! उसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद को वचनभेद कहकर कितना गहराई का तल बताते हैं।

(१३०८)

ज्ञानी के व्यवहार के वचन पकड़कर अज्ञानी, अज्ञान का पोषण करता है। गजब है न? ज्ञानी के वचन, अज्ञान में कभी भी पोषक होते हैं? होते ही नहीं।

(१३०९)

नियमसार, परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार में अनुमोदना का बोल गजब का है। करूँ नहीं, कराऊँ नहीं परन्तु अनुमोदना, अर्थात् ऐसा होवे तो ठीक, केवलज्ञान होवे तो ठीक, कर्म जाये तो ठीक - ऐसी सूक्ष्म पर्यायबुद्धि का निषेध कराया है। एक कार्य के दो कर्ता नहीं होते। पुद्गलकर्म को शुद्धपर्याय का कर्ता कहकर... मैं उसका कर्ता नहीं – ऐसा सिद्ध किया है।

(१३१०)

ज्ञान भेद को ग्रहण नहीं करता और अभेद को नहीं छोड़ता। ऐसी एक अपूर्व स्थिति आवे, तब निर्विकल्पध्यान में आनन्द का अनुभव होता है। राग को छोड़ता नहीं है, राग को ज्ञान में ज्ञेय बनाना छोड़ दूँ - ऐसा भी वस्तुस्थिति में नहीं है। यह तो समझाने के लिये है। रागादि का दृष्टि में से त्याग कर और ज्ञायक को ग्रहण कर - ऐसे ग्रहणपूर्वक त्याग की विधि समझाने के लिये है। कौन किसे छोड़े और कौन किसे ग्रहण करे? इस ज्ञायक को मैं ग्रहण करूँ, वहाँ तो भेद उत्पन्न हो जाता है। दो आत्मा नहीं हैं... जिससे कौन सा आत्मा, किस आत्मा को ग्रहण करे? राग को जानना छोड़ता हूँ; अब भगवान आत्मा को अनुभव करने के लिये ग्रहण करता हूँ – ऐसे ग्रहण और त्याग से भगवान आत्मा शून्य है। जैसा है, वैसा है। यह तो त्यागोपादान की शून्यत्व की पराकाष्ठा है। आत्मा को ग्रहण करना, यह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। त्याग भी नहीं है और ग्रहण भी नहीं है, क्योंकि अपोहकस्वरूप है।

(१३११)

नियमसार गाथा १४ में कहा, वह ठीक ही है। **परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः** जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो वह पर्याय। कारणपरमात्मा, उसके सामने कार्यपरमात्मा। स्वभावपर्याय के दो भेद किये, स्वभाव अनन्त चतुष्टय के साथ तन्मयरूप से पारिणामिकभाव की परिणति। अगुरुलघुगुण की पर्याय को स्वभावपर्याय कहते हैं। प्रदेशत्वगुण की व्यंजनपर्याय, बाकी के गुणों की अर्थपर्याय। पण्डितजी ने फुटनोट में जो लिया है, वह यथार्थ है। अब परमपारिणामिकभाव अभेद होकर अभेदरूप से रहा है। गुणी में जो परमपारिणामिकभाव तन्मय है, वही गुण में तन्मय है। अब गुण में परमपारिणामिकभाव तन्मय है – ऐसा भेद किया तो वह कारणशुद्धपर्याय है; इसलिए कारणशुद्धपर्याय का ज्ञान करके, उसे समेटकर अन्दर में चले जाना। आत्मा का व्यवहार, आत्मा में होने पर भी, उसे उल्लंघ जा! उसे समेटकर अभेद में आ जा! क्योंकि भेद के लक्ष से भेद का निषेध कभी नहीं होता परन्तु अभेद

के लक्ष से भेद का निषेध होता है; इसलिए भेद को आगे करना योग्य नहीं है। भेद का स्वरूप समझकर, अभेद को आगे करने से भेद कहीं चले नहीं जाते परन्तु उनका लक्ष छूटता है और छूटता ही है।

(१३१२)

'निश्चय से पर को जानता हूँ' - ऐसी जिसकी व्यवहार श्रद्धा है, वह नाम-निक्षेप से भी जैन नहीं है। निश्चय से पर को नहीं जानता - ऐसी व्यवहार श्रद्धा जिसे हुई, वह नाम-निक्षेप से जैन है।

(१३१३)

अकेले निश्चय की बात 'ज्ञान ही ज्ञात होता है' इतना कहें, वहाँ तक अज्ञानी को चैन नहीं पड़ता; ज्ञेय भी ज्ञात होते हैं - ऐसा कहें, तब उसे चैन होता है। यह व्यवहारनय का पक्ष है।

(१३१४)

'सर्वथा शुद्ध हूँ' - ऐसे त्रिकाली द्रव्य पर नजर रखकर कहता है... इसलिए उसे एकान्त का दोष नहीं लगता। त्रिकाली द्रव्य तो सर्वथा शुद्ध है, उसमें सम्यक् एकान्त हुआ। कथंचित् शुद्ध, कथंचित् अशुद्ध, यह तो प्रमाण के द्रव्य की बात हुई।

(१३१५)

पंचाध्यायी में राग को मूर्तिक कहा है। इन्द्रियज्ञान का विषय मूर्तिक ही है। राग को इन्द्रियज्ञान जानता है; इसीलिए राग मूर्तिक है, यह न्याय कहा, यह तो अध्यात्म की पराकाष्ठा है।

(१३१६)

सविकल्प निश्चयनय के पक्ष में आवे, उसे विशेष का प्रबल निषेध आता है। व्यवहारनय का विषय मुझमें है ही नहीं न! व्यवहारनय का विषय मुझमें नहीं; इसलिए व्यवहारनय भी मेरे पास नहीं है। दूसरों को तो क्षणभर ऐसा लग जाता है कि यह क्या कहते हैं!? निश्चयनय की बात हजम करना मुश्किल है। लोगों को एकान्त है... एकान्त है... ऐसा ही लगता है... परन्तु वस्तु ऐसी है। क्या करें? वस्तु दो रूप होवे तो उसे प्रसिद्ध करने को दो नय होते हैं! क्योंकि विषय है तो विषयी भी है (परन्तु) वस्तु एकरूप होवे तो नय भी एक ही होगा न? जिसे हजम हो गया, उसका काम हो गया; उसका संसार गया। जिसने हजम किया, वह तो सत्पात्र जीव संक्षेप में 'भावि निर्वाण भाजनम्' है।

(१३१७)

ज्ञानी होने के बाद क्या होता है यह बात तो जानने की है। अज्ञानी को ज्ञानी कैसे होना? यह बात उपादेय की है। विशेष समझने जैसी यह बात है। पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में अज्ञानी, ज्ञानी कैसे होवे इस बात की ही मुख्यता आती थी। सम्यग्दर्शन को बाधक हो वह समस्त ही अभिप्राय छोड़ने योग्य है। समस्त व्यवहार निषेध करने योग्य है। व्यवहार के निषेध बिना निश्चय प्रगट नहीं होता। व्यवहार नहीं मारता परन्तु व्यवहार का पक्ष जीव को मार डालता है।

(१३१८)

बन्ध अधिकार, गाथा २७० में कहा है कि 'मैं पर को जानता हूँ' यह अध्यवसान है। प्रवचनसार, गाथा २३९ में इससे भी सूक्ष्म बात ली है 'छह द्रव्य, जो ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होते हैं, उस पर्याय का जाननेवाला मैं हूँ' यह भी भूल है। इसमें सम्यग्ज्ञान नहीं होता। कैसी गम्भीर बात! ज्ञेय के सम्बन्धवाले ज्ञान को अनुभव करता है, स्वाभाविक ज्ञान को अवलम्बता नहीं है। 'परज्ञेय को जाननेवाला वह मैं' इसमें स्व को जाननेवाला, 'वह मैं' चूक गया। बन्ध अधिकार में पर को जाननेवाला 'वह मैं' - इस भूल को तो उल्लंघ गया परन्तु पर सम्बन्धी ज्ञानपर्याय को

जाननेवाला मैं - वहाँ अटका। पर को जानने का भले बन्द किया परन्तु पर्यायार्थिकनय की आँख इसने खुली रखी है।

(१३१९)

समयसार, अजीव अधिकार में ऐसा बताया है कि अजीव को जीव मानना, वह मिथ्यात्व है। तू जिसे जीव मानता है, वह अजीव है। उत्तरोत्तर सूक्ष्म गाथाएँ हैं! अजीव अधिकार, समयसार में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट अधिकार है! वर्णादिक सर्वथा पुद्गल के परिणाम हैं और जीव सर्वथा परिणाम से रहित है। समस्त परिणाम को पुद्गल का कहा, उसमें से ऐसा निकला कि 'जीव को परिणाम होते ही नहीं।' (नियमसार) शुद्धभाव अधिकार में तो परिणाम, आत्मा में नहीं - ऐसा कहा। उसमें कोई ऐसा निकाल सकता है कि आत्मा में कथंचित् नहीं; जबकि अजीव अधिकार में जो कहा, उसमें तो कथंचित् लगा ही नहीं सकता। पुद्गलद्रव्य के परिणाम को कथंचित् कैसे कहा जाये? इसी प्रकार निर्विकल्पता हो, उसमें दृष्टि का विषय आया; दृष्टि के विषय में कथंचित् लागू पड़ता ही नहीं, क्योंकि दृष्टि निर्विकल्प है, सर्वथा निर्विकल्प है।

(१३२०)

प्रवचनसार, गाथा २३९ में 'पर को जाननेवाला मैं हूँ' - ऐसा मानता है तो भी उसमें ज्ञेय पर वजन नहीं देता, जबकि बन्ध अधिकार में तो ज्ञेय पर वजन देता है; इसलिए वह प्रमाण से बाहर है, जबकि पहला प्रमाण से बाहर नहीं जाता। 'मैं जाननेवाला हूँ' इतना तो इसने माना परन्तु किसका जाननेवाला? - उसमें इसने भूल खायी। पर को जाननेवाला... उसमें आया; उसमें उसे जरा सी मोहजाल बाकी है - ऐसा कहा है। इस जीव को जरा सी देशना मिल जाये कि 'पर को जाननेवाला तू नहीं, ज्ञायक को जाननेवाला तू है', इसमें पर्याय के निश्चय की बात आयी। फिर 'मैं ज्ञायक हूँ' इसमें द्रव्य के निश्चय की बात आयी तो उसमें उसका काम हो जाता है। इन डायरेक्ट पर को जानने पर भी परसन्मुखता ही रही।

(१३२१)

हमारे स्नेही पण्डित ने हम से कहा कि आप निश्चय के साथ थोड़ी व्यवहार की बात भी करो परन्तु मुझे यह नहीं रुचा; फिर मैंने इसमें से बीच का मार्ग निकाला कि पुण्य-पाप के परिणाम से मेरा आत्मा भिन्न है - ऐसा भेदज्ञान का विचार करना, वह व्यवहार है। कषाय से मेरा आत्मा भिन्न है - ऐसा बारम्बार विचार करने से अनुभव होता है।

(१३२२)

राग मेरा, यह मिथ्यात्व है। राग को जानता हूँ, यह मिथ्यात्व है।

राग जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है, वह मैं - यह मिथ्यात्व है। इसमें डायरेक्टरूप से राग को जानने का छोड़ा परन्तु इन-डायरेक्ट नजर राग पर ही है।

(१३२३)

आत्मदर्शन होने के बाद राग ऐसा लूखा होता है कि राग तुमको चिपकता नहीं... और उस राग से कर्म नहीं चिपकते; कर्म निर्जरित हो जाते हैं।

(१३२४)

द्रव्य-पर्याय के भेद दिखे ही नहीं तो श्रेणी चढ़ जाये। (ज्ञान की अपेक्षा से) द्रव्य-पर्याय अभेद है - ऐसा कहनेवाला प्रखर ज्ञानी है। अब कोई अज्ञानी उसे दृष्टि का विषय बनावे तो उसे मिथ्यात्व का दोष लगता है।

(१३२५)

परिणाम को जानने का निषेध नहीं है, उपादेयपने जानने का निषेध है। उपादेयपने पर्याय ज्ञात नहीं होती अर्थात् वह आँख बन्द ही है। उपादेयरूप से द्रव्य ज्ञात होता है, इसलिए वह एक ही आँख खुली है।

(१३२६)

दृष्टि के विषय में पर्याय को गौण करना - ऐसा है ही नहीं; दृष्टि के विषय में पर्याय है ही नहीं; फिर उसे गौण करने की बात ही कहाँ रहती है?

(१३२७)

चाहे जहाँ देखो, अनुभव की ऐसी ही विधि मिलेगी... परपरिणति के उच्छेद द्वारा... अन्दर में भेद को उल्लंघकर (कर्ता-कर्म आदि) भेदों की जो भ्रान्ति है, उसका नाश होने पर अनुभव होता है।

(१३२८)

हैदराबाद में पूज्य गुरुदेव ने फरमाया कि राग को जानना, अज्ञान है। परिणाम को करने का लोभ और जानने का लोभ, दोनों अनन्तानुबन्धी कषाय है। जैसे कषाय को जीतने योग्य है, वैसे इन्द्रियज्ञान को भी जीतने योग्य है। विषय और कषाय दोनों एक साथ जाते हैं, एक साथ मरते हैं।

(१३२९)

द्रव्य की महिमा करे, वहाँ तक शुद्धपर्याय जीती है; शुद्धपर्याय की महिमा करे (द्रव्य को दृष्टि में से छोड़ दे) तो शुद्धपर्याय मर जाती है। जिससे प्रेम हो, उसकी श्रद्धा भी धारावाही होती है।

(१३३०)

स्पेशल कर्ता-कर्म अधिकार, समयसार में ही है। कर्ता-कर्म का रहस्य समझे बिना कर्ताबुद्धि गलती नहीं तो टले तो कहाँ से? शुरुआतवाले जीवों को पहले कर्ता-कर्म अधिकार पढ़ने की मेरी खास हिदायत है।

(१३३१)

आत्मा केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से और परिणाम से रहित होने से वह जाननेवाला ही है। इसलिए करना, भोगना आत्मा के स्वभाव में ही नहीं है... ऐसा अकारक-अवेदक ज्ञायकभाव, वह द्रव्य का निश्चय है और उस ज्ञायक आत्मा को जानने के लिये ज्ञान की पर्याय में जो स्वपरप्रकाशकपना है, उसमें से पर को जानने का निषेध करके, अकेले स्वपरप्रकाशक ज्ञान द्वारा... जाननेवाला ही जानने में आता है, वास्तव में पर जानने में नहीं आता - यह ज्ञान की पर्याय का निश्चय है। यह दोनों निश्चय मिलें, तब स्वानुभव होता है।

(१३३२)

जैसे ध्येय में 'होना' नहीं है, वैसे अनादि-अनन्त ज्ञेय में भी 'होना' नहीं है। अभेद ज्ञेय अनादि-अनन्त है, वह निश्चय है; अभेद होता है, वह व्यवहार है। अभेद ज्ञेय अनादि-अनन्त है - ऐसा कहकर पराकाष्ठा कह दी है... कहने जितना सब कह दिया, थोड़ा कहा बहुत जानना।

(१३३३)

अभेद है, तो अभेद करना कहाँ है? अभेद है, वहाँ तो सब अभेद हो जाता है। 'अभेद हूँ' - ऐसे ज्ञान में आवे, उसकी ही पर्याय अभेद होगी; अभेद होता है परन्तु अभेद उस पर वजन चाहिए। समझाने के लिये ध्येय-ज्ञेय का भेद है, अनुभव के लिये नहीं। ज्ञेय में भेद पड़े तो सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अनुभव में ध्येय-ज्ञेय का भेद नहीं दिखता तो चौदह गुणस्थान तो कहाँ से दिखेंगे? उन्हें तो पुद्गल का परिणाम कहा है।

(१३३४)

जाननेवाला जानने में आता है → इसमें दो प्रकार के व्यवहार का निषेध सहज आ जाता है। जाननेवाला जानने में आता है → एक वाक्य में सब सार है, लम्बा करोगे तो फिसल जाओगे। भेद-प्रभेद को जानने की जिज्ञासा रखने योग्य नहीं है। यह तो महामन्त्र है।

(१३३५)

(जाननेवाला) नहीं जानने में आता - इसका ही प्रवाह रहेगा तो अनुभव नहीं होगा। 'जाननेवाला जानने में आता है' → प्रवाह बदल दे तो अनुभव होगा।

(१३३६)

सर्वांश पराधीनता अच्छी नहीं है। अन्दर चिन्तवन-मनन करके बैठाने का प्रयत्न करना। वास्तव में जितने प्राप्त हुए हैं, उतने स्वाधीनता से ही प्राप्त हुए हैं। पराधीनता में सूक्ष्म निमित्ताधीन दृष्टि हो जाती है। अकेली स्वाधीनता का यह मार्ग है; इसलिए आचार्यदेव ने फरमाया है –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अवस्येवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

(१३३७)

जाननेवाला जानने में आता है → इसमें सब समाहित हो गया। इससे अधिक जानने की इच्छा मत कर।

(१३३८)

स्वदया पालना हो तो → ज्ञान में आत्मा ज्ञात होता है - ऐसे भेद को निकाल दे। ज्ञान आत्मा को जानता है → इसमें भी समकित नहीं होगा... क्योंकि वह दो रूप नहीं, अभेद ज्ञेय है। आत्मा में ज्ञान है → तो आत्मा का स्वाद चला जाता है। आत्मा में ज्ञान नहीं → भेद को उल्लंघने की यह विधि है। ज्ञायक है, वह ज्ञानपर्याय से सर्वथा भिन्न है और ज्ञान है, वह ज्ञायक से कथंचित् अभिन्न है। श्रद्धा, परिणाम को अभावरूप स्वीकार करती है, तब ज्ञान उसे गौण करके जानता है, विरोध जैसा लगे परन्तु अविरोध है, विरोध है ही नहीं।

(१३३९)

उपयोग लक्षण, वह दिव्यज्ञान है, क्योंकि वह परावलम्बी नहीं है; परम स्वाधीन है। विवक्षा का अभाव नहीं करो, तब तक 'उपयोग लक्षण' ख्याल में नहीं आता।

(१३४०)

समकित होने के बाद भी गिर जाता है, क्योंकि निश्चय ज्ञेय की अपेक्षा व्यवहार ज्ञेय का अहोभाव अधिक आ जाता है। सूक्ष्म बात → व्यवहार की बात से समकित से भ्रष्ट हो जाता है।

(१३४१)

देव-शास्त्र-गुरु तो ज्ञेय नहीं, यह बात तो जाने दे! यह तो प्रमाण में रहा हुआ (गुणस्थान आदि) वह सूक्ष्म अजीव है, उसे तू ज्ञेय मानने लगा, वह भी भूल है।

(१३४२)

सम्यग्दर्शन का काल पकता है, तब अन्त में निश्चयनय का विकल्प उसे रह जाता है, उसका नाम ज्ञान नहीं, अज्ञान है, क्योंकि नय है, मन का धर्म है, ज्ञान का धर्म नहीं, नय के सहारे बिना द्रव्य पर सीधे नजर लगा दे... तो नय का विकल्प छूटकर अनुभव हो, नयातीत अवस्था हो। आत्मा, समस्त नयराशि का अविषय है। नय है, वह मानसिक रोग है, जब नय अस्त पावें, तब स्वाभाविक ज्ञान उदित होता है।

(१३४३)

संसार-मोक्ष की सिद्धि करने पर भी समकित नहीं होता, क्योंकि सापेक्ष में आया तो समकित कहाँ से होगा!? जिसमें संसार- मोक्ष नहीं-ऐसे निरपेक्ष को देख तो मोक्ष हो जायेगा। जहाँ संसार छूटने का काल आया, वहाँ सापेक्षता में अटक गया।

(१३४४)

व्यवहारनय तो स्वभाव का इशारा नहीं करता; अपितु भेद को बतलाता है। जबकि निश्चयनय तो स्वभाव का मात्र इशारा करता है। ऐसे निश्चयनय से भी अनुभव नहीं होता। निश्चयनय हरिजन है, वह अन्दर तक नहीं आता। जैसे चपरासी, चक्रवर्ती तक नहीं आता उसी प्रकार।

(१३४५)

टुकड़े क्यों करते हो? तू द्रव्य पर्याय को अभिन्न मानकर बैठा है इसलिए।

(१३४६)

मार्मिक बात – निश्चयनय शुद्ध ज्ञान भी नहीं और शुद्ध ज्ञेय भी नहीं (पंचाध्यायी, भाग-१, गाथा ५०६)

(१३४७)

इतना विचार → ज्ञेय भले झलकें परन्तु इस ज्ञान का सम्बन्ध ज्ञेय के साथ है या आत्मा के साथ?

(१३४८)

ज्ञान का स्वभाव, पर का लक्ष करने का नहीं है, वैसे स्व का अवलम्बन छोड़ने का भी नहीं है... स्व का अवलम्बन होने पर भी, अर्थात् स्व ज्ञात होने पर भी, पर ज्ञात होता है - ऐसा मानकर भटकता है।

(१३४९)

पर के साथ कर्ता-कर्म की बात तो है ही नहीं; ज्ञाता-ज्ञेय के व्यवहार को भी अभी समाप्त करना है।

(१३५०)

बहुत ऊँची बात → ज्ञेय प्रतिभासित होता है, तब ज्ञान को ज्ञेय का अवलम्बन नहीं है; यदि ज्ञेय का अवलम्बन होवे तो ज्ञान जड़ हो जाता, अज्ञान नहीं।

(१३५१)

दृष्टि के विषय को ज्ञान में कैसे लेना - यह बात छठवीं गाथा के दूसरे पैराग्राफ में बताते हैं। ज्ञेय का सम्बन्ध बताकर, फिर सम्बन्ध तुड़ाकर ज्ञायक का अनुभव कैसे हो यह बताते हैं।

(१३५२)

'ज्ञायक' यह महाविदेह का शब्द है। बारह अंग का संक्षिप्त तो 'ज्ञायक' है।

(१३५३)

निश्चय से मैं ऐसा हूँ → तू वहीं का वहीं है, निश्चय का पक्ष अनन्तानुबन्धी कषाय है।

प्रश्न : हाय, हाय! निश्चय का विकल्प भी जहर?

उत्तर : यह तो विकल्प है, इसमें कहाँ ज्ञायक आया?

प्रश्न : निश्चयनयावलम्बी भी मिथ्यादृष्टि कैसे?

उत्तर : क्योंकि वह भी विकल्प में ही अटका है; विकल्प के साथ की कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति ऐसी की ऐसी रही।

(१३५४)

निश्चयनय से न जाने अर्थात् निश्चयनय के विकल्प द्वारा आत्मा को न जाने। यदि निश्चयनय के बिना आत्मा को न जाने तो एकेन्द्रिय में भी स्व-पर की ज्ञप्ति तो कही है तो वह सूत्र मिथ्या ठहरेगा, अर्थात् आत्मा को निश्चयनय बिना का जान! यदि नय साधन हो तो नय में अनुभूति होनी चाहिए; इसलिए नय है, वह कचरा है। नय के कचरे में आत्मारूपी हीरा खो गया है।

(१३५५)

कारणशुद्धपर्याय में उत्पाद-व्यय नहीं है, वह स्वयं ध्रुवरूप है; वह दृष्टि के विषय में में आती है। देवलाली से प्रकाशित हुए गुरुदेवश्री के नियमसार के अन्तिम प्रवचन 'प्रवचन रत्न चिन्तामणि' का स्वाध्याय करने से कारणशुद्धपर्याय का स्वरूप ख्याल में आ जायेगा।

(१३५६)

यदि निश्चयनय से अकर्ता कहोगे तो दोष आयेगा। केवली को या एकेन्द्रिय जीव को नय नहीं है... तो उनका आत्मा कर्ता बन जायेगा! स्वभाव की व्याख्या क्या? जिसे पर की या नय की अपेक्षा न हो, उसे स्वभाव कहते हैं।

(१३५७)

अनुभव तो सरल में सरल है। वह आत्मा का स्वभाव है, क्योंकि प्रकाश शक्ति है, इसलिए आत्मा परोक्ष नहीं रहता... ऐसा आत्मा का मूलस्वभाव है।

(१३५८)

काल पके, तब इसे पता पड़े कि प्रमाण में विधि-निषेध तो आये नहीं तो प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी। निश्चयनय ने दो काम किये (१) व्यवहार का पक्ष छुड़ाया... और (२) आत्मा का अनुभव नहीं कराया। 'जेऊ जहाँ साधक है, तेऊ तहाँ बाधक है;' इसलिए आत्मा समस्त नयराशि का अविषय है... अर्थात् ज्ञान का विषय है।

(१३५९)

दो अंश प्रगट होते हैं, इसलिए तो संसार है, तो भी दूसरे अंश का अभाव नहीं हुआ, इसलिए तो मोक्षमार्ग मिल जाता है।

(१३६०)

ज्ञान से ज्ञायक है तो अभेद परन्तु इसे अभेद का विश्वास नहीं। यहाँ मान्यता में भेद डालता है; इसलिए इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् भेद का अनुभव रह गया।

(१३६१)

भेद में पर का अवलम्बन छोड़ने की ताकत ही नहीं है; अभेद में पर का अवलम्बन लेने की ताकत ही नहीं है; इसलिए अभेद हुए बिना पर से भिन्नता नहीं होती।

(१३६२)

एक आत्मा ही है, इसमें ही अनुभव का विषय है और इसमें ही अनुभव है। दृष्टि में भी पूरा आता है और ज्ञान में भी पूरा आता है, इसलिए पूरा तो पूरा है, उसमें ध्येय-ज्ञेय समाहित हो जाते हैं। यह बात समझ में आयेगी तो अनुभव होगा।

(१३६३)

यह मैं स्वयं ही जाननेवाला हूँ। जो अपरिणाम से है न, उसे स्वयं को ऐसा लगता है कि स्वयं परिणामी हो! परन्तु स्वानुभवदशा में यह अपरिणामी, परिणामी - ऐसा कोई नाम नहीं रहता। सब नाम धुल जाते हैं। यह मैं स्वयं ही जाननहार हूँ → इसका वाच्य तो विकल्पातीत है।

(१३६४)

प्रश्न : हमें अहम् किसमें करना?

उत्तर : तुम अहम् करनेवाले हो ही नहीं। मैं स्वयं अहम् का वाच्य जाननहार ही - इतना कहा जा सकता है, बाद का सब अन्दर समझा जा सकता है।

(१३६५)

अपरिणामी, परिणामी को क्रम से देखोगे तो विकल्प होगा, ज्ञान अक्रमिक होता है, क्योंकि वस्तु अक्रमिक है, विकल्प से देखोगे तो विरोध लगेगा, ज्ञान से देखने पर अविरोध लगेगा।

(१३६६)

ज्ञेय अनादि-अनन्त है, यह भी खूब समझने जैसा है। यह बात समयसार गाथा १७-१८ में कही है, ऐसा अनादि-अनन्त ज्ञेय है, वैसा ख्याल में आने पर सादि-अनन्त ज्ञेय हो जाता है। ज्ञेय का अभेदपना ख्याल में आने पर दृष्टि और ज्ञान का लक्ष, भगवान आत्मा हूँ - ऐसा वहाँ एकाग्र हो जाता है और अभेद हो जाता है।

(१३६७)

जीव, पुद्गल के बन्ध पर्यायरूप दृष्टि से देखने में आवे तो नव तत्त्व दिखते हैं; जीव को देखने से बन्ध-मोक्ष दिखते ही नहीं, क्योंकि ध्येय में तो थे ही नहीं और ज्ञेय हुआ, उसमें भी नहीं।

(१३६८)

श्रद्धा के विषय में गुणभेद करे तो मिथ्यात्व का दोष आता है तथा ज्ञेय में भेद करो तो ज्ञान का दोष आता है। अभेद है, उसमें अभेद करना क्या है? आन्तरिक दृष्टिवाले को ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक है। अभेद होता है परन्तु परिणामी पर वजन नहीं चाहिए।

(१३६९)

कैसा है सूर्य? प्रकाश से सर्वथा भिन्न है, परन्तु प्रकाश है, वह सूर्य से कथंचित् अभिन्न है।

(१३७०)

ज्ञायक अभेद है, यह निश्चय कोई अपूर्व है। अभेद होता है, यह निश्चय भी कोई अपूर्व है; दोनों अभेद में विकल्प की उत्पत्ति की गुंजाइश ही नहीं रहती।

(१३७१)

सर्वोत्कृष्ट वस्तु बाहर आयी... ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। ज्ञायक तो एक ही है।

(१) ध्येयरूप ज्ञायक → परिणाममात्र से सर्वथा भिन्न है, और अनन्त गुणमयी है।

(२) ज्ञेयरूप ज्ञायक → वह ज्ञायक को ही जाननेरूप परिणमता है, दोनों अभेद हैं, इन दोनों अभेद को अलग-अलग अच्छी तरह समझना चाहिए। फिर कहते हैं - दो को समझकर एक ज्ञायक को ही अनुभवो। अभेद ज्ञेय कहकर पराकाष्ठा कह दी... कहने जैसा सब कह दिया।

(१३७२)

बाहर से तत्त्व प्राप्त करने के भाव में खेद होना चाहिए। इन्द्रियज्ञान रुकता नहीं उसका कारण यह है → निमित्त से प्राप्त करने की भावना। उपादान की ओर ढले तो इन्द्रियज्ञान का व्यापार रुक जाता है।

(१३७३)

सुनना जरा! अनादि-अनन्त ज्ञेय में राग नहीं है, जरा ध्यान से सुनना! इस ज्ञेय में नवतत्त्व नहीं है, यह टॉपमोस्ट बात है। ऊँचे में ऊँची बात है।

(१३७४)

धर्मास्तिकाय को जानता है, वह → ज्ञान की भूल है। धर्मास्तिकाय ज्ञात होता है → वह ज्ञेय की भूल है।

(१३७५)

जिसे आत्मा के दर्शन की अभिलाषा हुई हो, उसे उसका श्रद्धान प्रगट करना चाहिए कि मुझे ज्ञायक ही ज्ञात होता है; परपदार्थ मुझे ज्ञात ही नहीं होते। पर को जानना, वह व्यवहार है; उस व्यवहार का निषेध आना चाहिए। व्यवहारनय के विषय का निषेध करना, यह बहुत बलवान जीव का काम है।

(१३७६)

ऐसा कहना पड़ता है कि विशेष को गौण करो! वरना विशेष को देखना बन्द कर दे! पुरुषार्थ का घात हो, तब विशेष को देखने की चक्षु खुलती है।

(१३७७)

अनुभव का विषय समझने जैसा है। दूसरा ज्ञान की पर्याय का निश्चय क्या? और ज्ञान की पर्याय का व्यवहार क्या? यह समझने जैसा है।

(१३७८)

परज्ञेय को जानने से ज्ञान और ज्ञेय का भेद दिखता है। मेरे ज्ञान में मेरा शुद्धात्मा ज्ञात होता है, यह भेद भी बाधक है तो पर ज्ञात होता है, यह तो कहीं रह गया! मैं ज्ञान और मैं ज्ञेय - इस आँगन में आ गया, इस भेद को उल्लंघने से अनुभव होता है; पर को जानने की प्रवृत्ति, वह स्वच्छंदता है - ऐसा इष्टोपदेश, गाथा २१ में है।

(१३७९)

जीव एक समय भी राग का कारण बने तो एक समय, वह सर्व समय हो जाता है। कारण उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में कार्य हो ही; दुःख के कारणरूप आत्मा को श्रद्धा में लिया है, वह मिथ्यात्व है। सुखरूप आत्मा, दुःख का कारण कहाँ से होगा? प्रकाश, अंधकार का कारण कहाँ से होगा? अमृत, जहर का कारण कहाँ से होगा?

(१३८०)

आनन्द का अनुभव आवे, फिर ज्ञान अपना ज्ञेय बदलाता ही नहीं; जो उपयोग बदलता है, वह उपयोग ज्ञानी का नहीं; ज्ञानी का ज्ञान तो फिरता ही नहीं, वह तो अफर होता है।

(१३८१)

ज्ञान की पर्याय का ज्ञायक को अभेदरूप से जानने का स्वभाव है, यह बात जँचेगी तो किनारे आ गया समझना। अनुभव के बाद भेद को जानना, वह भी विभाव है। अभेद को जानने का ही ज्ञान का स्वभाव है। अभी से निर्णय करो कि समकित होने के बाद भी मुझे अभेद को ही जानना है; भेद को जानना ही नहीं।

(१३८२)

नयज्ञान क्रम से होता है, प्रमाणज्ञान अक्रम से होता है; नयज्ञान में हेय-उपादेय होता है, क्योंकि उसमें क्रम पड़ता है, प्रमाण में क्रम नहीं पड़ता; इसलिए उसमें हेय-उपादेय नहीं होता।

(१३८३)

जैसे-जैसे मार्ग का रहस्य ख्याल में आता जाता है, वैसे-वैसे अकेला मौज माने, उसे किसी कम्पनी की जरूरत नहीं पड़ती।

(१३८४)

निश्चय से कथंचित् पर्याय ज्ञात होती है, तथा व्यवहार से कथंचित् पर ज्ञात होता है - ऐसे प्रमाण को गौण करके, निश्चय में लाये कि तेरी ज्ञानपर्याय ही ज्ञात होती है। अब है अन्दर आना सरल है।

(१३८५)

स्वपरप्रकाशक भी कथंचित् (निश्चय और व्यवहार) है। यह तो कोहिनूर का हीरा है (नियमसार, १५९ गाथा)।

(१३८६)

पर्याय को देखना बन्द कर दे! आत्मा को स्पर्श कर जाये, ऐसी बात है। द्रव्य-पर्याय दोनों को देख – ऐसा पहले नहीं कहा। अन्दर के निश्चय परप्रकाशक को छोड़कर, अकेले स्व को देख! पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने में नयपूर्वक प्रमाण है, फिर टिकने में प्रमाण की या नय की कोई अपेक्षा नहीं है।

(१३८७)

निर्विकल्प अनुभव में तो भेद या पर ज्ञात नहीं होता; सविकल्प में भेद ज्ञात होता है, परन्तु रुचि नहीं है। भेदज्ञान की वीणा बजती है, रुचि के कान खुले होंगे, उसे सुनायी देगी।

(१३८८)

नहीं जानने का जानने लगा (विशेष, परपदार्थ) सामान्य जानने का रह गया; इसलिए अनादि मिथ्यादृष्टि को विचारना चाहिए कि मैं पर को जानता हूँ, स्व-पर को जानता हूँ या स्व को ही जानता हूँ → इन तीन में से किस बात को आगे करने से अनुभव होगा, यह विशेष विचारना।

(१३८९)

अनुभव के पहले सविकल्पदशा में प्रथम प्रमाण और फिर नय होते हैं, क्योंकि वहाँ पर से भिन्न पड़ना है। निर्विकल्प होने के लिये पहले नय और फिर प्रमाण होता है, क्योंकि वहाँ व्यवहार का निषेध करना है।

(१३९०)

(१) पर ज्ञात होता है → पराश्रित व्यवहार। इसमें इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है।

(२) ज्ञान से आत्मा को जानता हूँ, यह भेदाश्रित व्यवहार है।

(३) मैं ज्ञायक हूँ → इसमें ज्ञानपर्याय का निर्विकल्प निश्चय प्रगट हुआ।

(१३९१)

अभी थोड़े विशेषों को जान लूँ, फिर सामान्य को जानूँगा - ऐसे अभिप्राय में ज्ञान खिलता नहीं है; ज्ञेय (इन्द्रियज्ञान) प्रगटता है, अर्थात् इन्द्रियज्ञान प्रगट होता है। ज्ञान तो आच्छादित हो जाता है।

(१३९२)

अन्तरमंथन करे तो शुद्धनय का पक्ष आवे। अनुक्रम में आया नहीं, इसलिए शुद्धनय का पक्ष आया नहीं। अनुक्रम में आयेगा, तब उसे आत्मा को जानने का प्रेम जगेगा... और व्यवहार के निषेध का बल आयेगा... 'मैं' परिणाम को जानता नहीं, इसका नाम व्यवहार का निषेध है।

(१३९३)

निमित्त नहीं ज्ञात होता, इसमें नैमित्तिक पर्याय नहीं ज्ञात होती, यह भी आ गया। सीधे जाननेवाला ज्ञात होता है - ऐसा आया। निमित्त नहीं, नैमित्तिक पर्याय ज्ञात होती है – ऐसा बीच में एक स्टेज देते हैं, अत्यंत स्थूलता में पड़े हुए को एक आलंबन (step) देना पड़ता है। वरना निमित्त नहीं ज्ञात होता - ऐसा कहने से, जाननेवाला ही ज्ञात होता है - ऐसा सीधा आ जाता है।

(१३९४)

होता है, उसे करना - यह तो अत्यन्त अज्ञान है। होता है, उसे जानना – ऐसा अभिप्राय रखा करेगा तो वह आकुलता करेगा। अब क्या होगा... अब क्या होगा ... ऐसी आकुलता रहा करेगी। 'है' उसमें निराकुलता होगी, क्योंकि सामान्य द्रव्य एकरूप है, उसमें नया-नया होनापना नहीं है; इसलिए नया क्या होगा? ऐसी आकुलता नहीं है; इसलिए निराकुलता होगी।

(१३९५)

द्रव्य को देखने के पश्चात् पर्याय को देखने की छूट दी, पर को देखने की नहीं, क्योंकि पर में से पराङ्मुख होना कठिन पड़ेगा। निर्विकल्पता देरी से आयेगी... परन्तु पर्याय को जानने में से तुरन्त द्रव्य की ओर चला जायेगा। सामान्य-विशेष को देखने की लक्ष्मण रेखा से बाहर मत जाना।

(१३९६)

सामान्य को देखने की रुचि तो कर! देखने में भले देरी लगे। मुझे मेरे सामान्य को देखना है - ऐसी तीव्र रुचि तो ला!

(१३९७)

प्रथम आत्मा को जानना। पहले भेद-प्रभेद से आत्मा को समझ! उसमें इतना लक्ष रखना कि प्रथम जानने का है, उस सामान्य को मैं पीछे रखता हूँ और बाद में 'करने का है', उसे मैं पहले करता हूँ - ऐसा लक्ष रखेगा तो आत्मदर्शन होगा।

(१३९८)

पर का करना, वह विभाव है - ऐसा तो पूरा जगत स्वीकार करता है। पर को जानना भी विभाव है - ऐसा तो कोई विरला ही स्वीकार करता है।

(१३९९)

अज्ञानी को भी उपयोग में ज्ञायक तो बिना उपयोग दिये ज्ञात हुआ ही करता है। पर को जानने में उपयोग लगाना पड़ता है। उपयोग बदले, फिर भी विषय बदलता ही नहीं, ज्ञायक ज्ञात हुआ ही करता है।

(१४००)

पर को जानने की तो मेहनत करनी पड़ती है, क्योंकि वह विभाव है; ज्ञायक तो बिना मेहनत ज्ञात हुआ करता है। वह 'मैं' - ऐसा आ जाये तो अनुभव हो जाये। राग विभाव होने से बलजोरी से पैदा होता है, वैसे ही इन्द्रियज्ञान पैदा करने में बलजोरी करनी पड़ती है।

(१४०१)

हे केवली परमात्मा! पर को जानने का तुम्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता; वैसे मैं भी बिना प्रयत्न के जानता हूँ। प्रयत्न करके जानने का मेरा स्वभाव नहीं है। अभिलाषापूर्वक का जानना विषय है। चौबीसों घण्टे केवली आत्मा को जान ही रहे हैं। तुम पर को जानने के लिए उपयोग नहीं घुमाते तो मैं क्यों पर को जानने के लिए उपयोग घुमाऊँ? मैं तो अपने आत्मा को सादि अनंतकाल जाना करूँगा। इच्छा होती है तब ही उपयोग घूमता है। पर को जानने का स्वभाव नहीं होने से उपयोग वहाँ टिकता नहीं है। पर को जानने की इच्छा करनी पड़ती है इसलिए वह स्वभाव नहीं है।

(१४०२)

जब सामान्य जीवतत्त्व को सिद्ध करना हो, तब शुद्धपर्याय भी पुद्गल का परिणाम है; ममता छोड़ने के लिये ऐसा कहा है। क्षायिकभाव में मिठास रह जाती थी कि मुझे केवलज्ञान हो तो ठीक, यह छुड़ाने को पुद्गल का परिणाम कहा है।

(१४०३)

सविकल्प नय, वह निर्विकल्प नय का वास्तव में कारण नहीं है, क्योंकि वह मिथ्यात्व के परिणाम सहित का विकल्प था... वहाँ तक हाथ में कुछ नहीं आया। वह होता है सही और फिर उसका अभाव होकर (सम्यक्त्व) भी होता है...परंतु उसे आगे करने जैसा नहीं है। यदि उसे आगे करे तो व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रह जायेगा।

(१४०४)

पर को जानता नहीं - ऐसा भी कहना पड़ता है। ज्ञानी बिना, पर को जानने का निषेध कोई करा ही नहीं सकता, दूसरे की ताकत नहीं है। पुण्य से धर्म नहीं होता – ऐसा तो कोई अज्ञानी कहे! परन्तु पुण्य को जानने का बन्द कर, यह कठिन बात है।

(१४०५)

(आत्मा) रागादि विकार का कथंचित् करता है, वैसा स्वरूप में नहीं है। सर्वथा अकर्ता है। अभी तक किसी आत्मा ने राग को किया नहीं, यदि कुम्हार, घट का कर्ता हो तो आत्मा राग को करे! अपूर्व बात है। रागादि विकार को निश्चय परमात्मा, निश्चयनय से करता नहीं और व्यवहारनय से भी करता नहीं। यदि उसका अकर्तापना रखना हो तो स्वाश्रित निश्चयनय से ज्ञान को वह करता है। स्वभावदृष्टि से, अर्थात् निश्चयदृष्टि से देखने पर ज्ञान को भी व्यवहारनय से करता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह उपचार से भी ज्ञान को करता नहीं है। यह एकदम सूक्ष्म बात है। आत्मा व्यवहार से ज्ञान का कर्ता है, इतना कहने में भी दृष्टि के विषय में मचक आ जाती है। इसलिए दृष्टि के विषय का ज्ञान करने को उपचार से भी कर्ता नहीं - ऐसा कहा जाता है।

(१४०६)

कलश-टीका में २७१ श्लोक है। स्वसंवेदन (वेद्य-वेदक) बस, तुझे तेरा अभेद भाव से वेदन। ज्ञान का विषय ही इतना (स्व) है, यही उसका कार्य है, उस पर गहराई से विचार करना... तुम्हारा काम हो जायेगा! ध्येय और ज्ञेय की बात जैसे मूल है, वैसे यह बात भी मूल है। स्वसंवेदन, अर्थात् सम्यक् प्रकार से स्व का संवेदन, वेदन वह सम्यग्ज्ञान है। स्वसंवेदन = स्वप्रकाशक। ज्ञान का यही यथार्थस्वरूप है और यह ही यथार्थता की पराकाष्ठा है।

(१४०७)

'मात्र जानना' अभेदरूप से वह निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान है। ज्ञेय को, भेद को जानना, वह सविकल्प सम्यग्ज्ञान है, यह बात बहुत ही महत्त्व की है।

(१४०८)

समयसारजी शास्त्र ६, ११, १४, १७–१८, १४४, १८६, और प्रवचनसार की गाथा ११४, सबमें से यही बात निकलती है कि 'प्रथम आत्मा को जान!' यह सब गाथाएँ अत्यन्त मार्मिक गाथाएँ हैं।

(१४०९)

अकर्ता हूँ और ज्ञायक का ज्ञाता हूँ, यह बात ऊँचे में ऊँची और परम सत्य की है। इसमें गहरे उतरने जैसा है। जीवन में इतनी बात मंथनपूर्वक जँचे तो निहाल हो जाये। इसमें बहुत माल भरा है। कर्तापना विजित हो जाये तो बहुत नजदीक आ गया है, ज्ञातापने में आ जायेगा और ज्ञायक का ज्ञाता बनेगा - इतना सारभूत है। इसमें तो बारह अंग का सार है।

(१४१०)

जिसे स्वप्रकाशक बैठता है, उसमें जिसे प्रमोद रहेगा, वह निश्चय में आ गया। वह निकट भव्य है - ऐसा मुझे लगता है।

(१४११)

अनेकान्त के पीछे पूरा जगत मर जाता है। यह अनेकान्त, नय और प्रमाण से साधा जा सकता है। 'अनेकान्तोऽपि अनेकान्तः प्रमाण नय साधनम्' सम्यक् एकान्त का समूह, उसका नाम अनेकान्त है। सम्यक् एकान्त को छोड़ेगा तो अनेकान्त होगा कहाँ से? निश्चय की बात मानने से एकान्त हो जायेगा तो! इसमें जीव फँस जाते हैं।

(१४१२)

जैसे दीवाल भिन्न है, वैसे राग भिन्न है - ऐसा जब तक भेदज्ञान का बल न आवे, तब तक अभेद, दृष्टि में नहीं आता।

(१४१३)

राग को लक्षण मानता हो, उसे कहा कि ज्ञान की पर्याय, वह लक्षण है। ज्ञान की पर्याय को ही लक्षण मानता हो, उसे कहा कि ज्ञानगुण लक्षण है। गुण को ही लक्षण मानता हो, उसे कहा कि लक्षण और लक्ष में भेद कहाँ है? वह तो नित्य तादात्म्यभाव से है ही।

(१४१४)

सम्यग्ज्ञान होने के बाद इन्द्रियज्ञान द्वारा पर ज्ञात होता है, उसमें चारित्र का दोष उत्पन्न होता है। वास्तव में पर ज्ञात होता है - ऐसा माने, तब तो श्रद्धा का दोष हो गया। जैसा स्वरूप है, वैसा लक्ष में तो लेना चाहिए न! परिणमन भले बाद में हो।

(१४१५)

'पर को जानता नहीं' इसमें पर का प्रतिभास नहीं होता - ऐसा नहीं कहा... परन्तु उस प्रतिभास को उपयोगात्मक न कर - यह कहना है।

(१४१६)

इस समयसार की मुख्यता किसलिए? कुन्दप्रभु का तीसरा नाम किसलिए? कि उसमें भेदज्ञान के मन्त्र भरे हैं। समयसार, गाथा १८१ में आता है कि 'सकल कर्मों के संवर का उपाय भेदज्ञान है...' इसलिए उसकी प्रशंसा करते हैं। भेदज्ञान महामन्त्र है। यह तो कुन्दप्रभु की महान देन है। भेदज्ञान की कीमत समाज में बहुत कम है। जितने सिद्ध हुए, वे सब भेदज्ञान के बल से ही हुए हैं। धरसेन आदि समस्त भावलिंगी सन्तों ने भेदज्ञान का ही मन्त्र दिया है।

(१४१७)

वास्तव में तो सबको ऊर्ध्वरूप से ज्ञान ही ज्ञात हो रहा है। अन्तर्लक्ष न होने से ज्ञान ही ज्ञात हो रहा है - ऐसा पता नहीं पड़ता।

(१४१८)

मुझमें रहे हुए भेद, वे भी मेरे ज्ञान का विषय नहीं हैं; मन का विषय है - ऐसा जानने से भेद का उत्साह शिथिल पड़ जाता है, अभेद का उत्साह अप्रतिहत बढ़ जाता है।

(१४१९)

पर को जानने से ज्ञान या सुख नहीं है। पर को जानने से महा आकुलता होती है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है - पर को जानने की इच्छा परिग्रह है। जानने के बहाने के पीछे भी इन्द्रियज्ञान प्रगट होता है।

(१४२०)

जिसने शुद्धात्मा के गहरे संस्कार डाले होंगे, उसे मरणकाल में शुद्धात्मा अग्र हो जाता है। अनुभव न हो तो भी! जितना समय तत्त्वचिन्तन में लगे उतनी कमाई है।

(१४२१)

नव तत्त्वरूप द्रव्य, वह ज्ञेय नहीं है। नव तत्त्व के भेद का राग भी ज्ञेय नहीं है, उसे जाननेवाली भावेन्द्रिय भी ज्ञेय नहीं है; केवल ज्ञायक ही ज्ञेय है। इसमें तो पूरा ज्ञेय बदल गया। ज्ञान, पर को नहीं जानता, इसमें तो पूरा ज्ञेय बदल गया। आहाहा! पर को जानने की कोई चक्षु है ही नहीं। पर्यायार्थिक चक्षु सर्वथा बन्द कर दे! इस विश्व में केवल एक ज्ञायक ही ज्ञेय है, एक ज्ञेय के सिवाय दूसरा कुछ ज्ञात नहीं होता, क्योंकि केवल...केवल... केवल... ज्ञानलोक ही दिखता है... इसलिए ज्ञान ही हमारा लोक है, चैतन्य लोक है।

(१४२२)

शुद्धनय के दो अर्थ - (१) दृष्टिप्रधान शुद्धनय, (२) ज्ञानप्रधान शुद्धनय। द्रव्यार्थिकनय से → अकर्ता होने से परिणाम को करता ही नहीं। पर्यायार्थिकनय → पर ज्ञात नहीं होता, जाननेवाले को जानता है। ज्ञानपर्याय है, वह गुणभेद को या पर्यायभेद को नहीं जानती। प्रवचनसार गाथा ११४ (में) पर्यायार्थिक चक्षु को बन्द किया है और शुद्धनय से द्रव्य को देखता है। अब शुद्धनय से ज्ञान की पर्याय का स्वरूप देखो! निश्चयनय से ज्ञान का स्वरूप स्व को ही जानने का है, उसे शुद्धनय कहते हैं। अन्दर में ज्ञानपर्याय का जो स्वपरप्रकाशक विभाग है, वह विशेष भाव है; इसलिए उसे जानने से अनुभव नहीं होता। शुद्धनय से देखने पर आत्मा अकर्ता दिखता है। शुद्धनय से सामान्य को अवलोकता हुआ, द्रव्य का ही ज्ञान होता है - ऐसा विश्वास आने पर, द्रव्यदृष्टि होती है अर्थात् जो ध्येयरूप से ज्ञेय है, वह ध्येय, उपादेयरूप ज्ञेय होता है। शुद्धनय का विषय ध्येय, उसमें तो शुद्धात्मा ही है परन्तु जानने के लिये भी ज्ञायक ही ज्ञेय है। इस प्रकार शुद्धनय स्वप्रकाशक ही है। उसका विषय शुद्धात्मा वह ही उपादेय है। आनन्द की पर्याय भी बहिर्तत्त्व है; अन्त:तत्त्व नहीं। त्रिकाली आत्मा ही अन्त:तत्त्व है।

(१४२३)

(नियमसार) गाथा १५ में कारणशुद्धपर्याय कही है। टीका में चार गुण लिये हैं, सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मक। साधक, सविकल्प अवस्था में आये हैं, तब उन्हें कारणशुद्धपर्याय पर कारणपने का उपचार किया जाता है। चौथे गुणस्थान में श्रद्धा पूर्ण हुई, बारहवें गुणस्थान में चारित्र पूर्ण हुआ, तेरहवें में केवलज्ञान और चौदहवें के अन्त अव्याबाध सुख प्रगट हुआ। निर्मल वीतरागी पर्याय प्रगट हुई, उसे आश्रय तो अभेद कारणपरमात्मा का ही है, तो भी पर्याय की पूर्णता एकसाथ नहीं होती। क्रम क्यों पड़ा? चौथे में श्रद्धा; बारहवें में चारित्र; तेरहवें में ज्ञान और अन्त में सुख-तो इसका कारण क्या? जिस-जिस गुण की पर्याय है, उस उस गुण प्रधान अभेद द्रव्य का आश्रय लेता है, तो इतना क्रम पड़ता है; जितना-जितना आश्रय लेता है, उतनी निर्मलता बढ़ती है। एक समय में एक साथ समस्त पर्यायें पूर्णतारूप नहीं परिणमती, उसका यह कारण है। दूसरे, साधक सविकल्पदशा में आता है, तब कारणशुद्धपर्याय पर कारणपने का आरोप आता है।

(१४२४)

'सर्व अवस्था ने विषे न्यारो सदा जणाय' - भावबन्ध और भावमोक्ष – इन सर्व अवस्थाओं से सदा न्यारा रहता है। न्यारा कब रहे? कि उसमय न हो तब। इसमें बारह अंग का सार है। सर्व अवस्था कहकर पर्याय है- ऐसा सिद्ध किया परन्तु भूतार्थनय से देखने पर एक ज्ञायकभाव ही प्रकाशमान है। **न्यारो सदा जणाय है।**

(१४२५)

प्रश्न : जाना हुआ प्रयोजनवान - ऐसा शास्त्र में आता है न?

उत्तर : उसे जानता है मन; और उपचार से कहा जाता है कि उसे आत्मा जानता है। आदर किया हुआ प्रयोजनवान हाथ में आवे, फिर जाना हुआ प्रयोजनवान यथार्थ कहलाता है।

(१४२६)

जल्दी सबेरे घूमने जा रहे थे... तब पूज्य गुरुदेव बोले- लालचन्दभाई! अभेद में भेद नहीं दिखता। आहा...हा...! ३७ वें श्लोक का सार कह दिया। गुरुदेव सब ही कह गये हैं। सब अनुभव प्रमाण करना।

निश्चयनय तो उपनय से रहित है। अभेद और अनुपचार जिसका लक्षण है और जो अर्थ का निश्चय कराता है वह निश्चयनय है। स्यात्पद से रहित होने पर भी उसमें निश्चयाभास नहीं होता, क्योंकि वह उपनय से रहित है।

उपनय के अभाव में स्यात्पद् का अभाव किस प्रकार होता है ? - ऐसा कोई पूछे तो कहते हैं कि स्यात्पद की प्रधानता से उपनय, व्यवहार का जनक है; जबकि निश्चयनय द्वारा उपनय का प्रलय प्राप्त करा दिया जाता है, तब निश्चयनय ही प्रकाशित होता है।

- आचार्य देवसेन विरचित, नयचक्र, पृष्ठ 31-32

प्रश्न : और वह शुद्ध स्वभाव कैसा है ?

उत्तर : वस्तुत: उत्पत्ति और व्यय के अभाव होने से तथा सर्व काल स्थायी रहने से वह शुद्ध स्वभाव नित्य है। इस प्रकार का शुद्ध स्वभाव जानकर तत्त्ववेत्ता भव्य पुरुषों को निरंतर ही उसका अनुभव करना चाहिए, यह इस गाथा का भावार्थ है।

- आचार्य देवसेन विरचित, तत्त्वसार, गाथा-8, पृष्ठ-30

अन्वयार्थ : शुद्ध निश्चयनय से न तो जीव में कोई शब्द है, न कोई चिन्ह है जिससे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जा सके, न उसमें क्रिया है, हलन-चलनादि है, न उसमें, निश्चय से कोई उत्पत्ति है न कोई व्यय है। वह तो ध्रुव शुद्ध है वह परम शुद्ध स्वरूप है। शुद्ध अर्थात् निश्चल तीन लोकमात्र असंख्यात प्रदेशी है, सर्व कर्म मल रहित है।

- जिनतारणस्वामी विरचित, न्याय समुच्चयसार, गाथा - 775

टीका : मैं एक हूँ; नर, नारक आदि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ।

- समयसार, गाथा 38 की टीका में से

टीका : अब जो पर्यायार्थिकनय से उत्पाद, व्यय से संयुक्त होने पर भी, द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद - व्यय से रहित है, उसी परमात्मा को जिनवर ने निर्विकल्प समाधि के जोर से देह में भी देखा है ऐसा कहते हैं ....

- परमात्मप्रकाश, गाथा 43 की टीका में से

टीका : सत्ता ग्राहक (द्रव्य की सत्ता को ही ग्रहण करनेवाला) शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से, पूर्वोक्त व्यंजन पर्यायों से मुक्त एवम् अमुक्त (सिद्ध और संसारी) समस्त जीवराशि सर्वथा व्यतिरिक्त ही है।

- नियमसार, गाथा 19 की टीका में से